रमण महर्षि

एव आत्म-ज्ञान का मार्ग

अरुणाचल के अवतार

भगवान् श्री रमण महर्षि इस शताब्दी के भारतवर्ष के अग्रणी आध्यात्मिक गुरु समझे जाते हैं। उनकी शिक्षाएं सर्वथा व्यावहारिक हैं। जिस ज्ञान-योग की वे शिक्षा देते हैं और जिसका वे जीवन मे आचरण करते हैं, वह ससार का सर्वथा परित्याग करने या उससे विमुख होने के लिए नही कहता। वह निरन्तर आन्तरिक जिज्ञासा पर बल देता है। 'मैं कौन हूँ?'—जो व्यक्ति इस रहस्य को जान जाता है, वह मुक्त हो जाता है। उनकी शिक्षा पूर्वी या पश्चिमी सभी जीवन-पद्धतियो के लिए उपयुक्त है, इसलिए वे सभी मतावलम्बियो मे लोकप्रिय हुए हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के अग्रेज़ लेखक श्री आर्थर आसबोन ने न केवल उस महर्षि के जीवन और शिक्षाओ को अकित किया है, अपितु एक पाश्चात्य के दृष्टिकोण से भारत मे आध्यात्मिक जीवन की सुन्दर झाँकी यहाँ प्रस्तुत की है। सादगी और आध्यात्मिकता के वातावरण से ओतप्रोत भारतीय आश्रम का सजीव चित्र उन्होने खीचा है। अरुणाचल की पवित्र पहाडी पर महर्षि के जीवन के विभिन्न पक्षो का उन्होने ऐसा यथार्थ चित्रण किया है कि पाठक पर महर्षि के व्यक्तित्व का अमिट प्रभाव पडे बिना नही रह सकता।

रमण महर्षि

एव आत्म-ज्ञान का मार्ग

लेखक

आथर आसबोन

भूमिका लेखक

डॉ० सवपल्ली राधाकृष्णन

राष्ट्रपति, भारत गणराज्य

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी

पुस्तक प्रकाशक एव विक्रेता आगरा-३

प्रधान कार्यालय
अस्पताल रोड, आगरा–३
शाखाएँ
चौडा रास्ता, जयपुर ● खजूरी बाजार, इन्दौर

प्रथम संस्करण जनवरी १९६७
मूल्य पाँच रुपये

अनुवादक वेदराज वेदालंकार

दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा

प्रकाशकीय वक्तव्य

गत वर्ष अपनी दक्षिण भारत की यात्रा के मध्य मुझे श्री रमण महर्षि के आश्रम मे जाने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ था। यद्यपि श्री रमण महर्षि का पार्थिव शरीर अब इस ससार मे नही है, तथापि उनका आध्यात्मिक प्रभाव आश्रम के वातावरण तथा आश्रमवासियों पर स्पष्ट रूप मे दृष्टिगोचर होता है।

आश्रम मे मेरा सम्पर्क एक हालैण्ड निवासी युवक श्री माइक लोग, जो अपनी आध्यात्मिक जिज्ञासा के कारण आश्रम मे आये हुए थे, से हुआ। उन्होंने मुझे इगलैण्ड से प्रकाशित, श्री आसबोर्न लिखित महर्षि का जीवन-चरित्र पढ़ने को दिया। इस पुस्तक से मैं इतना अधिक प्रभावित हुआ कि मेरे मन म तुरन्त ही यह प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई कि प्रस्तुत पुस्तक का हिन्दी सस्करण प्रकाशित किया जाय। मैं श्री आसबोर्न और उनकी धर्मपत्नी से जो आश्रम मे वर्षों से साधना-रत हैं, मिला और अपने सकल्प की चर्चा की। श्री आसबोर्न ने मुझे पुस्तक के हिन्दी अनुवाद के लिए प्रोत्साहित किया। अन्तत आश्रम के सभापति श्री टी० एन० वेंकटरमण ने इस ग्रन्थ के हिन्दी सस्करण के प्रकाशन की आज्ञा दे दी, जिसके लिए मैं उनका अत्यन्त अनुग्रहीत हूँ। प्रस्तुत पुस्तक उसी पावन सकल्प का परिणाम है।

महर्षि की शिक्षाओं का सार है 'मैं कौन हूँ' इस तत्त्व को पहचानो, परमात्मा को जानने से पहले स्वय को जानो, भूत और भविष्य के जजाल मे न पडकर वर्तमान को सँवारो। सुख और अमृत हमारे चारो ओर बरस रहा है। आवश्यकता है अन्तराभिमुख होने की।

प्रस्तुत पुस्तक के अध्ययन से यदि कोई अन्धकारावच्छन्न हृदय आध्यात्मिक प्रकाश से आलोकित हो सका तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा।

राधेमोहन अग्रवाल

विषय सूची

मैं उन पुराने भक्तो का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने पुस्तक की पाण्डुलिपि को पढा और अपने सुझाव दिये।

प्रस्तावना

भगवान् रमण महर्षि के शरीरान्त के थोड़े दिनों बाद, मैंने यह विचार व्यक्त किया था कि तिरुवन्नामलाई एक आध्यात्मिक केन्द्र के रूप में अवश्य ही रहेगा। महर्षि स्वयं उन लोगों की भर्त्सना किया करते थे जो यह चिन्ता व्यक्त करते थे कि उनके देहावसान के साथ उनका मार्ग-दर्शन समाप्त हो जायेगा। महर्षि व्यंग्यपूर्वक कहा करते थे, "आप लोग इस शरीर को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं।" और दुःख प्रकट करने वाले लोगों से वे कहा करते थे, "आप सोचते हैं कि मैं इस संसार से जा रहा हूँ, परन्तु मैं जा कहाँ सकता हूँ? मैं तो यहीं हूँ।" इसके अतिरिक्त वे जो कुछ कहते थे, उसमें उनका आन्तरिक विश्वास प्रकट होता था।

महर्षि को दिवंगत हुए आज पन्द्रह वर्ष होते हैं। हम अपने अनुभव से उन्हीं बातों की पुनरावृत्ति कर सकते हैं। पहले उस दिव्य ज्योति के दर्शनों के लिए और उनके सान्निध्य का लाभ उठाने के लिए सहस्रों व्यक्ति तिरुवन्ना-मलाई आया करते थे। इनमें से कुछ भक्त थे जिन्होंने अपना जीवन और भाग्य महर्षि के हाथों में समर्पित कर दिया था और उनके बताये मार्ग पर चलने का प्रयत्न कर रहे थे। अब भीड़ छँट गयी है, केवल भक्त-जन रह गये हैं। इन भक्त-जनों में और भी कई श्रद्धालु भक्त आकर सम्मिलित हो गये हैं, और सभी समान रूप से महर्षि की अनुकम्पा और उनके मार्ग दर्शन के प्रभाव को अनुभव करते हैं।

आजकल शान्ति की बहुत अधिक चर्चा है। प्रायः शान्ति का अर्थ युद्ध-निवारण और सुरक्षा की स्थिर स्थिति से अधिक कुछ नहीं है। भगवान् की शान्ति इससे बहुत भिन्न है, यह एक आन्दोलक शक्ति है जो हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व में विद्यमान है और यह अपार शान्ति की अवस्था है। यह हमारी कल्पना से नितान्त परे है। इसकी प्राप्ति से पूर्व यह मन-निर्मित समस्त बन्धनों को काट देती है और इसे शाश्वत सत्ता का पूर्वाभास हो जाता है। यही वह शान्ति है जिसे भक्तगण आज भी अरुणाचल पहाड़ी के प्रदेश में अनुभव करते हैं।

भूमिका

श्री रमण महर्षि के जीवन और शिक्षाओं के सम्बन्ध में श्री आसबोर्न रचित प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका लिखते हुए मुझे बहुत प्रसन्नता अनुभव हो रही है। इसका हमारे युग में, जिसमें उत्सुकता और पराङ्मुखता पर आधारित सन्देहवादी वृत्ति का प्राधान्य है, विशेष सम्बन्ध है। प्रस्तुत पुस्तक में आत्मा के धर्म का वर्णन है जो हमें मत और मिथ्या विश्वासों, धार्मिक रीति-रिवाजों और कर्मकाण्ड से मुक्ति प्रदान करता है और स्वतन्त्र आत्माओं के रूप में जीवन यापन करने के योग्य बनाता है। सभी धर्मों का सार सर्व आन्तरिक वैयक्तिक अनुभव और दिव्य सत्ता के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध है। यह पूजा कम और खोज अधिक है। यह तो अपने स्वरूप को पहचानने और मुक्ति का मार्ग है।

यूनानियों की विख्यात उक्ति 'अपने को पहचानो' उपनिषदों के 'आत्मानम् विद्धि' उपदेश से सम्बद्ध है। पृथक्करण की प्रक्रिया द्वारा हम शरीर, मन और बुद्धि की परतों को पार करके विश्व-आत्मा के दर्शन करते हैं। "यही वह वास्तविक प्रकाश है जो संसार में आने वाले प्रत्येक मानव को आलोकित करता है।" "शिव प्राप्ति के लिए हमें उच्चतम स्थिति पर पहुँचना होगा, उस पर अपनी दृष्टि स्थिर रखनी होगी और यहाँ नीचे उतरते वक्त हमें उसी प्रकार अपने परिधानों को उतार फेंकना होगा जिस प्रकार यूनानियों के धार्मिक अनुष्ठानों में जिन लोगों को देवालय के अन्ततम प्रदेश में प्रवेश का अधिकार मिल जाता है, अपने को शुद्ध करने के बाद प्रत्येक वस्त्र उतार फेंकना पड़ता है और बिलकुल नंगे होकर चलना होता है।"[1] हम उस अनन्त सत्ता में निमग्न हो जाते हैं, जिसकी कोई सीमा या निर्धारण नहीं है। यह शुद्ध सत्ता है, जिसमें एक वस्तु का दूसरे से विरोध नहीं होता। व्यक्ति अपने को सभी वस्तुओं और घटनाओं के साथ एकाकार अनुभव करता है। आत्मा को वास्तविक ज्ञान हो जाता है, क्योंकि इस पर वरीयताओं या विरक्तियों, इच्छाओं या अनिच्छाओं का अब कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ये अब विकारक माध्यम के रूप में कार्य नहीं करतीं।

बालक आत्म दर्शन के अधिक निकट होता है। सत्य के राज्य में प्रवेश

---

[1] प्लोटिनस एनीड्स, I, VI, ६

करने से पूर्व हमे बालक बनना होगा। यही कारण है कि हमे पण्डितो के पाखण्ड से बचना होगा। ऐसा कहा जाता है कि बालको का बुद्धि-वैभव विद्वानो के बुद्धि-वैभव से बढकर है।

श्री रमण महर्षि भारतीय धर्म-ग्रन्थो पर आधारित एक ऐसे धर्म की रूप-रेखा प्रस्तुत करते है जो बौद्धिक और आचारशास्त्रीय होने के साथ-साथ सारत आध्यात्मिक है।

एस० राधाकृष्णन

श्री रमण महर्षि

पहला अध्याय

प्रारम्भिक जीवन

शैव लोग रुद्र-दर्शन का समारोह बडी श्रद्धापूर्वक मनाते हैं। इसी दिन शिव ने नटराज के रूप मे, अर्थात् विश्व की सृष्टि और प्रलय के ताण्डव-नृत्य के रूप मे, अपने भक्तो को दर्शन दिये थे। सन् १८७९ को इसी दिन गोधूलि के समय दक्षिण भारत के तमिल प्रदेश स्थित तिरुचुजही कस्बे मे शिव के भक्तगण धूलभरी सडको पर मन्दिर के तालाब की ओर नगे पाँव चल पडे थे। वहाँ ब्राह्म-मुहूर्त मे स्नान करने की परम्परा चली आती है। सूर्य का अरुण प्रकाश उस विशाल वर्गाकार तालाब की पत्थर की सीढियो से स्नान करने के लिए नीचे उतर रहे केवल धोती धारण किये हुए पुरुषो और महिलाओ की गहरी लाल तथा सुनहरी साडियो पर पड रहा था। ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी क्योकि इस बार त्यौहार दिसम्बर के महीने मे पडा था। परन्तु इस प्रदेश के लोग बडे सहिष्णु हैं। कुछ लोगो ने वृक्षो के नीचे या तालाब के निकटवर्ती घरो मे कपडे बदले। परन्तु अधिकाश लोग यह सोचकर कि उनके कपडे धूप मे सूख जायेंगे, गीले वस्त्र धारण किये हुए ही उस कस्बे के प्राचीन मन्दिर की ओर चल पडे। तमिल प्रदेश के त्रेसठ शैव कवि-दार्शनिको मे से एक सुन्दरमूर्ति स्वामी हुए हैं, जिन्होंने प्राचीनकाल में इस मन्दिर को अपने भक्ति-गीतो से गुजाया था।

मन्दिर मे शिव की प्रतिमा फूलो से लदी थी। लोगो ने ढोल और शख वजाते हुए पवित्र गीतो की मधुर ध्वनि के साथ दिनभर मूर्ति का जुलूस निकाला था। रात के एक वजे जुलूस समाप्त हुआ। शिव की प्रतिमा मन्दिर में पुन प्रविष्ट हुई और इसी समय सुन्दरम ऐय्यर तथा उनकी पत्नी अलगम्माल के घर मे वालक वेंकटरमण का जन्म हुआ। इसी वालक मे शिव को श्रीरमण के रूप में प्रकट होना था। पश्चिमी ईस्टर की तरह हिन्दू त्योहार भी चन्द्रमा की कलाओ के अनुसार बदलते रहते हैं। इस वर्ष रुद्र-दर्शन २९ दिसम्बर को पडा था। वालक समय, दिन और वर्ष के हिसाव से, लगभग दो हजार वर्ष पूर्व पैदा हुए बैथलेहैम के दिव्य वालक से कुछ देर वाद पैदा हुआ था। उसके देहावसान के समय भी यही सयोग घटित हुआ। श्रीरमण का

स्वर्गवास १४ अप्रैल को, समय और तिथि की दृष्टि से गुड-फ्राइडे के मध्याह्लोत्तर से थोडी देर बाद हुआ था। दोनो समय सर्वथा उपयुक्त हैं। मध्यरात्रि और मकरसक्रान्ति वह समय है जब सूर्य भगवान् पृथ्वी पर उदित होना प्रारम्भ कर रहे होते हैं और वासन्तिक विषुव को दिन और रात बराबर होते हैं तथा दिन लम्बा होना शुरू होता है।

सुन्दरम ऐय्यर ने उन दिनो दो रुपये मासिक के अत्यल्प हास्यास्पद वेतन पर एक एकाउण्टेण्ट के यहाँ अर्जीनवीस के रूप मे कार्य प्रारम्भ किया था। कुछ वर्ष बाद उन्हे एक अप्रमाणित वकील अर्थात् ग्रामीण वकील के रूप मे प्रैक्टिस करने की आज्ञा मिल गयी थी। उनकी प्रैक्टिम खूब चल निकली, लक्ष्मी की उन पर अपार कृपा हुई और उन्होंने एक मकान[1] बनवाया। इसी मकान में बालक रमण का जन्म हुआ था। यह मकान काफी खुला था। इसका एक हिस्सा अतिथियो के लिए सुरक्षित था। श्री सुन्दरम ऐय्यर बडे सामाजिक और अतिथि-भक्त थे। वह सरकारी अधिकारियो और कस्बे मे आने वाले नवागन्तुको को अपने घर ठहराया करते थे। यही कारण है कि वह अपने कस्बे के प्रतिष्ठित व्यक्ति समझे जाते थे और इसका उनके व्यावसायिक कार्य पर भी बहुत अच्छा असर पडा।

श्री ऐय्यर ने बहुत सफलता प्राप्त की, परन्तु परिवार को एक विचित्र विधि-विधान का सामना करना था। ऐसा कहा जाता है कि एक बार एक घुमक्कड साधु उनके किसी पूर्वज के घर भिक्षा माँगने के लिए आया था। जब परिवार के लोगो ने भिक्षा देने से इन्कार कर दिया तब उस साधु ने शाप दिया कि उनकी सन्तान की हर पीढी मे से एक व्यक्ति साधु बनेगा और उसे भिक्षा माँगनी पडेगी। इसे शाप समझें या वरदान, साधु का कथन पूरा हुआ। सुन्दरम ऐय्यर के एक चाचा ने गेरुए वस्त्र धारण कर लिये थे और दण्ड तथा कमण्डल हाथ मे लेकर घर का परित्याग कर दिया था, उनके बडे भाई पडोस की एक जगह देखने का बहाना करके घर से निकल गये थे और बाद मे ससार का परित्याग करके सन्यासी बन गये थे।

सुन्दरम ऐय्यर को अपने परिवार के सम्बन्ध मे कोई विचित्र बात दिखायी नही देती थी। वेंकटरमण का एक सामान्य और स्वस्थ बालक के रूप मे विकास हुआ। थोडे अरसे के लिए उसे स्थानीय स्कूल मे भेजा गया और जब वह ग्यारह वर्ष का हुआ, उसे दिन्दीगुल के एक स्कूल मे भेजा गया। उसका भाई नागस्वामी था, जो उससे दो साल बडा था। उसके छ साल बाद तीसरे

---

[1] अब आश्रम ने इस मकान को अपने अधिकार मे ले लिया है। यहाँ दैनिक पूजा होती है और यह भक्तों के लिए तीर्थ-स्थल के रूप मे खुला रहता है।

पुत्र नागसुन्दरम का जन्म हुआ और दो साल बाद पुत्री अलामेलु का। यह बडा सुखी और समृद्ध मध्यवर्गीय परिवार था।

जब वेंकटरमण बारह साल का हुआ, सुन्दरम ऐय्यर की मृत्यु हो गयी और परिवार विघटित हो गया। बच्चे अपने चाचा सुब्वियर के पास चले गये। पास ही मदुरा मे उनका अपना मकान[1] था। वेंकटरमण को पहले वहाँ स्काट्स मिडिल स्कूल और बाद मे अमरीकन मिशन हाई स्कूल मे भेजा गया। उस समय वेंकटरमण में ऐसा कोई लक्षण दिखायी नही देता था जिससे यह प्रकट हो कि वह आगे चलकर विद्वान बनेगा। उसे खेल-कूद और सैर-सपाटे का बडा शौक था। फुटबॉल, कुश्ती तथा तैरने मे उसका मन बहुत रमता था। जहाँ तक स्कूल का सम्बन्ध है, उसकी स्मरण-शक्ति बहुत तेज थी। जिस पाठ को वह एक बार सुन लेता था, उसे वह कण्ठस्थ हो जाता था और इस प्रकार वह अपनी शिथिलता की पूर्ति कर लेता था।

बचपन के दिनो मे उसका एकमात्र असामान्य लक्षण उसकी असाधारण प्रगाढ़ निद्रा थी। श्रीभगवान् के एक भक्त देवराज मुदालियर ने अपनी डायरी मे उसके सम्बन्ध मे एक ससमरण लिखा है। श्रीभगवान् ने बहुत वर्ष बाद आश्रम मे बातचीत के दौरान, अपने भक्तो को वह घटना सुनायी जिसमें उन्होंने अपने एक सम्बन्धी को सभा-भवन मे प्रवेश करते हुए देखकर कहा था

> "आपको देखकर मुझे उस घटना का स्मरण हो आता है जो दिन्दीगुल में मेरे बचपन मे घटित हुई थी। आपके चाचा पेरिअप्पा शेषाय्यर, उस समय वहीं रह रहे थे। घर मे कोई समारोह हो रहा था। हर कोई इसमे सम्मिलित हुआ। रात को सब लोग मन्दिर गये। घर में अकेला मैं रह गया। मैं सामने के कमरे मे बैठा पढ़ रहा था परन्तु कुछ देर बाद मैंने सामने के दरवाजे मे ताला लगा दिया, खिडकियाँ बन्द कर दीं और सो गया। जब सब लोग मन्दिर से वापस आये, तब उन्होने दरवाजे और खिडकियो पर जोर से थपथपाया और खूब चिल्लाये परन्तु मेरी नींद नही खुली। अन्त मे उन्होने सामने के घर वालो से ताली लेकर दरवाजा खोला और मुझे मार-मारकर जगाने की कोशिश की। सभी लडको ने मुझे जी भरकर मारा और तुम्हारे चाचा ने भी मारा परन्तु मेरी नींद नही खुली। मुझे इस सम्बन्ध मे तब तक कुछ भी पता नही चला जब तक कि दूसरे दिन सबेरे उन्होंने सारी कहानी मुझे न

---

[1] इसी मकान में श्रीभगवान् को साक्षात्कार हुआ था। अब इसे आश्रम ने अपने अधिकार में ले लिया है और श्रीभगवान् का एक चित्र यहाँ रख दिया गया है। यह स्थान भक्तों के लिए तीर्थ-स्थल है।

वता दी। इसी प्रकार की घटना मदुरा मे भी मेरे साथ घटी थी। जव मैं जाग रहा होता था तव लडके मुझे हाथ लगाने का साहस नही करते थे। परन्तु अगर उन्हे मुझसे वदला लेना होता तो वे उस समय आते जव मैं गाढ-निद्रा मे लीन होता। वे मुझे जहाँ चाहते ले जाते, जी भर कर पीटते और वापस मुझे मेरे विस्तर पर डाल जाते। मुझे इसके वारे मे तव तक कुछ पता न चलता जव तक वे अगले दिन सारी घटना न वताते।"

श्रीभगवान् इसे कोई महत्त्व नही देते थे और कहा करते थे कि यह तो केवल अच्छे स्वास्थ्य का परिणाम है। कभी-कभी वह रात को अध-निद्रा की अवस्था मे लेट जाया करते थे। सम्भवत ये दोनो अवस्थाएँ आध्यात्मिक जागरण के पूव-सकेत हो गाढ-निद्रा भले ही वह तिमिरावत और निषेधक हो, इस वात की द्योतक है कि व्यक्ति मे मन का परित्याग करने और गहरे डूवने की योग्यता है और अध-निद्रा इसकी ओर सकेत करती है कि व्यक्ति साक्षी के रूप मे तटस्थ भाव से अपना निरीक्षण कर सकता है।

हमारे पास श्रीभगवान् के वचपन का कोई चित्र नही है। वह हँसते हुए अद्भुत ढग से कहा करते थे कि एक वार वचपन मे परिवार का सामूहिक फोटो खीचा गया था। उनके हाथ मे एक भारी पुस्तक थमा दी गयी थी जिससे वे वडे अध्ययनशील दिखायी दे। परन्तु एक मक्खी उन पर आ बैठी और जैसे ही फोटो खीचा जाने लगा, उन्होने इसे हटाने के लिए अपनी भुजा ऊपर उठायी। इस फोटो की कोई कापी उपलब्ध नही है और परिणामत उनका कोई फोटो हमे नही मिलता।

उषा की प्रथम पूर्व-सूचना अरुणाचल से आने वाला प्रकाश था। स्कूल के विद्यार्थी वेंकटरमण ने कोई धार्मिक सिद्धान्त नही पढा था। वह केवल इतना ही जानता था कि अरुणाचल एक अत्यन्त पवित्र-स्थान है और यह उसके भाग्य का पूर्वाभास था जिसने उसे आन्दोलित कर दिया। एक दिन वह अपने एक वुजुग रिश्तेदार से, जिनसे उसका परिचय तिरुचुजही मे हुआ था, मिला। उन्होने उससे पूछा कि वह कहाँ से आ रहे हैं। उस वृद्ध ने उत्तर दिया, "अरुणाचल से।" और एकाएक इस अनुभूति से कि वह पवित्र पहाडी पृथ्वी पर वस्तुत एक दशनीय स्थान है, वेंकटरमण भाव-विह्वल हो कहने लगे, "क्या कहा? अरुणाचल से? वह कहाँ है?"

उस वृद्ध को इस अनुभव-शून्य युवक के अज्ञान पर वडा आश्चय हुआ और उसने कहा कि अरुणाचल तिरुवन्नामलाई ही है।

श्रीभगवान् ने वाद मे अरुणाचल की स्तुति मे निर्मित आठ श्लोको मे से प्रथम श्लोक मे इस ओर निर्देश किया है

"ध्यान देकर सुनो ! यह एक पहाड़ी की तरह है। इसकी क्रिया रहस्यपूर्ण है, जिसे मानव-मन नहीं समझ सकता। मुझे अपनी अबोध आयु में ही यह पता चल गया था कि अरुणाचल की शोभा अद्वितीय है, परन्तु जब किसी दूसरे व्यक्ति ने मुझे बताया कि यह तिरुवन्नामलाई ही है तब मैं इसका अर्थ नहीं समझ सका। जब मैं यहाँ पहुँचा तब मुझे अपार शान्ति मिली और जैसे ही मैं इसके और निकट पहुँचा, मेरा मन बिलकुल स्थिर हो गया।"

यह घटना नवम्बर, १८९५ की है। उस समय श्रीभगवान् की आयु यूरोपीय गणना के अनुसार सोलह वर्ष और हिन्दू गणना के अनुसार सत्रह वर्ष थी।

इसके शीघ्र बाद दूसरी पूर्व-सूचना आयी। इस बार यह एक पुस्तक के माध्यम से आयी। दिव्य-सत्ता का आविर्भाव इस पृथ्वी पर सम्भव है, इस अनुभूति ने उसके हृदय को अवर्णनीय आनन्द से भर दिया। उसके चाचा कहीं से पेरिया पुराणम् की एक प्रति माँग लाये थे। इसमें त्रेसठ तमिल शैव सन्तों की जीवन-गाथाएँ हैं। वेंकटरमण ने जब यह पुस्तक पढ़ी तब उसका हृदय अद्भुत आश्चर्य से भर उठा कि इस प्रकार का विश्वास, इस प्रकार का प्रेम और इस प्रकार का दिव्य-उत्साह सम्भव है और मानव-जीवन में इतना सौन्दर्य भरा पड़ा है। प्रभु-मिलन के लिए प्रेरित करने वाली त्याग की कहानियों से उसका हृदय श्रद्धा और प्रशस्ति के भाव से आप्लावित हो उठा। उसे ऐसा अनुभव होने लगा कि कोई ऐसी वास्तविक सत्ता है जो सभी स्वप्नों से महान् है, जो सभी महत्त्वाकांक्षाओं से ऊँची है और जिसकी प्राप्ति सर्वथा सम्भव है। इस साक्षात्कार से उसकी आत्मा आनन्दमयी कृतज्ञता से पूर्ण हो उठी।

इसके बाद से श्रीभगवान् चिन्तन में लीन हो गये। इस अवस्था में भक्त को अपने चारों ओर की दुनिया की सुध-बुध नहीं रहती, वह दृग और दृश्य के द्वैत से ऊपर उठ जाता है, शारीरिक और मानसिक भूमियों से ऊपर उठकर दिव्य चैतन्य की अवस्था में पहुँच जाता है, परन्तु यह अवस्था शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों के पूर्ण प्रयोग के साथ संगत होती है।

श्रीभगवान् ने अत्यन्त सरलता के साथ इसका वर्णन किया है कि किस प्रकार मदुरा में प्रतिदिन मीनाक्षी मन्दिर के दर्शनों के लिए जाते समय उनके मन में यह ज्ञान-धारा प्रवाहित होने लगी थी। उनके शब्दों में, "पहले मैंने सोचा कि यह एक प्रकार का ज्वर है, परन्तु मैंने निर्णय किया कि अगर यह ऐसा है तो यह मधुर ज्वर है और इसे बने रहना चाहिए।"

दूसरा अध्याय

जागरण

भगवान् रमण महर्षि के ज्ञान-मार्गी उपदेशो और शिक्षाओ के अनुसार, अगर इस ज्ञान-धारा को निरन्तर प्रयत्नपूवक प्रवाहित रखा जाय तो यह प्रबल और अधिक स्थिर रूप धारण करती जाती है और अन्तत **सहज समाधि** की ओर ले जाती है। सहज समाधि की अवस्था मे व्यक्ति अपने शुद्ध दिव्य-स्वरूप मे स्थित रहते हुए जीवन के सामान्य कार्यकलाप करता रहता है। पृथ्वी पर इसी जीवन में इस स्थिति को प्राप्त करना वस्तुत दुर्लभ है। यह जीवन तो साक्षात्कार की ओर लम्बी तीथयात्रा का केवल एक भाग है और प्रत्येक यात्री इसे उस बिन्दु से प्रारम्भ करता है, जहाँ वह पहले पहुँच चुका है, जैसे कि एक तीर्थयात्री रात को सो जाता है और अगले प्रात काल उसी स्थान पर उठ खडा होता है। आज के प्रयासो से वह कितनी दूर पहुँचेगा, यह अशत उस सोपान पर निर्भर करता है, जहाँ से उसने चलना प्रारम्भ किया है और अशत इस बात पर निर्भर करता है कि वह कितना प्रयास करता है। जीवन एक तीर्थयात्रा है, हमारे जीवन का कोई लक्ष्य है और इस लक्ष्य की ओर ले जाने वाले मार्ग पर हमे दृढ निश्चय के साथ कदम बढाना है, यह खोज भी स्वय मे एक बहुत बडी उपलब्धि है। श्रीभगवान को कुछ महीने बाद ऐसा अनुभव हुआ। इसके लिए उन्हें कोई खोज, कोई प्रयत्न और कोई तैयारी नही करनी पडी। उन्होने स्वय इसका वर्णन इस प्रकार किया है

"मदुरा से सदा के लिए रवाना होने से लगभग छ सप्ताह पूर्व मेरे जीवन मे यह महान् परिवतन हुआ। अपने चाचा के मकान की पहली मजिल पर मैं अकेला कमरे मे बैठा हुआ था। मुझे कभी कोई बीमारी नही हुई थी और उस दिन मेरा स्वास्थ्य भी बिलकुल ठीक था, परन्तु एकाएक मृत्यु के भीषण भय ने मुझे आन्दोलित कर दिया। मेरा स्वास्थ्य भी खराब नही था, जिसके कारण मुझे यह भय हुआ हो और मैंने इस भय के कारण का पता लगाने की भी कोई चेष्टा नही की। मुझे केवल ऐसा अनुभव होने लगा कि 'मुझे मरना है' और मैंने यह सोचना शुरू

कर दिया कि अब क्या किया जाय। किसी डाक्टर, या अपने बड़े बुजुर्गों और मित्रो से परामर्श करने का विचार भी मेरे मन मे नही आया। मैंने अनुभव किया कि मुझे तत्काल समस्या का समाधान स्वय करना है।

"मृत्यु के भय के आघात के कारण मैं अन्तर्मुख हुआ और मेरे मन में अनायास ही ये विचार आने लगे—'अब मृत्यु आ गयी है, इसका क्या अभिप्राय है? मृत्यु किसकी होनी है? यह शरीर नही रहेगा।' और मैंने एकाएक मृत्यु का अभिनय करना शुरू किया। मैं अपने अगो को फैलाकर और कड़ा करके लेट गया और मैंने एक शव का अनुकरण किया ताकि मैं इस खोज की तह तक पहुँच सकूँ। मैंने श्वास रोक लिया और अपने ओठ कसकर बन्द कर लिये ताकि न तो 'मैं' और न कोई अन्य शब्द मैं कह सकूँ। फिर मैंने अपने-आप से कहना शुरू किया, 'हाँ तो मेरा शरीर मृत है। लोग इसे उठाकर श्मशान-घाट ले जाएँगे और जला देंगे, तब यह राख हो जाएगा। परन्तु क्या इस शरीर की मृत्यु से मेरी मृत्यु हो जाएगी? क्या मैं शरीर हूँ? मेरा शरीर मौन और जड़ है परन्तु मैं अपने व्यक्तित्व की सम्पूर्ण शक्ति को अनुभव कर रहा हूँ और इसके अतिरिक्त अपने अन्दर उठने वाली 'मैं' की आवाज को भी अनुभव कर रहा हूँ। इसलिए मैं शरीर से परे आत्मा हूँ। शरीर की मृत्यु हो जाती है, परन्तु आत्मा को मृत्यु स्पर्श तक भी नहीं कर सकती। इसका अभिप्राय है, 'मैं अमर आत्मा हूँ।' यह सब शुष्क विचार-प्रक्रिया नही थी। जीवित सत्य की भाँति अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक ये विचार मेरे मन मे बिजली की तरह कौंध गये। बिना किसी विचार-प्रक्रिया के मुझे सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन हो गया। 'अह' ही वास्तविक सत्ता थी और मेरे शरीर से सम्बद्ध सभी चेतन गतिविधियाँ इसी 'अह' पर केन्द्रित थीं। इसी क्षण से किसी शक्तिशाली प्रेरणा के कारण 'अह' ने अपने पर ध्यान केन्द्रित करना आरम्भ किया। मृत्यु का भय सदा के लिए जा चुका था। इससे आगे आत्म-केन्द्रित ध्यान अविच्छिन्न रूप से जारी रहा। सगीत के विभिन्न स्वरो की भाँति अन्य विचार आते और चले जाते परन्तु 'अह' उस आधारभूत श्रुतिस्वर के समान जारी रहा, जो सभी अन्य स्वरों के मूल मे सम्मिश्रित है।[1] मेरा शरीर वार्तालाप, अध्ययन या किसी अन्य कार्य मे भले ही लीन हो, परन्तु

[1] यह एक स्वर-सगीत मे सर्वत्र गुजरित होता है। जिस प्रकार माला के सभी मनकों में सूत्र पिरोया होता है, उसी प्रकार सत्ता के सभी रूपों में 'आत्म' तत्त्व अनुस्यूत है।

मेरा ध्यान 'अह' पर केन्द्रित था। इससे पहले मुझे अपनी आत्मा की स्पष्ट अनुभूति नही हुई थी और मैं इसकी ओर चेतन रूप से आकृष्ट नही हुआ था। मुझे इसमे कोई प्रत्यक्ष दिलचस्पी अनुभव नही हुई, इसमे स्थायी रूप से रहने की तो और भी कम इच्छा हुई।"

विना किसी आडम्वर और वाक्-प्रपच के अगर सीधे-सादे शब्दो मे कहे तो यह अवस्था अहभाव से भिन्न नहीं, परन्तु इसका एकमात्र कारण 'मैं' और 'आत्म' शब्दो की अस्पष्टता है। मृत्यु के प्रति हमारी धारणा के कारण यह अन्तर पैदा होता है जिसका ध्यान 'अह' मे केन्द्रित होता है, जो 'अह' को एक पृथक् व्यक्ति के रूप मे देखता है, वही मृत्यु से भयभीत होता है। मृत्यु हमारे अह के विनाश की धमकी देती है। परन्तु यहाँ तो मृत्यु के भय का सर्वथा लोप हो चुका था। महर्षि ने यह अनुभव कर लिया था कि 'अह' उस सार्वलौकिक अमर आत्मा के साथ एकरूप है जो प्रत्येक व्यक्ति मे विराजमान है। यह कथन भी ठीक नही कि वह यह जानते थे कि वह विश्वात्मा के साथ एकरूप हैं। इससे तो ऐसा लगता है कि 'अह' की पृथक् सत्ता है जो इसे जानता है जबकि महर्षि ने यह अनुभव कर लिया था कि वे आत्मा हैं।

कुछ वर्ष वाद श्रीभगवान् ने एक पाश्चात्य जिज्ञासु श्रीपाल ब्रण्टन के सम्मुख इस अन्तर की इस प्रकार व्याख्या की थी[1]

ब्रण्टन—"उस आत्मा का स्वरूप क्या है जिसकी आप चर्चा करते हैं? आप जो कुछ कहते हैं, अगर वह सत्य है, तो उस स्थिति मे मनुष्य मे एक दूसरी आत्मा होनी चाहिए।"

श्रीरमण—"क्या एक व्यक्ति के दो स्वरूप, दो आत्माएँ सम्भव हैं? इस विपय को समझने के लिए पहले यह आवश्यक है कि मनुष्य अपना विश्लेपण करे। चूकि वह लम्वे अरसे से अन्य लोगो की तरह सोचता आया है, इसलिए उसने कभी सच्चे ढग से 'अह' का सामना नही किया है। उसके सम्मुख अपनी सही तस्वीर नहीं है, उसने लम्वे अरसे से शरीर और मस्तिष्क के साथ अपने को एकरूप अनुभव किया है। इसलिए मैं आपसे कहूँगा कि आप इस सत्य का अन्वेपण करें कि 'मैं कौन हूँ'?

"आपने इस यथाथ आत्म-तत्त्व का वणन करने के लिए मुझसे कहा है। इसके वारे मे क्या कहा जाय? यह वह तत्त्व है जिसमे से 'मैं' की भावना पैदा होती है और इसी मे इसे लय होना है।"

---

[1] इस पुस्तक में दिया गया श्रीपाल ब्रण्टन का यह तथा अन्य उद्धरण राइडर एण्ड को०, लन्दन द्वारा प्रकाशित 'A Search in Secret India' पर आधारित है और आश्रम ने श्रीपाल ब्रण्टन की अनुमति से उद्धृत किया है।

ब्रण्टन—"लय होना ? कोई अपने व्यक्तित्व की भावना को किस प्रकार भुला सकता है ?"

श्रीरमण—"प्रत्येक मनुष्य के मन मे सवप्रथम और सवप्रधान विचार 'मैं' का होता है। इस विचार के वाद ही अन्य कोई विचार जन्म ले सकते हैं। प्रथम उत्तम पुरुप के सवनाम 'मैं' के मन मे विचार के वाद ही द्वितीय मध्यम पुरुप के सवनाम 'तुम' की उत्पत्ति होती है। अगर आप मानसिक रूप से 'मैं' के सूत्र का अनुसरण कर सकें तो आपको यह पता चलेगा कि जिस प्रकार यह सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला विचार है, उसी प्रकार यह सवसे अन्त मे लोप होने वाला विचार है। इसे आप अनुभव द्वारा जान सकते है।"

ब्रण्टन—"आपका कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार अपने आप मे मानसिक अन्वेषण सम्भव है।"

श्रीरमण—"निश्चित रूप से। अपने अन्दर प्रवेश करना सम्भव है और अन्त में धीरे-धीरे 'मैं' का लोप हो जाता है।"

ब्रण्टन—"इसके वाद क्या वच रहता है ? इस अवस्था मे क्या व्यक्ति बिलकुल अचेतन बन जाता है या वज्रमूर्ख बन जाता है ?"

श्रीरमण—"नही, इसके विपरीत उसमे वह चैतन्य प्रकट होता है जो अमर है और तव वह वस्तुत बुद्धिमान बन जाता है जब उसे अपने वास्तविक स्वरूप का पता चल जाता है। मनुष्य का वही वास्तविक स्वरूप है।"

ब्रण्टन—"परन्तु निश्चित ही 'मैं' का भाव इसके साथ सम्बद्ध है।"

श्रीरमण—"'मैं' का भाव व्यक्ति, शरीर और मस्तिष्क से सम्बद्ध है। जव मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है तव प्रथम वार उसकी आत्मा की गहराइयो मे से कोई ऐसी चीज जन्म लेती है, जो उस पर पूरी तरह हावी हो जाती है। यह चीज हमारे मन के पीछे है, यह असीमित दिव्य और शाश्वत है। कई लोग इसे स्वग का साम्राज्य कहते हैं, दूसरे इसे आत्मा और अन्य लोग निर्वाण तथा हिन्दू इसे मुक्ति के नाम से सम्बोधित करते हैं, आप जो भी नाम चाहें, इसे दे सकते हैं। इस अवस्था मे मनुष्य अपने को खोता नही वल्कि पा लेता है।"

जव तक मनुष्य इस सत्य आत्म-तत्त्व की खोज नही करेगा, सन्देह और अनिश्चितता उसे जीवन भर घेरे रहेगी। महान् सम्राट और राजनीतिज्ञ दूसरो पर शासन करने का प्रयत्न करते हैं जवकि वे अपने हृदय के अन्त स्थल मे यह अच्छी तरह जानते हैं कि वे अपने पर शासन नही कर सकते। परन्तु जो व्यक्ति आत्मा की गहराइयों मे प्रवेश करता है, विश्व की महत्तम शक्ति भी उसकी आज्ञा का अनुसरण करती है। जव तक कि आपको यह पता नही कि आप स्वय कौन हैं, संसार की अन्य वस्तुओं के जानने का क्या उपयोग है ? मनुष्य

मेरा ध्यान 'अह' पर केन्द्रित था। इससे पहले मुझे अपनी आत्मा की स्पष्ट अनुभूति नही हुई थी और मैं इसकी ओर चेतन रूप से आकृष्ट नही हुआ था। मुझे इसमे कोई प्रत्यक्ष दिलचस्पी अनुभव नही हुई, इसमे स्थायी रूप से रहने की तो और भी कम इच्छा हुई।"

बिना किसी आडम्बर और वाक्-प्रपच के अगर सीधे-सादे शब्दो मे कहे तो यह अवस्था अहभाव से भिन्न नही, परन्तु इसका एकमात्र कारण 'मैं' और 'आत्म' शब्दो की अस्पष्टता है। मृत्यु के प्रति हमारी धारणा के कारण यह अन्तर पैदा होता है जिसका ध्यान 'अह' मे केन्द्रित होता है, जो 'अह' को एक पृथक् व्यक्ति के रूप मे देखता है, वही मृत्यु से भयभीत होता है। मृत्यु हमारे अह के विनाश की धमकी देती है। परन्तु यहाँ तो मृत्यु के भय का सर्वथा लोप हो चुका था। महर्षि ने यह अनुभव कर लिया था कि 'अह' उस सार्वलौकिक अमर आत्मा के साथ एकरूप है जो प्रत्येक व्यक्ति मे विराजमान है। यह कथन भी ठीक नही कि वह यह जानते थे कि वह विश्वात्मा के साथ एकरूप है। इससे तो ऐसा लगता है कि 'अह' की पृथक् सत्ता है जो इसे जानता है जबकि महर्षि ने यह अनुभव कर लिया था कि वे आत्मा हैं।

कुछ वर्ष बाद श्रीभगवान् ने एक पाश्चात्य जिज्ञासु श्रीपाल ब्रण्टन के सम्मुख इस अन्तर की इस प्रकार व्याख्या की थी[1]

ब्रण्टन—"उस आत्मा का स्वरूप क्या है जिसकी आप चर्चा करते हैं? आप जो कुछ कहते हैं, अगर वह सत्य है, तो उस स्थिति मे मनुष्य मे एक दूसरी आत्मा होनी चाहिए।"

श्रीरमण—"क्या एक व्यक्ति के दो स्वरूप, दो आत्माएँ सम्भव हैं? इस विषय को समझने के लिए पहले यह आवश्यक है कि मनुष्य अपना विश्लेषण करे। चूंकि वह लम्बे अरसे से अन्य लोगो की तरह सोचता आया है, इसलिए उसने कभी सच्चे ढग से 'अह' का सामना नही किया है। उसके सम्मुख अपनी सही तस्वीर नही है, उसने लम्बे अरसे से शरीर और मस्तिष्क के साथ अपने को एकरूप अनुभव किया है। इसलिए मैं आपसे कहूँगा कि आप इस सत्य का अन्वेषण करें कि 'मैं कौन हूँ'?

"आपने इस यथार्थ आत्म-तत्त्व का वर्णन करने के लिए मुझसे कहा है। इसके बारे मे क्या कहा जाय? यह वह तत्त्व है जिसमे से 'मैं' की भावना पैदा होती है और इसी मे इसे लय होना है।"

---

[1] इस पुस्तक में दिया गया श्रीपाल ब्रण्टन का यह तथा अन्य उद्धरण राइडर एण्ड को०, लन्दन द्वारा प्रकाशित 'A Search in Secret India' पर आधारित है और आश्रम ने श्रीपाल ब्रण्टन की अनुमति से उद्धृत किया है।

ब्रण्टन—"लय होना ? कोई अपने व्यक्तित्व की भावना को किस प्रकार भुला सकता है ?"

श्रीरमण—"प्रत्येक मनुष्य के मन मे सर्वप्रथम और सर्वप्रधान विचार 'मैं' का होता है। इस विचार के बाद ही अन्य कोई विचार जन्म ले सकते हैं। प्रथम उत्तम पुरुष के सर्वनाम 'मैं' के मन मे विचार के बाद ही द्वितीय मध्यम पुरुष के सर्वनाम 'तुम' की उत्पत्ति होती है। अगर आप मानसिक रूप से 'मैं' के सूत्र का अनुसरण कर सकें तो आपको यह पता चलेगा कि जिस प्रकार यह सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला विचार है, उसी प्रकार यह सबसे अन्त मे लोप होने वाला विचार है। इसे आप अनुभव द्वारा जान सकते हैं।"

ब्रण्टन—"आपका कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार अपने आप मे मानसिक अन्वेषण सम्भव है।"

श्रीरमण—"निश्चित रूप से। अपने अन्दर प्रवेश करना सम्भव है और अन्त मे धीरे-धीरे 'मैं' का लोप हो जाता है।"

ब्रण्टन—"इसके बाद क्या बच रहता है ? इस अवस्था मे क्या व्यक्ति बिलकुल अचेतन बन जाता है या वज्रमूर्ख बन जाता है ?"

श्रीरमण—"नही, इसके विपरीत उसमे वह चैतन्य प्रकट होता है जो अमर है और तब वह वस्तुतः बुद्धिमान बन जाता है जब उसे अपने वास्तविक स्वरूप का पता चल जाता है। मनुष्य का वही वास्तविक स्वरूप है।"

ब्रण्टन—"परन्तु निश्चित ही 'मैं' का भाव इसके साथ सम्बद्ध है।"

श्रीरमण—"'मैं' का भाव व्यक्ति, शरीर और मस्तिष्क से सम्बद्ध है। जब मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है तब प्रथम बार उसकी आत्मा की गहराइयो में से कोई ऐसी चीज जन्म लेती है, जो उस पर पूरी तरह हावी हो जाती है। यह चीज हमारे मन के पीछे है, यह असीमित दिव्य और शाश्वत है। कई लोग इसे स्वर्ग का साम्राज्य कहते है, दूसरे इसे आत्मा और अन्य लोग निर्वाण तथा हिन्दू इसे मुक्ति के नाम से सम्बोधित करते हैं, आप जो भी नाम चाहें, इसे दे सकते हैं। इस अवस्था में मनुष्य अपने को खोता नहीं बल्कि पा लेता है।"

जब तक मनुष्य इस सत्य आत्म-तत्त्व की खोज नहीं करेगा, सन्देह और अनिश्चितता उसे जीवन भर घेरे रहेगी। महान् सम्राट और राजनीतिज्ञ दूसरो पर शासन करने का प्रयत्न करते हैं जबकि वे अपने हृदय के अन्त स्थल मे यह अच्छी तरह जानते हैं कि वे अपने पर शासन नही कर सकते। परन्तु जो व्यक्ति आत्मा की गहराइयों मे प्रवेश करता है, विश्व की महत्तम शक्ति भी उसकी आज्ञा का अनुसरण करती है। जब तक कि आपको यह पता नही कि आप स्वय कौन है, संसार की अन्य वस्तुओ के जानने का क्या उपयोग है ? मनुष्य

अपने सच्चे स्वरूप के इस अन्वेषण से वचते है परन्तु इससे वढकर और कौन-सा अन्वेपण हो सकता है ?

इस सम्पूर्ण साधना मे मुश्किल से आध घण्टा लगा। तथापि हमारे लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि **यह एक साधना थी।** प्रकाश-प्राप्ति का प्रयास है, निष्प्रयास जागरण नही है। सामान्यत एक गुरु अपने शिष्यो को उसी मार्ग पर ले जाता है, जिसका उसने स्वय अनुसरण किया है। श्रीभगवान् ने आध घण्टे के अन्दर न केवल जीवन भर की, वल्कि अधिकाश साधको के लिए अनेक जीवनो की साधना पूरी कर ली, इससे यह तथ्य नही वदलता कि यह आत्म-अन्वेपण का प्रयास था। उन्होने वाद मे अपने अनुयायियो से इसी का अनुसरण करने के लिए कहा था। उन्होंने अपने भक्तो को यह चेतावनी दी कि आत्म-अन्वेपण से सामान्यत सिद्धि शीघ्र नही मिलती। इसके लिए काफी लम्वे अर्से तक प्रयास करना पडता है। साथ ही उन्होने यह भी कहा कि "यही एकमात्र प्रत्यक्ष निर्भ्रान्त साधन है, उस निरपेक्ष परम सत्ता की अनुभूति का जो आप स्वय वस्तुत हैं।" (**महर्षीज गॉस्पल,** दूसरा भाग) उन्होंने कहा कि इससे तत्काल ही रूपान्तरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, भले ही इसके पूर्ण होने मे देर ही क्यो न लगे। "परन्तु ज्यो ही अहभाव अपने को जानने का प्रयास करता है, यह शरीर मे कम से कम रमता है और आत्म-चैतन्य मे अधिक से अधिक।"

यह भी महत्त्वपूर्ण वात है कि साधना के सिद्धान्त या व्यवहार के सम्वन्ध मे कुछ भी न जानते हुए श्रीभगवान् ने एकाग्रता के लिए प्राणायाम का आश्रय लिया। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि प्राणायाम से विचारो के नियन्त्रण मे सहायता मिलती है। उन्होने अन्य किसी प्रयोजन के लिए प्राणायाम के प्रयोग को निरुत्साहित किया और वस्तुत अपने शिष्यो को इसका कभी आदेश नही दिया

> "प्राणायाम भी एक साधन है। यह उन विभिन्न विधियो म से एक है, जिनका प्रयोग चित्त की एकाग्रता के लिए किया जाता है। प्राणायाम से इधर-उधर भटकते हुए मन को नियन्त्रित करने और एकाग्रता प्राप्त करने मे सहायता मिलती है, इसलिए इसका प्रयोग भी किया जा सकता है। परन्तु व्यक्ति को यही नही रुक जाना है। प्राणायाम द्वारा मन पर नियन्त्रण प्राप्त करने के वाद, व्यक्ति को इससे प्राप्त अनुभव से ही सन्तुष्ट नही हो जाना चाहिए, अपितु नियन्त्रित मन को 'मैं कौन हूँ ?' इस प्रश्न की ओर तव तक लगाना चाहिए जव तक कि मन आत्मा मे लीन न हो जाय।"

चैतन्य की इस परिवर्तित अवस्था के कारण वेंकटरमण के मूल्यो

के अथ और आदतो मे परिवतन हो गया। जो चीजें उसे पहले अत्यन्त महत्त्वपूण प्रतीत होती थी, अब उनका सारा आकषण जाता रहा, जीवन के परम्परागत ध्येय अवास्तविक हो गये। जिस वस्तु की पहले उपेक्षा की जाती थी वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने लगी। इस चैतन्यमयी नवीन स्थिति के अनुरूप जीवन का अनुकूलन उस किशोर के लिए सरल नही रहा होगा जो अभी स्कूल का विद्यार्थी था और जिसने आध्यात्मिक जीवन का कोई सैद्धान्तिक प्रशिक्षण प्राप्त नही किया था। उसने इस बारे मे किसी से बात नही की। वह परिवार में ही रहा और उसने स्कूल जाना जारी रखा। तथ्य तो यह है कि उसने बाह्य परिवतन कम से कम किया तथापि उसके परिवार के लोग अनिवार्यत उसके परिवर्तित व्यवहार को जान गये और उन्होने उसकी कई बातो का बुरा भी माना। इसका भी उसने वणन किया है

"इस नये चैतन्य के परिणाम मेरे जीवन मे दृष्टिगोचर होने लग। सवप्रथम मित्रो और सम्बन्धियो मे मैंने दिलचस्पी लेना बन्द कर दिया। मैं अपना अध्ययन यान्त्रिक भाव से करने लगा। मैं अपने सम्बन्धियो को सन्तुष्ट करने के लिए अपने सामने पुस्तक खोलकर बैठ जाता, परन्तु वस्तुस्थिति यह थी कि मेरा मन पुस्तक मे बिलकुल नही लगता था। मैं लोगो के साथ व्यवहार मे अत्यन्त विनम्र और शान्त बन गया। पहले अगर मुझे दूसरे लडको की अपेक्षा अधिक काम दिया जाता तो मैं शिकायत किया करता था और अगर कोई लडका मुझे तग करता तो मैं उससे बदला लिया करता था। किसी भी लडके मे मेरा मजाक उडाने या मेरे साथ उच्छृखलतापूवक व्यवहार करने का साहस नही था। अब सब कुछ बदल चुका था। मुझे जो भी काम दिया जाता, मैं उसे खुशी से करता। मुझे जितना भी तग किया जाता, मैं इसे शान्ति से सहन कर लेता। विक्षोभ और प्रतिशोध प्रदर्शित करने वाले मेरे अह का लोप हो चुका था। मैंने मित्रो के साथ खेलने के लिए बाहर जाना बन्द कर दिया और एकान्त पसन्द करने लगा। मैं प्राय ध्यानावस्था मे अकेला बैठ जाता और आत्मा मे, स्वनिर्माण करने वाली शक्ति या धारा में लीन हो जाता। मेरा बडा भाई मेरा मजाक उडाया करता था और व्यग्य से मुझे साधु अथवा 'योगी' कहा करता था तथा प्राचीन ऋषियो की तरह मुझे जगल मे जाने की सलाह दिया करता था।

"दूसरा परिवतन मुझमे यह हुआ कि भोजन के सम्बन्ध मे मेरी कोई रुचि-अरुचि नही रही। जो कुछ भी मेरे सम्मुख परोसा जाता, स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट, अच्छा या बुरा, मैं उसे उदासीन भाव से निगल जाता।

अपने सच्चे स्वरूप के इस अन्वेषण से बचते हैं परन्तु इससे बढकर और कौन-सा अन्वेषण हो सकता है ?

इस सम्पूर्ण साधना मे मुश्किल से आध घण्टा लगा। तथापि हमारे लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूण है कि **यह एक साधना थी।** प्रकाश-प्राप्ति का प्रयास है, निष्प्रयास जागरण नही है। सामान्यत एक गुरु अपने शिष्यो को उसी माग पर ले जाता है, जिसका उसने स्वय अनुसरण किया है। श्रीभगवान् ने आध घण्टे के अन्दर न केवल जीवन भर की, बल्कि अधिकाश साधको के लिए अनेक जीवनो की साधना पूरी कर ली, इससे यह तथ्य नही बदलता कि यह आत्म-अन्वेपण का प्रयास था। उन्होने बाद मे अपने अनुयायियो से इसी का अनुसरण करने के लिए कहा था। उन्होने अपने भक्तो को यह चेतावनी दी कि आत्म-अन्वेपण से सामान्यत सिद्धि शीघ्र नही मिलती। इसके लिए काफी लम्बे अरसे तक प्रयास करना पडता है। साथ ही उन्होने यह भी कहा कि "यही एकमात्र प्रत्यक्ष निर्भ्रान्त साधन है, उस निरपेक्ष परम सत्ता की अनुभूति का जो आप स्वय वस्तुत है।" (**महर्षीज गॉस्पल**, दूसरा भाग) उन्होंने कहा कि इससे तत्काल ही रूपान्तरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है, भले ही इसके पूर्ण होने मे देर ही क्यो न लगे। "परन्तु ज्यो ही अहभाव अपने को जानने का प्रयास करता है, यह शरीर मे कम से कम रमता है और आत्म-चैतन्य मे अधिक से अधिक।"

यह भी महत्त्वपूर्ण बात है कि साधना के सिद्धान्त या व्यवहार के सम्बन्ध मे कुछ भी न जानते हुए श्रीभगवान् ने एकाग्रता के लिए प्राणायाम का आश्रय लिया। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि प्राणायाम से विचारो के नियन्त्रण मे सहायता मिलती है। उन्होने अन्य किसी प्रयोजन के लिए प्राणायाम के प्रयोग को निरुत्साहित किया और वस्तुत अपने शिष्यो को इसका कभी आदेश नही दिया

> "प्राणायाम भी एक साधन है। यह उन विभिन्न विधियो म से एक है, जिनका प्रयोग चित्त की एकाग्रता के लिए किया जाता है। प्राणायाम से इधर-उधर भटकते हुए मन को नियन्त्रित करने और एकाग्रता प्राप्त करने मे सहायता मिलती है, इसलिए इसका प्रयोग भी किया जा सकता है। परन्तु व्यक्ति को यही नही रुक जाना है। प्राणायाम द्वारा मन पर नियन्त्रण प्राप्त करने के बाद, व्यक्ति को इससे प्राप्त अनुभव से ही सन्तुष्ट नही हो जाना चाहिए, अपितु नियन्त्रित मन को 'मैं कौन हूँ ?' इस प्रश्न की ओर तब तक लगाना चाहिए जब तक कि मन आत्मा मे लीन न हो जाय।"

चैतन्य की इस परिवर्तित अवस्था के कारण वेंकटरमण के मूल्यो

के अर्थ और आदतो मे परिवर्तन हो गया। जो चीजें उसे पहले अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती थी, अब उनका सारा आकर्षण जाता रहा, जीवन के परम्परागत ध्येय अवास्तविक हो गये। जिस वस्तु की पहले उपेक्षा की जाती थी वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने लगी। इस चैतन्यमयी नवीन स्थिति के अनुरूप जीवन का अनुकूलन उस किशोर के लिए सरल नही रहा होगा जो अभी स्कूल का विद्यार्थी था और जिसने आध्यात्मिक जीवन का कोई सैद्धान्तिक प्रशिक्षण प्राप्त नही किया था। उसने इस बारे मे किसी मे बात नही की। वह परिवार में ही रहा और उसने स्कूल जाना जारी रखा। तथ्य तो यह है कि उसने बाह्य परिवर्तन कम से कम किया तथापि उसके परिवार के लोग अनिवार्यत उसके परिवर्तित व्यवहार को जान गये और उन्होंने उसकी कई बातो का बुरा भी माना। इसका भी उसने वर्णन किया है

"इस नये चैतन्य के परिणाम मेरे जीवन मे दृष्टिगोचर होने लगे। सर्वप्रथम मित्रो और सम्बन्धियो मे मैंने दिलचस्पी लेना बन्द कर दिया। मैं अपना अध्ययन यान्त्रिक भाव से करने लगा। मैं अपने सम्बन्धियों को सन्तुष्ट करने के लिए अपने सामने पुस्तक खोलकर बैठ जाता, परन्तु वस्तु-स्थिति यह थी कि मेरा मन पुस्तक मे बिलकुल नही लगता था। मैं लोगो के साथ व्यवहार मे अत्यन्त विनम्र और शान्त बन गया। पहले अगर मुझे दूसरे लडको की अपेक्षा अधिक काम दिया जाता तो मैं शिकायत किया करता था और अगर कोई लडका मुझे तग करता तो मैं उससे बदला लिया करता था। किसी भी लडके मे मेरा मजाक उडाने या मेरे साथ उच्छृखलतापूर्वक व्यवहार करने का साहस नही था। अब सब कुछ बदल चुका था। मुझे जो भी काम दिया जाता, मैं उसे खुशी से करता। मुझे जितना भी तग किया जाता, मैं इसे शान्ति से सहन कर लेता। विक्षोभ और प्रतिशोध प्रदर्शित करने वाले मेरे अह का लोप हो चुका था। मैंने मित्रो के साथ खेलने के लिए बाहर जाना बन्द कर दिया और एकान्त पसन्द करने लगा। मैं प्राय ध्यानावस्था मे अकेला बैठ जाता और आत्मा मे, स्वनिर्माण करने वाली शक्ति या धारा मे लीन हो जाता। मेरा बडा भाई मेरा मजाक उडाया करता था और व्यग्य से मुझे साधु अथवा 'योगी' कहा करता था तथा प्राचीन ऋषियो की तरह मुझे जगल मे जाने की सलाह दिया करता था।

"दूसरा परिवर्तन मुझमे यह हुआ कि भोजन के सम्बन्ध मे मेरी कोई रुचि-अरुचि नही रही। जो कुछ भी मेरे सम्मुख परोसा जाता, स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट, अच्छा या बुरा, मैं उसे उदासीन भाव से निगल जाता।

"एक और परिवर्तन मुझमे यह हुआ कि मीनाक्षी के मन्दिर[1] के प्रति मेरी धारणा बदल गयी। पहले मैं मन्दिर मे कभी-कभी मित्रो के साथ मूर्तियो का दर्शन करने और मस्तक पर पवित्र विभूति तथा सिन्दूर लगाने के लिए जाया करता था और बिना किसी आध्यात्मिक प्रभाव के मैं घर वापस आ जाया करता था। परन्तु जागरण के बाद मैं प्राय हर सायकाल वहाँ जाने लगा। मैं मन्दिर मे अकेला जाया करता और शिव या मीनाक्षी या नटराज और त्रेसठ सन्तो की मूर्त्तियो के सामने अविचल भाव से खडा हो जाता। मेरे हृदय-सागर मे भावना की तरगें उठने लगती। जब आत्मा ने 'मैं शरीर हूँ' इस विचार का परित्याग कर दिया तो इसका शरीर पर से आधिपत्य जाता रहा। अब यह किसी नये आश्रय की तलाश करने लगी। मैं बार-बार मन्दिर जाने लगा और मेरी आत्मा द्रवित हो उठी। यह आत्मा के साथ भगवान् की लीला थी। मैं जगन्नियन्ता और सृष्टि के भाग्य-विधाता, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक ईश्वर के सम्मुख खडा होता और कभी-कभी उससे उसकी कृपा के लिए प्रार्थना करता कि मेरी भक्ति मे वृद्धि हो और वह त्रेसठ सन्तो की भक्ति की तरह शाश्वत बने। प्राय मैं बिलकुल प्रार्थना नही करता था और अपने अन्तरतम की गहराइयो मे विद्यमान अमृत-प्रवाह को अनन्त सत्ता की ओर प्रवाहित होने देता। मेरी आँखो से अश्रुओ की अजस्र धारा प्रवाहित होकर मेरी आत्मा को आप्लावित कर देती। यह किसी विशेष आनन्द या पीडा की सूचक नही थी। मैं निराशावादी नही था, मुझे जीवन के सम्बन्ध मे कुछ भी ज्ञान नही था और मैं यह भी नही जानता था कि यह दुःखो से भरा हुआ है। मैं पुनर्जन्म के बन्धन से मुक्त होने या मुक्ति की प्राप्ति या आवेश-शून्य होने की किसी इच्छा मे प्रेरित नही हुआ था। मैंने पेरियापुराणम्, बाइबिल और तायुमनावर या तेवरम के कुछ अशो के अतिरिक्त अन्य कोई ग्रन्थ नही पढे थे। मेरी ईश्वर सम्बन्धी धारणा वही थी जो पुराणो मे पायी जाती है। मैंने ब्रह्म, ससार और इसी प्रकार के अन्य तत्त्वो के सम्बन्धो मे कभी नही सुना था। मुझे अभी तक यह ज्ञात नही था कि प्रत्येक वस्तु मे एक अवैयक्तिक यथार्थ सत्ता अनुस्यूत है और ईश्वर तथा मैं, दोनो इसके साथ एकरूप हैं। बाद मे तिरुवन्नामलाई मे जब मैंने ऋभु गीता और अन्य धार्मिक ग्रन्थ पढे, तब मुझे ज्ञात हुआ कि धार्मिक-ग्रन्थो मे उस वस्तु का विश्लेषण और नामकरण है जिसे मैंने बिना विश्लेषण या नाम के स्फुरणात्मक रूप से अनुभव कर लिया था। धार्मिक-

[1] मदुरा का विख्यात मन्दिर।

ग्रन्थो की भाषा मे जागरण के बाद की इस स्थिति को जिसमे मैं इस समय था, **शुद्ध मनस्** या **विज्ञान** या प्रकाश सम्पन्न की स्फुरणा कहते हैं।"

यह उस रहस्यवादी की स्थिति से नितान्त भिन्न था जो थोडी देर के लिए आनन्द की परम अवस्था में पहुँच जाता है, परन्तु फिर उसके चारो ओर अँधेरा छा जाता है। श्रीभगवान् पहले ही आत्म-तत्त्व के साथ निरन्तर एकरूप थे और उन्होने स्पष्ट शब्दो मे कहा है, कि इसके बाद उन्हे और आध्यात्मिक साधना नहीं करनी पडी। आत्म-तत्त्व मे लीन होने के लिए उन्हे और प्रयास नहीं करना पडा क्योकि उस 'अह' का, जिसके विरोध के कारण सघर्ष होता है, लोप हो चुका था और अब सघर्ष के लिए कोई वस्तु शेष नहीं बची थी। सामान्य बाह्य जीवन मे, आत्म-तत्त्व के साथ निरन्तर एकरूपता और अपने सान्निध्य मे आने वाले भक्तो पर कृपा-दृष्टि का भाव स्वाभाविक और अनायास हो गया। इस प्रगति के बावजूद श्रीभगवान् का कथन है कि उनकी आत्मा एक नये आश्रय की खोज कर रही थी। एक ओर सन्तो का अनुकरण और दूसरी ओर यह चिन्ता कि बडे बुजुग क्या कहेगे—ये विचार श्रीभगवान् के जीवन मे द्वित्व की व्यावहारिक स्वीकृति की ओर सकेत करते हैं, जिसका बाद मे लोप हो गया। इस निरन्तर प्रक्रिया का एक शारीरिक सकेत भी था। जागरण के समय से लेकर तिरुवन्नामलाई के देवालय मे प्रवेश तक श्रीभगवान् को शरीर मे लगातार ज्वलन की अनुभूति होती थी।

तीसरा अध्याय

यात्रा

वेंकटरमण के जीवन मे इस परिवर्तन के कारण सघर्ष उठ खडा हुआ। वह स्कूल के काम की अव पहले से भी अधिक उपेक्षा करने लगा। हालांकि यह उपेक्षा अव खेल के लिए न होकर प्राथना और चिन्तन के लिए होती थी। वेंकटरमण के चाचा और उसके वडे भाई उसकी कटु आलोचना करने लगे और उन्हे उसकी वृत्ति विलकुल अव्यावहारिक दिखायी दी। उनकी दृष्टि मे वेंकटरमण एक मध्यवर्गीय परिवार का किशोर पुत्र था जिसे धन कमाने और दूसरो की सहायता करने मे अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिए थी।

जागरण के कोई दो महीने वाद २९ अगस्त को एक अभूतपूर्व घटना घटी। वेंकटरमण ने वेन के अग्रेजी व्याकरण का एक अभ्यास याद नही किया था। दण्डस्वरूप उसे तीन वार यह अभ्यास लिखने के लिए कहा गया। वह दोपहर का समय था और वह ऊपर के कमरे मे अपने वडे भाई के साथ वैठा था। उसने दो वार तो यह अभ्यास लिख लिया, परन्तु जव वह तीसरी वार यह अभ्यास लिखने लगा, तो उसे इस कार्य की व्यर्थता इतने प्रवल रूप से प्रतीत हुई कि उसने कागज एक ओर हटा दिये और पालथी मारकर समाधिस्थ हो गया।

इस दृष्टि से विक्षुव्ध होकर नागास्वामी ने व्यग्य से कहा, "ऐसे आदमी को इन सव चीजो से क्या लेना देना है ?" इसका अथ स्पष्ट था जो व्यक्ति साधु की तरह जीवन व्यतीत करना चाहता है, उसे पारिवारिक जीवन की सुख-सुविधाओ के उपभोग का कोई अधिकार नही है। वेंकटरमण के दिल को यह वात लग गयी और वह सत्य (या न्याय जो कि व्यावहारिक सत्य है) को कठोरतापूर्वक स्वीकार करने की अपनी चारित्रिक विशेपता के कारण तत्क्षण सव कुछ परित्याग करके घर छोडने के लिए तैयार हो गया। उसका विचार तिरुवन्नामलाई और अरुणाचल की पविश्र पहाडी की ओर प्रयाण करने का था।

वेंकटरमण यह अच्छी तरह जानता था कि उसे कौशल से काम लेना होगा, क्योकि हिन्दू परिवारो मे वडो का अनुशासन वहुत कडा होता है। अगर

उसके चाचा तथा भाई को इस रहस्य का पता चल गया तो वे उसे नही जाने देंगे। इसलिए उसने फिर स्कूल जाने और एक विशेप कक्षा मे सम्मिलित होने का वहाना किया जिसमे विद्युत सम्वन्धी पाठ पढाया जाता था।

जब वेंकटरमण वाहर जाने के लिए तैयार हुआ तव उसके भाई ने उससे कहा, "तुम स्कूल तो जा ही रहे हो, नीचे सन्दूक मे से पाँच रुपये निकाल लो और रास्ते मे मेरी कालेज की फीस देते जाना।" उसे यह पता नही था कि वह इस प्रकार अनजाने अपने भाई को यात्रा-व्यय दे रहा है।

ऐसी वात नही है कि वेंकटरमण के परिवार मे आध्यात्मिक चेतना का अभाव था, जिसके कारण उसके परिवार के लोग उसकी उपलब्धि को नही पहचान सके। मन की आत्मोन्मुखी वृत्ति का दूसरो पर प्रत्यक्ष होना आवश्यक नही। यह सामान्यत मानव व्यक्तित्व मे आत्मा के पारस्परिक प्रवाह को प्रेरित करती है और इससे वह दृश्य-शक्ति और दिव्य-ज्योति उत्पन्न होती है जो उनके सम्पक मे आने वालो को अभिभूत कर लेती है। यह पारस्परिक प्रवाह अनिवाय नहीं होता। गुप्त सन्त भी ससार मे हुए हैं। अभी तक वेंकटरमण की आन्तरिक अवस्था के आभामय सौन्दय ने उसके मानव शरीर को परिव्याप्त नही किया था और इसका कुछ भी आभास नही था। जब कुछ साल बाद वेंकटरमण के स्कूल के एक साथी रगा ऐय्यर ने उसे तिरुवन्नामलाई मे देखा, तब वह उसके प्रति भक्ति और सम्मान की भावना से इतना अधिक अभिभूत हो उठा था कि वह उसके चरणो मे गिर पडा था परन्तु अव तो केवल वह अपने सामने अपने चिर-परिचित वेंकटरमण को ही देख रहा था। बाद मे जब उसने इसका कारण पूछा तव श्रीभगवान् ने केवल यही उत्तर दिया था कि किसी ने भी उसके इस परिवतन को नही पहचाना था।

रगा ऐय्यर ने यह भी प्रश्न किया, "तव आपने कम से कम मुझे यह क्यो नहीं वताया कि आप घर छोडकर जा रहे हैं?"

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया, "मैं तुम्हें कैसे वताता? मुझे स्वय भी इसका पता नही था।"

वेंकटरमण की चाची नीचे के कमरे मे थी। उसने उसे पाँच रुपये दिये और उसके आगे भोजन परोसा, जिसे वह जल्दी-जल्दी खा गया। घर में एक एटलस था, उसने इसे खोला और उसे यह पता चला कि तिरुवन्नामलाई के सवसे अधिक निकट का स्टेशन तिन्दीवनम है। वस्तुत तिरुवन्नामलाई तक एक ब्राच लाइन का पहले ही निर्माण हो चुका था, परन्तु एटलस पुराना था और उसमे यह लाइन नही दिखायी गयी थी। वेंकटरमण ने यह अन्दाजा लगाया कि यात्रा के लिए तीन रुपये पर्याप्त होंगे और केवल तीन ही रुपये अपने पास रखे। उसने अपने भाई को एक पत्र लिखा कि वह कोई चिन्ता न

करें और उसकी तलाश न करें। बचे हुए दो रुपये उसने पत्र के साथ ही रख दिये। पत्र इस प्रकार था

"मैं अपने महान् पिता की आज्ञा के अनुसार, उसकी तलाश मे चल पडा हूँ। एक पवित्र कार्य के लिए इसने घर से प्रयाण किया है इसलिए इस कार्य से आप लोग चिन्तित न हो और इसकी तलाश मे पैसा बर्बाद न करें। आपकी कालेज की फीस भी जमा नही करायी गयी। दो रुपये वापस भेजे जा रहे हैं।"

यह सारी घटना श्रीभगवान् के इस कथन को स्पष्ट करती है कि शरीर के बन्धन से ऊपर उठकर वह आत्म-तत्त्व मे, जिसके साथ उन्होने अपने को एकरूप कर दिया था, स्थायी आश्रय की खोज कर रहे थे। स्कूल की विद्युत कक्षा मे सम्मिलित होने का बहाना, हालाकि इससे किसी को हानि नही पहुँची थी, बाद मे सम्भव न होता। न ही तलाश का विचार सम्भव होता, क्योकि जिसने पा लिया है वह खोज नही करता। जब भक्तगण श्रीभगवान् के चरणो मे नतमस्तक हुए, वह परमपिता के साथ एकरूप थे और अब उन्हे उसकी तलाश नही थी। पत्र से यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि प्रेम और भक्ति के मार्ग द्वारा उन्होने तादात्म्य का परम आनन्द प्राप्त कर लिया था। पत्र 'मैं' और 'अपने महान् पिता' से प्रारम्भ होता है तथा इसमे आज्ञा और तलाश की ओर सकेत है, परन्तु दूसरे वाक्य मे अब पत्र-लेखक की ओर से 'मैं' के रूप मे निर्देश न होकर 'यह' के रूप मे निर्देश है और अन्त मे जब हस्ताक्षर करने का समय आया तब उसने अनुभव किया कि 'अह' का लोप हो चुका है, हस्ताक्षर के लिए नाम शेष नही रहा और इसीलिए हस्ताक्षर के स्थान पर डैश (—) से पत्र समाप्त हुआ। उन्होंने फिर कभी पत्र नही लिखा और न कभी अपने नाम के हस्ताक्षर किये हालांकि केवल दो बार अपना पूर्व नाम लिखा था। एक बार, कुछ वर्ष बाद आश्रम मे आने वाले एक चीनी दर्शक को श्रीभगवान् की पुस्तक 'Who Am I' की एक प्रति भेंट की गयी थी। चीनी दर्शक ने बडे सौजन्यपूर्ण ढग से श्रीभगवान् से पुस्तक पर हस्ताक्षर करने के लिए आग्रह किया था। श्रीभगवान् ने पुस्तक हाथ मे ले ली और इस पर सृष्टि के कण-कण मे व्याप्त आद्य ध्वनि 'ॐ' अकित कर दी।

वेंकटरमण ने तीन रुपये ले लिये और बाकी दो वापस कर दिये। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है कि उसने तिरुवन्नामलाई की यात्रा के लिए जितनी धनराशि अपेक्षित थी, उससे अधिक नही ली। वही उसका शरण-स्थल था, एक बार वहाँ पहुँच जाने पर धन या भरण-पोषण का प्रश्न ही नही उठता था।

उसने दोपहर के समय घर छोड़ा था। स्टेशन आधा मील दूर था। उसने तेजी से कदम बढ़ाये क्योंकि गाड़ी बारह बजे छूटती थी। हालांकि उसे देर हो गयी थी, परन्तु जब वह स्टेशन पहुँचा, तो अभी तक गाड़ी नही आयी थी। स्टेशन पर रेल-भाड़े की एक सूची टगी हुई थी। उसने सूची मे देखा कि तिण्डीवनम् तक का तीसरे दरजे का किराया दो रुपये तेरह आने है। उसने टिकट खरीद लिया। उसके पास केवल तीन आने शेष रह गये। अगर उसने कुछ और नीचे तालिका मे देखा होता तो उसे वहाँ तिरुवन्नामलाई का नाम भी दिखायी दे जाता और इस स्थान का किराया ठीक तीन रुपये था। यात्रा की घटनाएँ लक्षोन्मुख जिज्ञासु के सतत प्रयास की प्रतीक है। पहले तो भगवान् की यह कृपा हुई कि उसे यात्रा-व्यय के लिए धनराशि मिल गयी, दूसरे, यद्यपि वह घर से देर से चला था, उसे गाड़ी मिल गयी। पैसे भी उसके पास ठीक उतने ही थे, जितने उसे गन्तव्य स्थान तक पहुँचने के लिए चाहिए थे। परन्तु यात्री की बेपरवाही के कारण उसकी यात्रा लम्बी हो गयी और उसे मार्ग मे अनेक कठिनाइयो और कष्टो का सामना करना पड़ा।

वेंकटरमण अपने आनन्द की तालाश मे खोया हुआ यात्रियो मे चुपचाप बैठा हुआ था। इस प्रकार कई स्टेशन गुजर गये। एक सफेद दाढी वाले मौलवी साहब, जो सन्तो के जीवन और शिक्षाओ पर भाषण कर रहे थे, वेंकटरमण को सम्बोधित कर पूछने लगे

"स्वामी, आप कहाँ जा रहे हैं ?"

"तिरुवन्नामलाई।"

"मैं भी वही जा रहा हूँ।" मौलवी ने जवाब दिया।

"क्या कहा ? आप तिरुवन्नामलाई जा रहे हैं।"

"तिरुवन्नामलाई तो नही, उससे एक स्टेशन आगे।'

"अगला स्टेशन कौन-सा है ?"

"तिरुक्कोइलूर।"

तब अपनी गलती महसूस करते हुए वेंकटरमण ने आश्चय से कहा, "तो क्या गाड़ी तिरुवन्नामलाई तक जाती है ?"

"तुम भी विचित्र यात्री हो ! तुमने कहाँ का टिकिट खरीदा है ?" मौलवी ने पूछा।

"तिण्डीवनम् का।"

"अरे भाई इतनी दूर जाने की जरूरत नहीं है। हम विल्लुपुरम् जक्शन पर उतर जाएँगे और वहाँ से तिरुवन्नामलाई और तिरुक्कोइलूर के लिए गाड़ी बदल लेंगे।

भगवान् की असीम कृपा से वेंकटरमण को आवश्यक जानकारी मिल गयी

थी, वह पुन आत्मानन्द मे लीन हो गया। सूर्यास्त होते-होते गाडी त्रिचनापल्ली पहुँच चुकी थी और उसे भूख सता रही थी। उसने दो पैसे की दो बडी-बडी नाशपातियाँ, जो दक्षिण के पहाडी इलाको मे होती हैं, खरीदी। उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। नाशपाती के पहले ही टुकडे को मुँह मे डालने से उसकी भूख मिट-सी गयी, हालाँकि इससे पहले वह हमेशा भर पेट खाता रहा था। वह जाग्रत निद्रा की आनन्दमयी स्थिति मे था कि प्रात काल तीन बजे गाडी विल्लुपुरम् पहुँची।

वह दिन निकलने तक स्टेशन पर रहा और फिर कसबे मे तिरुवन्नामलाई जाने वाली सडक की तलाश करता रहा। उसने शेष रास्ता पैदल जाने का निर्णय कर लिया था। किसी नामस्तम्भ पर तिरुवन्नामलाई का नाम उसे लिखा हुआ नही मिला और उसने पूछना पसन्द भी नही किया। इधर-उधर चलने के बाद जब वह बहुत थक गया और उसे भूख सताने लगी तो उसने एक होटल मे प्रवेश किया और भोजन लाने के लिए कहा। होटल वाले ने उससे कहा कि भोजन दोपहर को तैयार होगा। इसलिए वह भोजन की प्रतीक्षा करने लगा और तत्काल ही चिन्तन मे डूब गया। थोडी देर प्रतीक्षा करने के बाद भोजन आ गया और भोजन खाने के बाद उसने दो आने भोजन के मूल्य के रूप मे दिये। परन्तु होटल वाला लम्बे बालो वाले, कानो मे बालियाँ डाले तथा साधु की तरह बैठे हुए इस सुन्दर ब्राह्मण युवक से अवश्य प्रभावित हुआ होगा। उसने वेंकटरमण से पूछा कि उसके पास कुल कितने पैसे हैं। जब उसे पता चला कि उसके पास केवल ढाई आने हैं तो उसने पैसे लेने से इन्कार कर दिया। उसने वेंकटरमण को यह भी बताया कि नामस्तम्भ पर उसने जो मामबालापट्टू नाम देखा था, वह तिरुवन्नामलाई के रास्ते मे है। इसके बाद वेंकटरमण वापस स्टेशन लौट आया और उसने मामबालापट्टू का टिकट खरीद लिया क्योकि ढाई आने मे वह इतनी दूर का टिकट ही खरीद सकता था।

वह मध्याह्नोत्तर मामबालापट्टू पहुँचा और वहाँ से उसने पैदल चलना शुरू कर दिया। रात होने तक वह दस मील चल चुका था। उसके सामने एक महान् शिलाखण्ड पर बना हुआ अरयानीनल्लूर का मन्दिर था। इस लम्बी यात्रा से, जिसका अधिकाश भाग उसने दोपहर की गरमी मे तय किया था, वह थककर चूर हो चुका था। विश्राम करने के लिए वह मन्दिर के पास बैठ गया। थोडी देर बाद एक व्यक्ति आया और उसने मन्दिर के पुजारी तथा अन्य लोगो के लिए पूजा के निमित्त मन्दिर खोल दिया। वेंकटरमण ने मन्दिर मे प्रवेश किया और वह स्तम्भो वाले विशाल कक्ष मे बैठ गया, मन्दिर का केवल यही भाग ऐसा था जहाँ अभी पूरी तरह अँधेरा नही छाया था। उसने तत्काल एक उज्ज्वल प्रकाश देखा जो सारे मन्दिर को व्याप्त किये हुए

था। यह सोचकर कि यह प्रकाश अन्दर के कमरे से भगवान् की मूर्त्ति से आ रहा है, वह मूर्त्ति के पास गया परन्तु वहाँ उसे ऐसा कुछ दिखायी नही दिया। न ही यह कोई भौतिक प्रकाश था। यह लुप्त हो गया और वह पुन समाधिस्थ हो गया।

पर शीघ्र ही रसोइए के इस कथन से कि पूजा समाप्त हो गयी है और मन्दिर बन्द करने का समय हो गया है, उसका ध्यान भग हो गया। इसके बाद उसने पुजारी से जाकर पूछा कि क्या कुछ खाने के लिए है। परन्तु उसे निषेधात्मक उत्तर मिला। उसने मन्दिर में प्रात काल तक ठहरने की आज्ञा माँगी परन्तु वह भी नही मिली। पुजारियो ने उससे कहा कि वे वहाँ से पौन मील दूर किलूर के मन्दिर पर पूजा करने जा रहे हैं, पूजा के बाद शायद उसे खाने के लिए कुछ मिल जाए। इसलिए वह उनके साथ हो लिया। ज्यो ही उन्होंने मन्दिर मे प्रवेश किया, वह पुन समाधिस्थ हो गया। नौ बजे पूजा समाप्त हुई और वे सब खाने के लिए बैठ गये। वेंकटरमण ने फिर खाने के लिए पूछा। पहले ऐसा लगा था कि उसे खाने के लिए कुछ नही मिलेगा, परन्तु मन्दिर का ढोलकिया उसकी आकृति और श्रद्धापूण व्यवहार से प्रभावित हो गया था, उसने अपना हिस्सा उसे दे दिया। उसे प्यास लगी, चावलो की पत्तल उसके हाथ में थी, उसे पास ही रहने वाले एक शास्त्री के घर का रास्ता दिखा दिया गया, जहाँ उसे पानी मिल सकता था। घर के सामने खड़ा हुआ जब वह पानी का इन्तजार कर रहा था तो उसके कदम डगमगा गये और वह नींद में अथवा बेहोश होकर गिर पड़ा। थोड़ी देर बाद जब उसे होश आया तब उसने देखा कि उसके चारों ओर कुछ लोग खड़े हैं और उत्सुकतापूवक उसकी ओर देख रहे हैं। उसने पानी पिया, उठ खड़ा हुआ, बिखरे हुए थोड़े से चावल खाये और फिर जमीन पर लेट गया और उसे नीद आ गयी।

अगले प्रात काल सोमवार ३१ अगस्त को गोकुलाष्टमी थी। यह श्रीकृष्ण के जन्मोत्सव का दिन है और हिन्दुओ के लिए यह दिन अत्यन्त पवित्र माना जाता है। तिरुवन्नामलाई अब भी बीस मील दूर था। वेंकटरमण तिरुवन्नामलाई जाने वाली सड़क का पता लगाने के लिए कुछ देर चलता रहा और फिर उसे थकावट महसूस हुई और भूख लगने लगी। उस समय के अधिकाश ब्राह्मणों में प्रचलित प्राचीन रीति-रिवाजो के अनुसार, वह सोने की बालियाँ पहने हुए था और उसकी बालियाँ रत्न-जटित थीं। उसने बालियाँ उतार लीं ताकि उन्हें बेच कर उसे कुछ पैसा मिल जाए और वह शेष यात्रा गाड़ी से करे। परन्तु प्रश्न यह था कि वे बालियाँ कहाँ और किसके पास बेची जाएं। वह यों ही एक घर के सामने आकर रुक गया। यह घर किन्हीं मुथुकृष्णन भागावतार का था। उसने घर के सामने रुककर भोजन के लिए कहा। कृष्ण के जन्मोत्सव के दिन

अपने द्वार पर एक सुन्दर और देदीप्यमान नेत्रो वाले तेजस्वी ब्राह्मण युवक को देखकर गृहिणी उससे अवश्य प्रभावित हुई होगी। उसने उसके सामने खाना परोसा और जिस तरह दो दिन पहले गाडी मे पहला ग्रास खाने के बाद उसकी भूख शान्त हो गयी थी, उसी तरह यहाँ भी हुआ। वह गृहिणी माता के समान उसके पास खडी रही और उसने बडे स्नेह और आग्रह से उसे भोजन कराया।

अब वालियो का प्रश्न था। उनकी कीमत बीस रुपये के लगभग होगी, परन्तु उनके बदले मे उसे केवल चार रुपये उधार चाहिए थे ताकि अगर रास्ते मे कोई और व्यय हो तो उसकी पूर्ति हो सके। किसी प्रकार का सन्देह पैदा न हो, इसलिए उसने यह बहाना किया कि वह तीर्थ-यात्रा पर जा रहा है और उसका सामान खो गया है, अब उसके पास कुछ नही रहा। मुथुक्कृष्णन ने वालियो की परीक्षा की और यह जाँचने के बाद कि वे असली सोने की हैं, उसे चार रुपये दे दिये। उसने युवक का पता नोट कर लिया और अपना पता उसे दे दिया ताकि वह अपनी वालियाँ किसी भी समय छुडा सके। उस भद्र दम्पति ने दोपहर तक उसे अपने यहाँ टिकाया, उसे भोजन कराया और जो मिठाई उन्होने श्रीकृष्ण की पूजा के लिए तैयार की थी, परन्तु जिसका अभी तक भोग नही लगा था, उसे एक बण्डल मे बाँधकर दे दी।

जैसे ही वह उस घर से रवाना हुआ उसने पता फाड दिया क्योकि उसका वालियाँ छुडाने का कोई इरादा नही था। जब उसे यह पता चला कि अगले प्रातःकाल तक कोई गाडी तिरुवण्णामलाई जाने वाली नही है, वह उस रात स्टेशन पर सो रहा। निर्धारित समय से पूर्व कोई व्यक्ति अपनी यात्रा समाप्त नही कर सकता। १ सितम्बर, १८९६ को प्रातःकाल, घर छोडने के तीन दिन बाद, वह तिरुवण्णामलाई स्टेशन पर पहुँचा।

जल्दी-जल्दी कदम बढाते हुए, हर्षोन्मत्त हृदय के साथ वह सीधे ही उस विशाल मन्दिर की ओर चल पडा। स्वागत के मौन सकेत के रूप मे सेहन की तीन ऊँची दीवारो के दरवाजे और अन्य सभी दरवाजे, यहाँ तक कि अन्दर के देवालय के दरवाजे भी खुले थे। अन्दर और कोई नही था, इसलिए उसने अकेले ही अन्दर के मन्दिर मे प्रवेश किया और अपने पिता अरुणाचलेश्वर के सम्मुख भावाभिभूत हो खडा रहा। मिलन के परमानन्द मे खोज पूर्ण हुई और यात्रा की समाप्ति हुई।

चौथा अध्याय

तपस्या

मन्दिर से आने के बाद वेंकटरमण कस्बे मे इधर-उधर घूमने लगा। किसी ने उससे पूछा कि क्या वह अपना सिर मुंडवाएगा। यह सवाल इसलिए पैदा हुआ होगा क्योकि इस बात का कोई बाह्य चिह्न नही था कि इस ब्राह्मण युवक ने ससार का परित्याग कर दिया है या उसका ससार का परित्याग करने का इरादा है। वह तत्काल सिर मुंडवाने के लिए राजी हो गया और उसे अय्यान-कुलम सरोवर पर ले जाया गया जहाँ कई नाई हजामत का धन्धा करते थे। वहाँ उसने अपना सिर मुंडवा दिया। फिर सरोवर की सीढ़ियो पर खडे होकर उसने अपनी शेष धनराशि जो तीन रुपये से कुछ अधिक थी, दूर फेंक दी। इसके बाद उसने फिर कभी धन का स्पर्श नही किया। उसने मिठाइयो की पोटली भी, जिसे वह पकडे हुए था, दूर फेंक दी। "इस शरीर को मिठाई देने की क्या आवश्यकता है ?"

उसने ब्राह्मण जाति के चिह्नरूप यज्ञोपवीत को उतारा और इसे दूर फेंक दिया क्योकि जो व्यक्ति ससार का परित्याग करता है वह न केवल गृह और सम्पत्ति का परित्याग करता है बल्कि अपनी जाति और सभी नागरिक मान-प्रतिष्ठा का भी परित्याग कर देता है।

तब उसने अपनी धोती उतारी, इसमे से एक टुकडा लगोटी के लिए फाड लिया और शेष दूर फेंक दिया।

ससार-परित्याग की क्रियाएँ पूर्ण करने के बाद वह मन्दिर में वापस आया। जैसे ही वह मन्दिर के पास पहुँचा, उसके मन मे यह विचार आया कि धर्म-शास्त्रो के आदेशानुसार बाल कटवाने के बाद व्यक्ति को स्नान करना चाहिए, परन्तु उसने अपने मन मे कहा, "इस शरीर को स्नान का सुख क्यो प्रदान किया जाए ?" तत्काल ही थोडी देर के लिए तेज वर्षा की बौछार आयी और इस प्रकार मन्दिर-प्रवेश से पूव उसका स्नान पूर्ण हो गया।

उसने पुन अन्दर के देवालय मे प्रवेश नहीं किया। इसकी कोई आवश्यकता भी नही थी। वस्तुत तीन वष बाद उसने पुन वहाँ प्रवेश किया। उसने सहस्र स्तम्भो वाले महाकक्ष मे, पत्थर की ऊँची उठी हुई जगह पर अपना आसन जमा लिया। यह जगह चारो ओर से खुली थी, इसकी छत नक्काशी किये हुए स्तम्भों

पर टिकी थी। वहाँ वह आत्मविभोर होकर बैठा रहा। लगातार कई दिन और रात वह विना हिले बैठा रहा। अब उसे ससार की कोई आवश्यकता नही थी। परमसत्ता मे लीन वेंकटरमण को इस छायारूप विश्व मे कोई दिलचस्पी नही रही थी। कई सप्ताह तक विना हिले और बिना कुछ बोले वह इसी अवस्था मे बैठा रहा।

आत्म-साक्षात्कार के बाद जीवन की दूसरी अवस्था प्रारम्भ हुई। पहली अवस्था मे उस ऐश्वर्य को छुपाये रखा और अपने शिक्षको तथा बुजुर्गों के प्रति आज्ञाकारिता की भावना के साथ, जीवन की वर्तमान परिस्थितियो को स्वीकार कर लिया था। दूसरी अवस्था मे बाह्य ससार की पूर्ण उपेक्षा करते हुए वह अन्तर्मुख हुआ और यह अवस्था धीरे-धीरे तीसरी अवस्था मे परिणत हो गयी जो कि आधी शताब्दी तक रही। इस अवधि मे मध्याह्न-कालीन सूर्य के समान उन्होने उन सबको प्रकाशित किया जो उनकी शरण मे आये। ये अवस्थाएँ उनकी मानसिक स्थिति की बाह्य अभिव्यक्ति मात्र थी, उन्होने अनेक बार स्पष्ट रूप से यह घोषणा की थी कि उनके चैतन्य की अवस्था या आध्यात्मिक अनुभव मे कोई परिवर्तन या विकास बिलकुल नही हुआ था।

शेषाद्रिस्वामी नाम के एक साधु कुछ वर्ष पूर्व तिरुवन्नामलाई मे आये थे। उन्होने ब्राह्मणस्वामी—जिस नाम से वेंकटरमण उस समय विख्यात थे—की देखभाल का काम अपने जिम्मे ले लिया। इससे सर्वथा लाभ हुआ हो, ऐसी बात नही है, क्योकि दूसरे लोग शेषाद्रि को थोडा विक्षिप्त समझते थे और यही कारण है कि स्कूल के लडके उसे तग किया करते थे। उन्होने अब उसके आश्रित, जिसे वे 'छोटा शेषाद्रि' कहते थे, को छेडना प्रारम्भ किया। उन्होंने उस पर पत्थर फेंकने शुरू किये, कुछ ने तो बालोचित निर्दयता के कारण और कुछ ने इस कारण कि उन्हें यह देखकर बहुत कुतूहल हुआ कि एक व्यक्ति जिसकी आयु उनसे बहुत अधिक नही थी, बुत की तरह बैठा हुआ था। एक लडके ने जैसा कि बाद मे बताया, वे उस पर इसलिए पत्थर फेंक रहे थे क्योकि वे यह जानना चाहते थे कि वह असली स्वामी है या नकली।

शेषाद्रिस्वामी बच्चो को दूर रखने की कोशिश किया करते थे, परन्तु उन्हें बहुत सफलता नही मिली। कई बार तो इसका उल्टा असर होता था। इसलिए ब्राह्मणस्वामी ने पाताललिङ्गम् मे शरण ली। यह लिगम सहस्र स्तम्भो वाले महाकक्ष मे अँधेरा और सीलन से भरा एक तहखाना था जहाँ सूर्य की किरणें प्रवेश नही कर पाती थी। मानव-प्राणी तो कदाचित ही इस स्थान मे प्रवेश करते थे, केवल कीडो और मच्छरो की वहाँ बहुतायत थी। वे उनकी जाँघो से चिपट गये, उनमे जख्म हो गये, तथा उनसे खून और पीप बहने लगी। जख्मो के निशान जीवन-पर्यन्त बने रहे। उन्होने जो कुछ सप्ताह वहाँ

गुजारे, वे नरक-तुल्य थे, परन्तु ब्राह्मणस्वामी परमानन्द में मग्न थे, उन पर इस पीडा का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पडा, यह उनके लिए सवथा अवास्तविक थी। एक श्रद्धालु महिला रतनाम्मल ने उन्हें भोजन पहुँचाने के लिए तहखाने में प्रवेश किया और उनसे प्रार्थना की कि वे वह स्थान छोडकर उसके घर आ जाएँ, परन्तु इस विनती का उन पर कोई प्रभाव नही पडा, उन्होने इसे अनसुना कर दिया। वह एक साफ कपडा वहाँ छोड गयी और उसने उनसे प्रार्थना की कि वह उस पर बैठें या लेटें या उससे कीडो को हटाएँ परन्तु उन्होने उस कपडे का स्पर्श तक नही किया।

उन शरारती लडको को अँधेरे तहखाने मे जाने से डर लगता था इसलिए वे इसके प्रवेश-द्वार पर पत्थर या टूटे-फूटे वर्तन फेंकते थे और ये उससे टकरा कर दूर जा पडते थे। शेषाद्रिस्वामी रक्षा के लिए सन्नद्ध हो गये परन्तु इससे केवल लडको को शरारत करने का और बढ़ावा मिला। एक दिन दोपहर को वेंकटाचल मुदाली नामक एक व्यक्ति सहस्र स्तम्भो वाले महाकक्ष मे आये और उन्हें लडको को मन्दिर के निकट पत्थर फेंकते हुए देखकर उन पर बहुत क्रोध आया। उन्होंने एक छडी ली और लडको को दूर भगा दिया। वापस आने पर उन्होंने शेषाद्रिस्वामी को महाकक्ष के अँधेरे तहखाने मे से वाहर निकलते हुए देखा। एक क्षण के लिए वह स्तम्भित हो गये, परन्तु जल्दी ही सँभल गये और उन्होंने शेषाद्रि से पूछा कि कही उन्हे चोट तो नही लगी। शेषाद्रि ने उत्तर दिया, "नही, परन्तु आप अन्दर जाइए और छोटे स्वामी की देखभाल कीजिए," और यह कहकर वे चले गये।

आश्चर्यचकित मुदाली ने तहखाने की सीढियो पर पैर रखे। प्रकाश से अँधेरे में पहुँचने पर पहले-पहल तो उन्हें कुछ दिखायी नही दिया परन्तु धीरे-धीरे उनकी आँखें इसकी अभ्यस्त हो गयीं और उन्हें छोटे स्वामी दिखायी देने लगे। जो कुछ उन्होंने तहखाने मे देखा उससे मुदाली स्तब्ध रह गये और उन्होंने वाहर आकर एक साधु से, जो निकट ही फूलो के वगीचे में अपने कुछ शिष्यों के साथ काम कर रहा था, यह सव कथा कह सुनायी। वह भी देखने के लिए अन्दर आये। छोटे स्वामी न हिले, न कुछ बोले। उन्हें उन सव की उपस्थिति का भान ही नहीं हुआ। इसलिए उन लोगों ने उन्हें उठा लिया और उन्हें वाहर ले आये। उन्होंने उन को सुब्रह्मण्यम् के देवालय के सामने रख दिया, उस समय तक वह वेसुध थे।[1]

---

[1] श्रीभगवान् की तपोभूमि होने के कारण पाताललिङ्गम् का पुनरुद्धार किया गया है। अब इस स्थान को ठीक ढग से रखा जाता है। यहाँ विजली की रोशनी का प्रबन्ध किया गया है और श्रीभगवान का एक चित्र रखा गया है।

लगभग दो मास तक ब्राह्मणस्वामी सुब्रह्मण्यम् देवालय मे ठहरे। वह निश्चल अवस्था मे समाधिस्थ होकर बैठ जाते और कई वार भोजन भी उनके मुख मे डालना पडता क्योकि उन्हे तो भोजन की जरा भी चिन्ता नही थी। कई सप्ताह तक तो उन्होने लँगोटी बाँधने की चिन्ता भी नही की। देवालय मे एक मौनीस्वामी रहा करते थे। वही उनकी देखभाल किया करते थे।

मन्दिर मे उमा की प्रतिमा को प्रतिदिन दूध, पानी, हल्दी, खाँड, केले तथा अन्य पदार्थों के मिश्रण से स्नान कराया जाता था और मौनीस्वामी इस विचित्र मिश्रण का गिलास भरकर प्रतिदिन छोटे स्वामी के लिए ले जाते थे। वह इस मिश्रण की गन्ध और स्वाद की चिन्ता किये विना इसे निगल जाते थे, केवल यही उनकी खुराक थी। कुछ समय बाद मन्दिर के पुजारी ने इसे देख लिया और उसने ब्राह्मणस्वामी के लिए मौनीस्वामी को प्रतिदिन शुद्ध दूध देने की व्यवस्था कर दी।

कुछ सप्ताह बाद ब्राह्मणस्वामी देवालय के उद्यान मे चले गये, जो लम्बी-लम्बी करवीर की झाडियो से भरा हुआ था, कई झाडियाँ तो दस-बारह फुट ऊँची थी। यहाँ भी वे परमानन्द मे लीन हो बैठे रहते थे। परमानन्द की इस अवस्था मे वह चलने भी लगते थे क्योकि जब उन्हें होश आता, वह अपने को किसी और ही झाडी के नीचे पाते, उन्हे यह विलकुल स्मरण ही नही रहता था कि वह वहाँ किस प्रकार पहुँच गये। इसके वाद वह मन्दिर की गाडियो वाले महाकक्ष मे रहने लगे। इन गाडियो पर धार्मिक समारोहो के अवसर पर देव-प्रतिमाओ का जुलूस निकाला जाता था। यहाँ भी जब कभी उन्हे होश आता, वह अपने को भिन्न स्थान पर पाते और यह देखते कि मार्ग की विभिन्न वाधाओ को उन्होंने विना अपने शरीर को क्षति पहुँचाये, अनजाने ही पार कर लिया है।

इसके वाद वह कुछ समय के लिए सडक के किनारे स्थित एक वृक्ष के नीचे बैठे। यह सडक मन्दिर की वाहरी दीवार के अन्दर इसके अहाते के चारो ओर है और मन्दिर के जुलूसो के लिए इसका उपयोग किया जाता है। वह कुछ समय के लिए यहाँ और मगाई पिल्लामार देवालय मे ठहरे। प्रतिवर्ष सहस्रो तीर्थयात्री नवम्वर या दिसम्वर मे पडने वाले कार्त्तिकेय के समारोह मे भाग लेते हैं। इस अवसर पर जैसा कि छठे अध्याय मे वताया गया है, शिव के प्रकाश-स्तम्भ के रूप मे आविर्भाव की स्मृति-स्वरूप अरुणाचल के शिखर पर प्रकाश किया जाता है। इस वर्ष वहुत से तीर्थयात्री तरुणस्वामी के दर्शनो या उनके सम्मुख साष्टाग प्रणाम करने के लिए आये। इसी अवसर पर उनके एक सर्वप्रथम भक्त नियमित रूप से उनकी सेवा मे रहने लगे। उद्दण्डी नयीनार ने आध्यात्मिक ग्रन्थो का अध्ययन किया था परन्तु उन्हे इससे आध्यात्मिक शान्ति नही मिली थी। तरुणस्वामी को निरन्तर समाधि मे लीन और अपने शरीर

के प्रति सर्वथा उदासीन देखकर उन्होने अनुभव किया कि तरुणस्वामी ने साक्षात्कार कर लिया है और उन्ही के द्वारा उन्हे शान्ति मिलेगी। स्वामी की सेवा से उन्हे प्रसन्नता होती थी, परन्तु वह उनके लिए कुछ अधिक सेवा-कार्य नही कर पाते थे। वह दर्शकों को उनके निकट नही आने देते थे और लडको को स्वामी पर अत्याचार नही करने देते थे। उनका अधिकाश समय अद्वैत के परम सिद्धान्त के प्रतिपादक तमिल-ग्रन्थो के उच्च स्वर से अध्ययन मे व्यतीत होता था। वह स्वामीजी से आध्यात्मिक उपदेश ग्रहण करने के लिए अत्यन्त लालायित थे, परन्तु स्वामीजी उनके साथ कभी नही बोले और वह स्वय पहले बोलकर स्वामीजी का मौन भग नही करना चाहते थे।

इस समय के लगभग, अन्नामलाई ताम्बीराम नामक एक व्यक्ति उस वृक्ष के पास से गुजरे जहाँ तरुणस्वामी बैठे हुए थे। वह मौनभाव से निश्चित बैठे हुए स्वामी के दिव्य सौन्दय से इतने अधिक प्रभावित हुए कि एकाएक उनका मस्तक नत हो गया और इसके बाद वह प्रतिदिन उनके चरणो मे नमस्कार करने के लिए आने लगे। वह एक साधु थे जो अपने साथियो के साथ भक्तिगीत गाते हुए नगर मे से गुजरा करते थे। जो कुछ उन्हें दान मे खाने को मिलता, वह उसे गरीबो मे बाँट देते और नगर के बाहर स्थित अपने आधीन गुरु (गुरुओ के वश के आदि प्रवर्त्तक) की समाधि पर जाकर पूजा किया करते।

कुछ समय बाद उनके मन मे विचार आया कि गुरुमूत्तम् पर जैसा कि उस देवालय का नाम विख्यात था, तरुणस्वामी की साधना मे कम बाधा पडेगी और शीत ऋतु के कारण उन्हें यहाँ अच्छा आश्रय मिलेगा। उन्हे यह सुझाव देने मे पहले कुछ सकोच हुआ। इसलिए उन्होने पहले इस विषय में नयीनार के साथ बात की क्योकि उनमे से किसी ने भी कभी स्वामी के साथ बात नहीं की थी। अन्त मे उसने सुझाव देने के लिए साहस बटोरा। स्वामी मान गये और फरवरी १८९७ में, तिरुवन्नामलाई में उनके आगमन को अभी ६ महीने भी नहीं हुए थे कि वह अन्नामलाई ताम्बीराम के साथ गुरुमूत्तम् पर चले गये।

वहाँ पहुँचने के बाद उनकी जीवन-पद्धति मे कोई परिवर्तन नही हुआ। देवालय का फर्श चीटियो से भरा हुआ था, परन्तु स्वामी ने अपने शरीर पर चीटियो के रेंगने और काटने की तनिक भी चिन्ता नहीं की। कुछ समय बाद एक कोने मे उनके बैठने के लिए स्टूल रख दिया गया और चीटियो से दूर रखने के लिए इसके पाये पानी मे डुबा दिये गये। स्वामी दीवार का सहारा लेकर बैठते थे इसलिए चीटियाँ उनके शरीर पर पुन चढ आती थी। वहाँ निरन्तर बैठने से, दीवार पर उनकी पीठ का स्थायी निशान बन गया।

गुरुमूत्तम् पर तीथ-यात्रियो और दर्शको का ताँता लग गया और अनेको व्यक्ति आकर स्वामी के सम्मुख साष्टाग प्रणाम करने लगे। कई उनके पास अपनी मनोकामनाओ की पूर्ति के लिए प्राथना करने आते और कई विशुद्ध श्रद्धा-भाव से उनके पास आते। लोगो की भीड इतनी अधिक हो गयी कि उनकी पीठिका के चारो ओर वाँसो का एक घेरा वनाना आवश्यक हो गया ताकि लोगो को स्वामी का स्पर्श करने से रोका जा सके।

पहले ताम्वीराम अपने गुरु के मन्दिर पर चढाये गये चढावे मे से स्वामी के लिए आवश्यक स्वल्प भोजन दे दिया करते थे, परन्तु वह शीघ्र ही तिरुवन्नामलाई से चले गये। वह नयीनार से कह गये कि वह एक सप्ताह मे वापस आ जाएँगे, परन्तु वह एक साल से भी अधिक समय वाहर रहे। कुछ सप्ताह वाद नयीनार को भी अपने मठ मे जाना पडा और स्वामी के पास उनकी देखभाल करने वाला कोई भी नही रहा। भोजन के सम्वन्ध मे कोई कठिनाई नही थी। अव तक स्वामी के कई ऐसे भक्त वन चुके थे जो उनके लिए नियमपूर्वक भोजन देना चाहते थे। अधिक आवश्यकता तो दर्शको की भीड को परे रखने की थी।

शीघ्र ही एक और नियमित सेवक स्वामीजी की सेवा मे आ गये। पलानी-स्वामी नामक एक मलयाली साधु ने भगवान् विनायक की पूजा मे अपना जीवन समर्पित कर दिया था। वह कठोर तपस्या का जीवन विता रहे थे, दिन मे केवल एक वार खाना खाते थे और वह भी पूजा मे भगवान् को समर्पित चढावे मे से, स्वाद के लिए भोजन मे वह नमक तक नही मिलाते थे। उनके एक मित्र, जिनका नाम श्रीनिवास ऐय्यर था, ने एक दिन उनसे कहा, "आप इस पत्थर के स्वामी के चरणो मे जीवन क्यो विता रहे हो ? गुरुमूर्त्तम् पर एक तरुणस्वामी रहते हैं। वह पुराणो मे वर्णित ध्रुव के समान तपस्या मे लीन हैं। अगर आप उनके चरणो मे जाएँ और उनकी सेवा मे अपने को अर्पित कर दें तो आपका जीवन धन्य हो जाए।"

इसी समय दूसरे व्यक्तियो ने भी उन मलयाली साधु से तरुणस्वामी की चर्चा की और कहा कि उनके पास कोई सेवक नही है और उनकी सेवा से वढकर और वडा वरदान क्या हो सकता है। मलयाली साधु गुरुमूत्तम् पर स्वामी के दशनो के लिए गये। उनके दर्शन मात्र से ही वह भावविभोर हो उठे। कुछ समय तक कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर उन्होने विनायक के मन्दिर मे अपनी पूजा जारी रखी, परन्तु उनका हृदय तो स्वामी के चरणो मे था और शीघ्र ही वे उनकी भक्ति मे तन्मय हो गये। इक्कीस वप तक वह स्वामी की सेवा मे रहे।

वह स्वामीजी की कोई विशेष सेवा नही कर सकते थे। भक्तजन उन्हे भेंट

में भोज्य-पदार्थ दे जाते थे परन्तु स्वामी प्रतिदिन दोपहर को भोजन का केवल एक प्याला स्वीकार करते थे, शेष भोज्य-पदार्थ भक्तों में प्रसाद के रूप में बाँट दिये जाते थे। अगर उन्हें किसी काम के लिए शहर जाना होता था—प्राय किसी मित्र से कोई आध्यात्मिक या भक्ति सम्बन्धी पुस्तक लेने के लिए—तो वह मन्दिर को ताला लगा जाते और वापस आकर देखते कि वह स्वामी को जिस स्थिति मे छोड गये थे, उसी स्थिति मे वह बैठे हैं।

स्वामी अपने शरीर के प्रति बिलकुल उदासीन थे। उन्होंने इसकी पूर्णत उपेक्षा कर दी थी। वह स्नान नही करते थे, उनके बाल बढ गये थे और उन्होंने जटाओ का रूप धारण कर लिया था, उनके हाथो के नाखून बहुत लम्बे हो गये थे और वे मुड गये थे। कुछ ने इसे बडी आयु का चिह्न समझा और वे आपस मे कानाफूसी करने लगे कि उन्होंने यौगिक सिद्धियो के माध्यम से अपने शरीर के यौवन को बनाये रखा है। वास्तव मे उनका शरीर बहुत कृश हो गया था। जब उन्हें बाहर जाने की जरूरत होती, तो वह बडी मुश्किल से खडे हो पाते थे। वह उठने की कोशिश करते, परन्तु फिर गिर पडते, दुबलता के कारण उन्हे चक्कर आने लगते, अपने पैरो पर खडा होने के लिए उन्हें कई बार कोशिश करनी पडती। एक बार वह दरवाजे तक पहुंच गये और दोनो हाथों से उसे पकडे हुए थे कि उन्होंने देखा पलानीस्वामी उन्हे सहारा दिये हुए हैं। कभी किसी की सहायता लेना वह पसन्द नही करते थे, उन्होंने कहा, "आप मुझे क्यो पकडे हुए हैं?" और पलानीस्वामी ने उत्तर दिया, "स्वामी गिरने ही वाले थे और मैंने गिरने से रोकने के लिए आपको सहारा दिया है।"

जिस व्यक्ति ने दिव्य-सत्ता के साथ एकता प्राप्त कर ली है, कई बार उसकी देव-प्रतिमा की तरह कर्पूर-प्रज्वलन, चन्दन-लेप, पुष्पोपहार, तमण और वेद-मन्त्रोच्चारण के साथ पूजा की जाती है। जब ताम्बीराम गुरुमूर्तम् में थे तब उन्होंने इस तरीके से स्वामी की पूजा करने का निणय किया। पहले दिन स्वामी सहसा उनके चक्कर मे आ गये और उन्हे अपने उद्देश्य मे सफलता मिल गयी, परन्तु अगले दिन जब ताम्बीराम अपना दैनिक भोजन का प्याला लिये हुए आये, उन्होंने स्वामी की दीवार के ऊपर तमिल मे कोयले से लिखे हुए ये शब्द देखे, 'इसके लिए यही सेवा पर्याप्त है' जिसका अभिप्राय यह था कि इस शरीर के लिए जो भोजन दिया जाता है, वही केवल पर्याप्त है।

भक्तो को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि स्वामी को लौकिक शिक्षा भी मिली थी और वह पढ तथा लिख सकते थे। अब स्वामी के दर्शनो के लिए आने वाले एक व्यक्ति ने उनके जन्म-स्थान और नाम के सम्बन्ध मे पता लगाने का निश्चय किया। वे एक बुजुर्ग व्यक्ति थे, वेंकटराम ऐय्यर उनका नाम था और शहर के तालुक कार्यालय मे वह मुख्य लेखपाल थे। वह प्रात काल प्रतिदिन

वहाँ आया करते थे और काम पर जाने से पहले स्वामी की उपस्थिति मे कुछ देर तक ध्यानावस्थित होकर बैठा करते थे। मौन की प्रतिज्ञा का सभी सम्मान करते हैं और स्वामी के न वोलने के कारण लोग यह समझते थे कि स्वामी ने मौन व्रत धारण कर रखा है। परन्तु जो व्यक्ति प्राय नही वोलता वह लिखकर बात करता है। अव जव वेंकटराम ऐय्यर को इस वात का पता चल गया कि स्वामी लिख सकते हैं तो उन्होने उनका जन्म-स्थान और नाम जानने का सकल्प कर लिया। उन्होंने उनके सामने पलानीस्वामी द्वारा लायी गयी पुस्तक पर कागज-पेन्सिल लाकर रखा और स्वामी से अपना नाम तथा जन्म-स्थान लिखने की प्राथना की।

स्वामी ने वेंकटराम की प्रार्थना का तव तक कोई प्रत्युत्तर नही दिया जव तक उन्होने यह घोषणा नही कर दी कि वाछित सूचना प्राप्त किये विना न तो वह खाना खाएँगे और न दफ्तर जाएँगे। तव स्वामी ने अंग्रेजी मे लिखा, 'वेंकटरमण, तिरुचुजही'। स्वामी के अंग्रेजी जानने से लोगो को और आश्चय हुआ परन्तु वेंकटराम 'तिरुचुजही' शब्द से अचम्भे मे पड गये।

स्वामी ने उस पुस्तक को जिस पर कागज रखा हुआ था, यह जानने के लिए उठाया कि क्या यह तमिल मे है। यह पुस्तक पेरियापुराणम् थी, जिसका उन पर आध्यात्मिक जागरण से पहले वहुत प्रभाव पडा था। उन्होंने पुस्तक मे वह स्थल ढूंढा, जहाँ तिरुचुजही का एक नगर के रूप मे वणन किया गया है और सुन्दरमूर्त्तिस्वामी ने इसकी प्रशस्ति मे गीत गाया है। स्वामी ने यह स्थल वेंकटराम ऐय्यर को दिखाया।

मई १८९८ मे, स्वामी को गुरुमूत्तम मे रहते हुए एक साल से ऊपर हो चुका था, वह पास के एक आम के वगीचे मे निवास के लिए चले गये। इसके मालिक वेंकटराम नायकर ने पलानीस्वामी के आगे स्थान-परिवतन का यह सुझाव रखा था क्योकि वगीचे मे ताला लगाया जा सकता था और स्वामी एकान्तवास का लाभ उठा सकते थे। स्वामी और पलानीस्वामी ने चौकीदार की कुटिया मे अपना डेरा जमाया। वगीचे के स्वामी ने माली को यह आदेश दे दिया कि पलानीस्वामी की आज्ञा के विना किसी को वगीचे मे प्रवेश करने की अनुमति न दी जाए।

स्वामी यहाँ छह महीने रहे और यही उन्होने अगाध ज्ञान प्राप्त किया। ज्ञान लाभ की किसी इच्छा के कारण ऐसा नही हुआ, अपितु यह ज्ञानाजन एक भक्त की सहायता करने की शुद्ध इच्छा के कारण हुआ। पलानीस्वामी आध्यात्मिक दशन के ग्रन्थ अध्ययन करने के लिए लाया करते थे, परन्तु जिन ग्रन्थो तक उनकी पहुँच थी, वे तमिल मे थे, जिसका उन्हे वहुत कम ज्ञान था और इसलिए उन्हे उन ग्रन्थो को समझने के लिए घोर श्रम करना पडता था।

इस प्रकार उन्हें कठोर श्रम करते हुए देखकर स्वामी ने उन ग्रन्थो का पूण पारायण किया और उनकी शिक्षा का सक्षिप्त सार पलानीस्वामी के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। अपने पूव आध्यात्मिक ज्ञान के कारण वह एक ही दृष्टि मे ग्रथ के गूढ तथ्यो को समझ जाते थे और अपनी आश्चयजनक स्मरणशक्ति के कारण वह जो कुछ पढते थे, उन्हें कण्ठस्थ हो जता था, इसलिए वह विना किसी प्रयास के पण्डित वन गये। इसी प्रकार उन्होने वाद मे सस्कृत, तेलुगु और मलयालम मे लिखी हुई पुस्तको के अध्ययन से और इन भाषाओ मे प्रश्नो के उत्तर देकर उपरोक्त भाषाओ का ज्ञान प्राप्त किया।

पाँचवाँ अध्याय

वापसी का प्रश्न

जब तरुण वेंकटरमण ने घर छोडा, तब सारा परिवार अत्यन्त आश्चर्य मे पड गया। उसके बदले हुए रग-ढग और परिवार की भवितव्यता के बावजूद किसी ने इस सम्बन्ध मे कल्पना तक न की थी। तलाश और पूछ-ताछ निष्फल सिद्ध हुई। उसकी माँ, जो उस समय मानमदुरा मे अपने सम्बन्धियो के यहाँ ठहरी हुई थी, सबसे अधिक दुखी हुई। उसने अपने देवरो सुब्बियर और नेल्लियाप्पियर से वेंकटरमण की तलाश मे बाहर जाने की प्रार्थना की। ऐसी अफवाह सुनी गयी कि वेंकटरमण एक नाटक कम्पनी मे शामिल हो गया है जो त्रिवेन्द्रम मे परम्परागत धार्मिक नाटक दिखा रही है। नेल्लियाप्पियर तुरन्त वहाँ गये और उन्होने कई नाटक कम्पनियो से पूछ-ताछ की, परन्तु परिणाम कोई न निकला। परन्तु अलगम्माल कहाँ हार मानने वाली थी। उसने दूसरी बार उससे जाने का आग्रह किया और कहा कि वह उसे भी अपने साथ ले चले। त्रिवेन्द्रम में उसने वेंकटरमण की आयु और कद के तथा उसके जैसे बालो वाले एक युवक को देखा, जिसने उसे देखते ही मुँह मोड लिया और दूर चला गया। उसे पूरा विश्वास हो गया कि यह उसका वेंकटरमण ही था और वह उससे दूर भाग रहा था। वह अत्यन्त निराश होकर घर वापस लौट आयी।

वेंकटरमण के चाचा सुब्बियर का, जिनके पास वह मदुरा मे ठहरा था, अगस्त १८९८ मे देहान्त हो गया। नेल्लियाप्पियर और उनका परिवार मृत्यु-सस्कार मे सम्मिलित होने गये और वहाँ उन्हे पहली बार वेंकटरमण के गुम होने का समाचार मिला। मृत्यु-सस्कार मे सम्मिलित होने वाले एक युवक ने उन्हे बताया कि जब वह हाल ही मे मदुरा के एक मठ मे गया, तो वहाँ उसने अन्नामलाई ताम्बीराम नामक एक व्यक्ति को भक्तिभावपूवक तिरुवन्नामलाई के एक तरुणस्वामी की चर्चा करते हुए सुना था। यह जानने के पश्चात् कि स्वामी तिरुचुजही के रहने वाले हैं, उसने उनके सम्बन्ध मे विस्तार से पूछा था। उसे यह ज्ञात हुआ कि उनका नाम वेंकटरमण है। उसने निष्कर्ष रूप मे कहा, "यह जरूर आपका वेंकटरमण होगा और अब वह एक सम्मानित स्वामी है।"

नेल्लियाप्पियर मानमदुरा में दूसरे दरजे के वकील थे। इसलिए जहाँ तक जरूरत पड़ने पर छुट्टी लेने का सवाल था, वह अपने मालिक स्वय थे। यह समाचार सुनते ही वह एकदम एक मित्र के साथ इस समाचार की सत्यता जानने के लिए तिरुवन्नामलाई के लिए रवाना हो गये। वह स्वामी के पास गये। स्वामी आमो के बगीचे में ठहरे हुए थे और इस बगीचे के मालिक वेंकटराम नायकर ने उन्हे अन्दर जाने से रोक दिया, "वह मौनी है। आप अन्दर जाकर उसकी तपस्या मे विघ्न क्यो डालते हो?" जब उन्होने यह कहा कि वह स्वामी के सम्बन्धी हैं, तो उसने उनसे कहा कि वह अधिक से अधिक यह कर सकता है कि वह स्वामी को एक पत्र लिखकर भेज दें। नेल्लियाप्पियर ने कागज के एक टुकड़े पर लिखा, "मानमदुरा का वकील नेल्लियाप्पियर आपसे मिलना चाहता है।"

लौकिक-व्यवहारो के प्रति तीक्ष्ण दृष्टि के साथ-साथ स्वामी उनके प्रति पूर्णत आसक्त थे और इसी कारण उनके अनेक भक्तजन विस्मय मे पड़ जाते थे। उन्होने देखा कि जिस कागज पर उनके चाचा ने सदेश लिखकर भेजा था, वह पजीयन विभाग से आया था और इसकी दूसरी तरफ उनके बड़े भाई नागास्वामी के हाथ का लिखा हुआ कुछ कार्यालय सम्बन्धी विषय था। इससे उन्होंने यह परिणाम निकाला कि नागास्वामी ने पजीयन विभाग में क्लर्क की नौकरी कर ली है। इसी तरह बाद के वर्षों मे वह पत्र को उल्टा करके देखा करते और इसे खोलने से पहले इस पर लिखे पते और डाक-मुहर को ध्यान से देखा करते।

उन्होने दर्शको को अन्दर आने की आज्ञा दे दी, परन्तु जब वह अन्दर आ गये, स्वामी मौन होकर बैठे रहे और उन्होने अभी-अभी उनके पत्र की परीक्षा करने मे जो दिलचस्पी दिखायी थी, उसका चिह्नमात्र भी अब दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। जरा भी दिलचस्पी प्रदर्शित करने से वह यह समझते कि स्वामी के घर लौटने की आशा है, जो कि सर्वथा निष्फल थी। स्वामी अस्त-व्यस्त दशा में बिना स्नान किये बैठे थे, उनके नाखून बढ़े हुए थे और बालो ने जटाओं का रूप धारण कर लिया था। नेल्लियाप्पियर उन्हें इस अवस्था मे देखकर अत्यन्त भावविभोर हो उठे। स्वामी के मौनव्रत का ध्यान रखते हुए उन्होंने पलानीस्वामी और नायकर को बजाय स्वय स्वामी को सम्बोधित करते हुए कहा, "मुझे यह देखकर अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि मेरे परिवार के एक सदस्य ने इतनी उच्च स्थिति प्राप्त कर ली है, परन्तु आपको भौतिक सुविधाओ की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।"

स्वामी के सम्बन्धी चाहते थे कि वे उनके निकट रहें। वे स्वामी पर अपनी प्रतिज्ञाएँ तोड़ने या जीवन-पद्धति बदलने के लिए कोई दबाव नही

डालेंगे। वह वेशक मौनी और तपस्वी का जीवन व्यतीत करें, परन्तु मानमदुरा मे नेल्लियाप्पियर के घर के निकट एक महान् महात्मा के मन्दिर मे रहे। उनकी शान्ति मे बाधा डाले बिना उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति की जाएगी। वकील ने स्वामी से अत्यन्त अनुनय-विनय की, परन्तु कोई परिणाम न निकला। स्वामी निश्चल होकर बैठे रहे मानो उन्होने कुछ सुना ही न हो। नेल्लियाप्पियर के पास अपनी हार मानने के अलावा और कोई चारा न था। उन्होने अलगम्माल को हर्ष और विपाद मिश्रित यह समाचार लिख भेजा कि उनका पुत्र तो मिल गया है, परन्तु अब उसमे महान् परिवर्तन आ गया है और अब वह वापस घर नही लौटेगा। तिरुवन्नामलाई मे पाँच दिन ठहरने के वाद नेल्लियाप्पियर मानमदुरा वापस आ गये।

इसके थोडे समय वाद स्वामी ने आमो का वगीचा छोड दिया और अय्यानकुलम सरोवर के पश्चिम मे स्थित अरुणागिरिनाथार के एक छोटे-से मन्दिर मे चले गये। सेवा के निमित्त दूसरो पर निभर रहने के लिए सदैव अनुत्सुक स्वामी ने पलानीस्वामी द्वारा भोजन की व्यवस्था किये जाने के स्थान पर अब प्रतिदिन स्वय वाहर जाने और भिक्षा माँगने का निणय किया। उन्होने पलानीस्वामी से कहा, "आप भोजन माँगने के लिए एक तरफ जाएँ और मैं दूसरी तरफ जाऊँगा। और हम दोनो अब इकट्ठे नही रहेंगे।" पलानीस्वामी के लिए यह भयकर आघात था। स्वामी के प्रति भक्ति को ही वह अपनी पूजा समझते थे। वह भिक्षा माँगने के लिए स्वामी के आदेशानुसार अकेले गये परन्तु रात होने पर वह वापस अरुणागिरिनाथार के मन्दिर मे आ गये। वह अपने स्वामी के विना कैसे रह सकते थे ? उन्हे ठहरने की आज्ञा दे दी गयी।

स्वामी अव भी मौन धारण किये हुए थे। वह घर की दहलीज मे जाकर खडे हो जाते और ताली बजाते। अगर उन्हे भोजन दिया जाता तो वह इसे अपने हाथो मे ले लेते और सडक पर खडे-खडे खा जाते। अगर उन्हे भोजन के लिए घर आमन्त्रित किया जाता तो वह घर मे कभी भी प्रवेश नही करते थे। वह हर रोज दूसरी गली मे जाते और एक ही घर से दो बार भिक्षा नही माँगते थे। उन्होने वाद मे कहा कि मैंने तिरुवन्नामलाई की लगभग सभी गलियो मे भिक्षाटन किया था।

अरुणागिरिनाथार मन्दिर मे एक महीना ठहरने के वाद उन्होने उस विशाल मन्दिर के एक बुर्ज और अलारी उद्यान मे डेरा जमाया। वह जहाँ कही भी जाते, भक्तजनो का ताँता उनके पीछे लगा रहता। वह वहाँ केवल एक सप्ताह ठहरे और फिर अरुणाचल की पूर्वी पर्वतमाला पर स्थित पवजहाकुनरु गये और वहाँ मन्दिर मे ठहरे। वह यहाँ पहले की भाँति समाधिस्थ होकर बैठते और

जब पलानीस्वामी वहाँ न होते तभी भिक्षाटन के लिए उस स्थान को छोडकर जाते। प्राय ऐसा होता कि मन्दिर का पुजारी पूजा करने के वाद ताला लगाकर चला जाता, वह यह भी देखने का कष्ट नही करता कि स्वामी अन्दर हैं या नही।

यही पर अलगम्माल ने अपने पुत्र के दर्शन किये। नेल्लियाप्पियर से समाचार मिलने के बाद उसने क्रिसमस की छुट्टियो की प्रतीक्षा की, क्योकि उन्हीं दिनो उसका सवसे बडा लडका उसके साथ चल सकता था। इसके वाद उसने उसके साथ तिरुवन्नामलाई के लिए प्रस्थान किया। उसने वेंकटरमण के कृश शरीर और जटाओ के वावजूद उसे तत्काल पहचान लिया। पुत्र-स्नेह से उसका हृदय करुणार्द्र हो उठा और उसने उससे घर वापस लौट चलने की प्रार्थना की, परन्तु वह अविचलित वैठा रहा, न उसने कोई जवाव दिया और न यह प्रदर्शित किया कि उसने कुछ सुना है। प्रतिदिन उसकी माँ उसके खाने के लिए स्वादिष्ट पदार्थ ले आती, उससे अनुनय-विनय करती, उसकी भर्त्सना भी करती, परन्तु उस पर कोई असर न होता। एक दिन, अपने प्रति उसके नितान्त उपेक्षा भाव को देखकर उसकी आँखो मे आँसू छलछला आये। उसने तव भी कोई जवाब न दिया। कही उसकी सहानुभूति न फूट पडे और उसकी माँ को झूठी आशा न बँधे, इसलिए वह उठ खडा हुआ और दूर चला गया। अगले दिन उसने वहाँ एकत्रित भक्तजनो की सहानुभूति प्राप्त की, अपनी दु खगाथा उनसे कह सुनायी और हस्तक्षेप की प्रार्थना की। भक्तो मे से एक पचियप्पा पिल्लई नामक व्यक्ति ने स्वामी से कहा, "आपकी माँ रो रही है और अनुनय-विनय कर रही है, आप उसे कम से कम 'हाँ' या 'न' मे कोई जवाव तो दें। आपको अपना मौनव्रत तोडने की कोई आवश्यकता नही, ये रहे कागज और पेंसिल, जो कुछ आपको लिखना हो, लिख दें।"

स्वामी ने कागज-पेंसिल ले लिया और सर्वथा अवैयक्तिक भाषा मे लिखा

"विधाता जीवो के प्रारब्ध कर्मानुसार उनके भाग्यो का नियन्त्रण करता है। आप कितनी ही कोशिश कर लें, जो कुछ भाग्य मे नही होना लिखा, वह कभी नहीं होगा। जो कुछ भाग्य में होना लिखा है, वह होकर रहेगा, भले ही आप इसे रोकने की कितनी ही कोशिश क्यो न कर लें। यह निश्चित है, इसलिए सर्वोत्तम मार्ग शान्त रहने का है।"

सारत जो कुछ स्वामीजी ने कहा, वह वही है जो ईसामसीह ने अपनी माँ से कहा था, "मुझे तुमसे क्या लेना-देना है ? क्या तुम नही जानती कि मुझे अपने महान् पिता का कार्य सम्पन्न करना है ?" श्रीभगवान् की यह विशेषता रही कि एक तो प्रथम वह मौन रहे जवकि उनका उत्तर विलकुल निषेधात्मक था और जव उनके मौन को स्वीकृति प्रदान नही की गयी, उन पर और दवाव

डाला गया, उन्होंने कोई उत्तर न दिया, सामान्य शब्दो मे एक सैद्धान्तिक बात कही और साथ ही प्रश्नकर्त्ता की आवश्यकता के अनुरूप उसके विशिष्ट प्रश्न का उत्तर भी दे दिया।

श्रीभगवान् का यह दृढ़ विश्वास था कि जो कुछ होना है, वह होकर रहेगा। साथ ही वह यह भी कहते थे कि जो कुछ होता है वह मनुष्य के प्रारब्ध-कर्म के अनुसार ही होता है। प्रारब्ध-कम का सिद्धान्त काय-कारण के कठोर नियम के अनुसार इतनी दृढतापूर्वक लागू होता है कि 'न्याय' शब्द द्वारा भी इसकी अभिव्यक्ति नही हो सकती। श्रीभगवान् स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति और दैववाद के विवाद मे कभी नही पडते थे, क्योकि इस प्रकार के सिद्धान्त यद्यपि मानसिक-स्तर पर एक-दूसरे के विरोधी है, तथापि वे दोनो सत्य के पक्षो को प्रतिबिम्बित करते हैं। वह कहा करते थे, "देखो, खोजो कौन दैवाधीन है और कौन स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति रखता है।"

वह स्पष्टत कहा करते थे, "शरीर को जो भी क्रियाएँ सम्पन्न करनी हैं, वे सभी पहले ही इसके अस्तित्व मे आने के समय निर्धारित हो जाती हैं। आपको केवल इस बात की स्वतन्त्रता है कि आप अपने शरीर के साथ एकरूपता अनुभव करें या न करें।" अगर कोई व्यक्ति किसी नाटक मे कोई पार्ट अदा करता है तो उसका सारा पार्ट पहले से लिखा होता और उसे वह पाट हूबहू बखूबी अदा करना पडता है, चाहे वह सीज़र बने, जिसे छुरा घोपा गया था, या ब्रूटस बने, जिसने छुरा घोपा था, उस पर इसका जरा भी प्रभाव नहीं पडता क्योकि वह यह अच्छी तरह जानता है कि न तो वह सीज़र है और न ब्रूटस। इसी प्रकार जो व्यक्ति अमर आत्मा के साथ अपनी एकरूपता अनुभव करता है, वह मानवीय रगमच पर बिना भय या चिन्ता के, आशा या निराशा के अपना पाट अदा करता है, वह अदा किये जाने वाले पार्ट से बिलकुल अप्रभावित रहता है अगर कोई यह पूछे कि जब व्यक्ति की सभी कियाएँ निर्धारित हैं, तो फिर उसकी वास्तविकता क्या है, उसके मन मे यह प्रश्न पैदा होना अनिवार्य है 'तब मैं कौन हूँ'? अगर अह जो यह सोचता है कि वही निणय करता वास्तविक नही है, और फिर भी मैं जानता हूँ कि मेरी सत्ता है, तो फिर मेरी वास्तविकता क्या है? यह केवल श्रीभगवान् द्वारा बतायी गयी तलाश का प्रारम्भिक मानसिक रूप है। परन्तु यही वास्तविक खोज की सर्वोत्तम तय्यारी है।

पुनरपि, प्रत्यक्षत विरोधी प्रतीत होने वाला यह विचार कि मनुष्य स्वय अपना भाग्य-निर्माता है, कम सत्य नही है, क्योकि प्रत्येक वस्तु कारक और कार्य के नियम द्वारा घटित होती है और प्रत्येक विचार, शब्द और क्रिया की अपनी प्रतिक्रिया होनी है। इस सम्बन्ध मे श्रीभगवान् इतने ही अटल थे जितने कि अन्य महापुरुष। उन्होंने अपने एक भक्त शिवप्रकाशम पिल्लई से

कहा था (यह दसवें अध्याय मे उद्धृत श्रीभगवान् द्वारा दिये गये उत्तर मे है) "चूँकि जीवो को उनके कर्मों का फल भगवान् के नियमो के अनुसार मिलता है, इसलिए उत्तरदायित्व उनका है, न कि भगवान् का।" उन्होने निरन्तर प्रयत्न की आवश्यकता पर बल दिया। 'महर्षीज गॉस्पल' नामक पुस्तक मे एक भक्त की शिकायत इस प्रकार सग्रहीत है "अक्तूबर मे आश्रम छोडने के उपरान्त दस दिन तक मुझे उसी प्रकार की शान्ति का अनुभव होता रहा जिस प्रकार की शान्ति मैं श्रीभगवान् के सान्निध्य मे अनुभव किया करता था। हर समय जबकि मैं काम मे भी व्यस्त होता था, मुझ मे शान्ति की अन्त धारा प्रवहमान होती प्रतीत होती थी, यह लगभग दोहरी चेतना के सदृश था जो कि एक व्यक्ति किसी नीरस भाषण के समय, अर्द्ध-स्वप्नावस्था मे अनुभव करता है। तब यह बिलकुल लुप्त हो गयी और इसके स्थान पर फिर वही पुरानी मूर्खतापूर्ण बातें आ गयी।" और श्रीभगवान् ने उत्तर दिया, "अगर आप अपने मन को शक्तिशाली बना लें तो वह शान्ति स्थिर रहेगी। इसकी अवधि निरन्तर अभ्यास द्वारा अर्जित मन की शक्ति के अनुपात में होती है। 'स्पिरिचुअल इन्स्ट्रक्शन' पुस्तक मे एक भक्त ने भाग्य और प्रयत्न के बीच इस प्रत्यक्ष विरोध की ओर स्पष्टत निर्देश किया था, अगर, जैसा कि कहा जाता है, प्रत्येक घटना भाग्य के अनुसार घटित होती है, यहाँ तक कि वे बाधाएँ भी जो शक्ति को सफलतापूर्वक ध्यान करने से रोकती हैं, तो ये बाधाएँ अजेय समझी जानी चाहिए क्योंकि अपरिवर्तनीय भाग्य ने उनका निर्माण किया है। उन पर कोई व्यक्ति किस प्रकार विजय पा सकता है ?" और इसका श्रीभगवान् ने उत्तर दिया, "ध्यान मे बाधा डालने वाले 'भाग्य' का अस्तित्व केवल बहिर्मन के लिए है न कि अन्तर्मन के लिए। इसलिए जो व्यक्ति अपने अन्दर आत्म-तत्व की तलाश करता है, वह अपने चिन्तन के मार्ग मे आने वाली बाधा से भयभीत नहीं होता। इस प्रकार की बाधाओ का विचार ही सबसे बडी बाधा है।"

सन्देश का उपसहारात्मक वाक्य इस प्रकार था, "इसलिए सर्वोत्तम मार्ग मौन रहना है"—जो श्रीभगवान् की माता पर विशेष रूप से लागू होता है क्योंकि वह उस चीज की माँग कर रही थी, जो स्वीकार नही की जा सकती थी। सामान्य लोगो पर यह इस अर्थ मे लागू होता है कि "काँटो के विरुद्ध पदाघात करने का कोई लाभ नही" अर्थात् अपरिवर्तनीय भाग्य का विरोध करना निष्फल है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि व्यक्ति प्रयास करना ही छोड दे। जो व्यक्ति यह कहता है, "प्रत्येक वस्तु पूर्व-निर्धारित है, इसलिए मैं कोई प्रयास नही करूँगा," वह झूठी धारणा का शिकार है, "और मैं जानता हूँ कि पूर्व-निर्धारित क्या है"—सम्भव है उसके भाग्य मे विधाता ने

प्रयास करना लिखा हो, जैसे कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन से 'भगवद्गीता' मे कहा था कि उसकी अपनी प्रकृति ही उसे प्रयास करने के लिए प्रेरित करेगी ।

माता वापस घर लौट आयी और स्वामी यथापूर्व रहे । सवा दो साल की अवधि मे, जो स्वामी ने तिरुवन्नामलाई के देवालयो मे गुजारी, वाह्य सामान्य जीवन मे वापस आने के प्रथम चिह्न स्वामी मे पहले ही प्रकट हो रहे थे । उन्होने पहले ही नियमित समय पर दैनिक भोजन लेना प्रारम्भ कर दिया था और वह किसी दूसरे पर निर्भर न रहकर स्वय भोजन की तलाश मे वाहर जाने लगे थे । उन्होंने कई वार वातचीत भी की थी । उन्होने भक्तो के प्रश्नो के उत्तर देना, पुस्तकें पढना और अपनी शिक्षा के सार-तत्व की व्याख्या करना प्रारम्भ कर दिया था ।

जव वह सर्वप्रथम तिरुवन्नामलाई आये, वे ससार और शरीर की सवथा उपेक्षा करके आत्मानन्द मे लीन हो वैठ गये । वह केवल उसी समय भोजन करते जव यह उनके हाथो या मुख मे डाला जाता और तव भी केवल उतना ही भोजन लेते जितना शरीर-धारण के लिए पर्याप्त होता । इसे तपस् की सज्ञा दी गयी है परन्तु तपस् का वहुत व्यापक अर्थ है । इसमे ध्यान का भाव समाहित है, जो व्यक्ति को तपश्चर्या के मार्ग पर ले जाता है । सामान्यत यह तपश्चर्या गत आसक्ति के लिए प्रायश्चित के रूप मे होती है, इस आसक्ति की पुनरावृत्ति का वह समूलोन्मूलन करना चाहती है और मन तथा इन्द्रियो के माध्यम से वाहर निकलने वाली शक्ति पर अकुश लगाना चाहती है । कहने का भाव यह है कि तपस् का सामान्यत अर्थ है प्रायश्चित्त और तपश्चर्या के माध्यम से आत्म-साक्षात्कार के लिए प्रयास करना । श्रीभगवान् मे सघर्ष, प्रायश्चित्त और वलात्कृत नियन्त्रण का सवथा अभाव था । चूंकि शरीर के साथ 'मैं' की असत्य एकानुभूति और इसके परिणामस्वरूप समुद्भूत शरीर के प्रति आसक्ति के वन्धन को स्वामी पहले ही तोड चुके थे । उनके दृष्टिकोण से तो तपश्चर्या का प्रश्न ही पैदा नही होता था क्योकि उन्होने उस शरीर के साथ अपने को एकरूप अनुभव करना ही वन्द कर दिया था जो तपश्चर्या करना है । उन्होने वाद के वर्षो मे इसकी इन शब्दो मे पुष्टि की, "मैं भोजन नही करता था, इसलिए लोग कहते थे मैं उपवास कर रहा हूँ, मैं नही वोलता था, इसलिए वे कहते थे मे मौनी हूँ ।" इसे अगर सरल शब्दो मे कहे तो दिखायी देने वाली तपश्चर्या आत्म-साक्षात्कार की प्राप्ति के लिए नही थी वल्कि आत्म-साक्षात्कार के परिणामस्वरूप थी । उन्होने स्पष्ट शब्दो मे कहा कि मदुरा मे अपने चाचा के घर पर आध्यात्मिक जागरण के वाद उन्होंने और कोई साधना नही की ।

भगवान् इन सामान्य अर्थो मे मौनी नही थे कि उन्होंने दूसरो के साथ सम्पर्क

वन्द करने के लिए मौनव्रत धारण कर रखा था। सासारिक आवश्यकताओ के अभाव के कारण, उन्हें वोलने की आवश्यकता ही नही होती थी। इसके अतिरिक्त उन्होने यह वताया है कि एक मौनी को देखने के वाद उनके मन मे यह विचार आया कि मौन धारण करने से उनकी शान्ति मे वाधा नही पडेगी।

प्रारम्भ के महीनो मे जव वे आत्मानन्द मे लीन रहते थे तव प्राय उन्हे वाहरी दुनिया की विलकुल सुध-वुध नही रहती थी। उन्होने अपनी विशिष्ट शैली मे इस ओर निर्देश किया है

"कभी-कभी मैं अपनी आँखें खोलता तो सवेरा होता, कभी-कभी शाम होती। मुझे इसका पता नहीं था कि कव सूर्योदय हुआ और कव सूर्यास्त।" कुछ सीमा तक भगवान् की यह अवस्था जारी रही, सामान्य के स्थान पर केवल यह विरल हो गयी। वाद के वर्षों मे श्रीभगवान् ने एक वार कहा था कि वह प्राय दैनिक वेद-मन्त्रो का प्रारम्भ सुनते थे और फिर समाप्ति, वह इतने तन्मय हो जाते थे कि मन्त्रो के प्रारम्भ और समाप्ति के वीच उन्हे और कुछ सुनायी नही देता था। उन्हे इस पर आश्चय होता था कि इतनी जल्दी कैसे मन्त्रो की समाप्ति हो गयी, कही वीच मे कुछ मन्त्र छूट तो नहीं गये। तिरुवन्नामलाई मे, प्रारम्भिक महीनो मे भी वडे समारोहपूवक सव उत्सव मनाये जाते और वाद के वर्षों मे स्वामी उन घटनाओ को दोहराया करते थे जो इस अवधि मे घटित हुई थी और जिनके सम्वन्ध मे लोगो का ऐसा खयाल था कि स्वामी कुछ नही जानते।

वाहरी ससार के प्रति पूण विमुखता और आत्मभाव मे पूर्णरूपेण स्थिति को निर्विकल्प समाधि की सज्ञा दी गयी है। यह परमानन्द की अवस्था है परन्तु यह स्थायी नही होती। श्रीभगवान् ने इसकी तुलना, **महर्षीज गॉस्पल** पुस्तक मे कुएँ मे डुवोई गयी वाल्टी से की है। वाल्टी मे पानी (मन) होता है जो कुएँ (आत्मा) के पानी के साथ एकरूप हो जाता है परन्तु रस्सी और वाल्टी (अह) की अव भी सत्ता है जो इसे पुन वाहर निकाल लाते हैं। सर्वोच्च और अन्तिम अवस्था **सहज समाधि** की अवस्था है जिसकी ओर द्वितीय अध्याय मे सक्षेप में निर्देश किया गया है। यह शुद्ध अविच्छिन्न चैतन्य है, मानसिक और शारीरिक धरातल से ऊपर, परन्तु इसे वाहरी ससार का पूण ज्ञान है और यह मानसिक तथा शारीरिक शक्तियो का पूण उपयोग करता है, यह पूण सतुलन, पूण समस्वरता, परमानन्द से भी परे की स्थिति है। इसकी तुलना उन्होने महासागर मे विलीन नदी के जल से की है। इस अवस्था मे अह अपनी समस्त सीमाओ सहित सदा के लिये आत्म-तत्व मे लय हो जाता है। यह पूण स्वतन्त्रता, विशुद्ध चैतन्य है, शुद्ध अह है, जो अव शरीर या व्यक्तित्व तक सीमित नहीं है।

श्रीभगवान् पहले ही इस उच्च अवस्था मे थे, हालांकि वाह्य ससार का ज्ञान अभी निरन्तररूप से नही वना था। वाद मे श्रीभगवान् का वाह्य गतिविधियो की ओर प्रतिवर्तन केवल दीखने मात्र का था परन्तु उनमे वस्तुत कोई परिवर्तन नही हुआ था। श्रीभगवान् ने 'महर्षीज गॉस्पल' मे इसकी इस प्रकार व्याख्या की है

"ज्ञानी की स्थिति मे अह का उदय या अस्तित्व देखने मात्र का होता है और वह अह के इस प्रकार के प्रत्यक्ष उदय या अस्तित्व के वावजूद, सदा अपना ध्यान स्रोत पर केन्द्रित रखते हुए परमानन्द की अविच्छिन्न धारा मे लीन रहता है। यह अह हानिप्रद नही होता, यह तो जली हुई रस्सी के सदृश होता है—यद्यपि इसका रूप होता है तथापि इसे वांधने के प्रयोग मे नही लाया जा सकता।"

छठा अध्याय

अरुणाचल

अरुणाचल का दृश्य बड़ा ऊबड़-खाबड़ है। चारो ओर पत्थर इस प्रकार पड़े हैं मानो किसी दैत्याकार हाथ ने उन्हें इधर-उधर बिखेर दिया हो। जहाँ-तहाँ सूखे काँटो और नागफणी के घेरे हैं, धूप के झुलसते हुए खेत हैं, भयानक आकार की छोटी-छोटी पहाड़ियाँ हैं, और धूल भरी सड़क के साथ-साथ विशालकाय छायादार वृक्ष हैं और कही-कही तालाब या कुएँ के निकट हरे-भरे धान के खेत हैं। अरुणाचल की पहाड़ी के चारो ओर रूक्ष सौन्दय बिखरा पड़ा है। यद्यपि यह पहाड़ी केवल २,६८२ फुट ऊँची है तथापि यह समस्त ग्रामीण प्रदेश मे छायी हुई है। दक्षिण अर्थात् आश्रम की तरफ से यह अत्यन्त सीधी है—एक सममित पहाड़ी जिसके दोनो ओर दो लगभग बराबर तराइयाँ हैं। इस पहाड़ी की चोटी पर प्रात काल के समय प्राय धवल मेघ या धुन्ध का एक मुकुट बन जाता है और यह सममितता और अधिक पूण दिखायी देती है। परन्तु यह बड़ी आश्चयजनक बात है कि जैसे-जैसे कोई व्यक्ति पहाड़ी के चारो ओर स्थित ८ मील लम्बी सड़क पर निर्धारित माग से दक्षिण से पश्चिम की ओर अपना दायाँ पाश्व पहाड़ी की ओर किये जाता है तो दृश्य बदलता जाता है और प्रत्येक दृश्य की अपनी विशेषता तथा प्रतीकात्मकता है—कही तो प्रतिध्वनि की गूँज सुनायी देती है, कही दोनो तराइयो के बीच मे मुश्किल से चोटी के दर्शन होते हैं, जिस प्रकार कि दो विचारो के मध्यावकाश मे आत्म-तत्व के, कही पाँचो चोटियो के दर्शन होते हैं, कही शिव और शक्ति के, और इसी प्रकार के अन्य दृश्य।

आठों दिशाओ मे पवित्र तालाब हैं और विभिन्न महत्त्वपूर्ण स्थानों पर मण्डप बने हुए है। इन मण्डपो में से प्रसिद्ध दक्षिणामूर्ति का मण्डप दक्षिणी कोने पर है। दक्षिणामूर्त्ति मे मौनभाव से उपदेश देते हुए शिव हैं। यह है अरुणाचल का दृश्य।

"कौन द्रष्टा है? जब मैंने अन्तर्मुख होकर देखा तो द्रष्टा का लोप हो गया और कुछ भी शेष न रहा। 'मैंने देखा' इस प्रकार का कोई विचार पैदा न हुआ, जो 'मैंने नही देखा' इस प्रकार का विचार कैसे पैदा

हो सकता था ? किसकी शक्ति है कि इसे शब्दो मे अभिव्यक्त करे, जबकि तूने भी प्राचीन काल मे दक्षिणामूर्त्ति के रूप मे प्रकट होकर इसे केवल मौनभाव से अभिव्यक्त किया था। अपनी स्थिति केवल मौनभाव से प्रकट करने के लिए तू स्वर्ग से पृथ्वी तक प्रकाशमान पहाडी के रूप मे अवस्थित है।"[१]

श्रीभगवान् पहाडी की प्रदक्षिणा के लिए हमेशा भक्तो को प्रोत्साहित किया करते थे। वृद्धो और अशक्तो को भी वह हतोत्साह नही करते थे, केवल उनसे धीरे चलने के लिए कहते थे। वस्तुत, प्रदक्षिणा धीरे-धीरे ही की जानी चाहिए, जिस प्रकार कोई गर्भवती रानी नौवे महीने मे धीरे-धीरे चलती है। मौन ध्यानावस्था मे या गाते हुए या शख बजाते हुए प्रदक्षिणा पैदल ही की जानी चाहिए, किसी सवारी मे नही, और तथ्य तो यह है कि यह नगे पाँव की जानी चाहिए। प्रदक्षिणा का सर्वाधिक शुभ समय शिवरात्रि और कार्तिकी का है। कार्तिकी के शुभ दिन कृत्तिका नक्षत्रमण्डल का पूर्ण चन्द्र के साथ सम्मिलन होता है। यह दिन प्राय नवम्बर के महीने मे पडता है। इन शुभ अवसरों पर भक्तो की निरन्तर धारा की उपमा पहाडी के चारो ओर विराजमान माला से की गयी है।

एक बार का जिक्र है कि एक वृद्ध अपाहिज बैसाखियो के सहारे उस सडक पर चल रहा था जो पहाडी को चारो ओर से घेरे हुए है। प्राय उसने बैसाखियो के सहारे प्रदक्षिणा की थी परन्तु इस बार उसे तिरुवन्नामलाई से प्रस्थान करना था। वह अपने को अपने परिवार पर भार समझता था, परिवार मे झगडे पैदा हो गये थे और उसने परिवार वालो को छोडने और किसी गाँव मे स्वय अपनी आजीविका अर्जित करने का निश्चय कर लिया था। एकाएक एक युवक ब्राह्मण उसके सामने प्रकट हुआ और उसने यह कहते हुए उसकी बैसाखियाँ उससे छीन ली, "तुम्हें इन बैसाखियो की जरूरत नही है।" पूर्व इसके कि अपने चेहरे पर प्रकट होने वाले क्रोध को वह शब्दो द्वारा अभिव्यक्ति प्रदान करता, उसने यह अनुभव किया कि उसके अग सीधे हैं और उसे बैसाखियो की जरूरत नही है। उसने तिरुवन्नामलाई नही छोडा, वह वही रुक गया और वहाँ बहुत विख्यात हो गया। श्रीभगवान् ने यह कहानी पूरे विस्तार के साथ कुछ भक्तो को सुनायी थी और कहा था कि यह कहानी अरुणाचल स्थल पुराण मे वर्णित कहानी से हूबहू मिलती-जुलती है। उस समय वह पहाडी पर तरुणस्वामी के रूप मे थे परन्तु उन्होने यह कभी नही कहा कि वह ही ब्राह्मण युवक के रूप मे प्रकट हुए थे।

---

१ एट स्टेंज़ाज़ ऑन श्री अरुणाचल, जिल्द २, रचयिता श्रीभगवान्।

अरुणाचल समस्त भारत के पवित्र स्थानो मे से सबसे प्राचीन और सबसे पवित्र स्थान है। श्रीभगवान् ने यह घोषणा की थी कि यह पृथ्वी का हृदय है, विश्व का आध्यात्मिक केन्द्र है। श्री शकर ने मेरु पवत के रूप मे इसका वणन किया है। स्कन्द पुराण मे इस प्रकार घोषणा की गयी है "यह पवित्र स्थान है। सब स्थानो मे अरुणाचल सर्वाधिक पवित्र है। यह विश्व का हृदय है। इसे शिव का गुप्त पवित्र हृदय-केन्द्र जानो।" बहुत से सन्त वहाँ रहे है। अपनी पवित्रता को उन्होंने पहाडी की पवित्रता के साथ एकाकार कर दिया है। ऐसा कहा जाता है और श्रीभगवान् ने इसकी पुष्टि की है कि आज भी इसकी कन्दराओ मे भौतिक शरीरो वाले या भौतिक देहरहित सिद्ध रहते हैं। कई लोगो का कहना है कि उन्होंने रात को प्रकाशमय पुरुषो के रूप मे उन्हें पहाडी का चक्कर लगाते हुए देखा है।

पहाडी के उद्भव के सम्बन्ध मे एक पौराणिक गाथा है। एक बार विष्णु और ब्रह्मा मे इस बात पर झगडा हो गया कि उन दोनो मे कौन बडा है। उनके झगडे से पृथ्वी पर अव्यवस्था पैदा हो गयी, इसलिए देवता शिव के पास गये और उनसे झगडा निपटाने की प्रार्थना की। इस पर शिव एक प्रकाश-रेखा के रूप में प्रकट हुए। इस प्रकाश-रेखा मे से एक ध्वनि निकली कि जो कोई इस प्रकाश-रेखा के ऊपरले या निचले सिरे का पता लगा लेगा वही बडा होगा। विष्णु ने सूअर का रूप धारण कर लिया और इसका आधार पता लगाने के लिए भूमि को खोदना शुरू किया। ब्रह्मा ने राजहस का रूप धारण कर लिया और प्रकाश-रेखा के शिखर का पता लगाने के लिए आकाश मे ऊँचा उडना शुरू किया। विष्णु प्रकाश-रेखा के आधार तक पहुँचने मे असफल हो गया परन्तु उसने अपने अन्दर घट-घटवासी परम प्रकाश के दर्शन किये, वह अपने भौतिक शरीर की सुध-बुध भूल गया और यह भी भूल गया कि वह किसी चीज की खोज मे आया है, वह समाधिस्थ हो गया। ब्रह्मा ने एक पहाडी वृक्ष के फूल को आकाश मे गिरते हुए देखा और छल से विजय का विचार करते हुए वह इस फूल को लेकर वापस लौट पडा। उसने यह घोषणा की कि उसने यह फूल शिखर से तोडा है।

विष्णु ने अपनी असफलता स्वीकार की और भगवान् की इन शब्दो मे स्तुति की, "आप आत्म-ज्ञान हैं। आप ओ३म् है। आप प्रत्येक वस्तु के आदि, मध्य और अन्त हैं। आप सब कुछ हैं और सबको प्रकाशित करते हैं।" विष्णु को महान् घोषित किया गया, ब्रह्मा लज्जित हुआ और उसने अपनी गलती स्वीकार कर ली।

इस पौराणिक गाथा मे विष्णु अह या व्यक्तित्व का, ब्रह्मा मनस्तत्व का और शिव आत्मा का प्रतिनिधि है।

कहानी मे आगे वर्णन आता है, प्रकाश-रेखा का प्रकाश आँखो को चौंधिया देने वाला था अत शिव ने अपने को अरुणाचल पहाडी के रूप मे प्रकट किया और यह घोषणा की जिस प्रकार चन्द्रमा अपना प्रकाश सूर्य से ग्रहण करता है, इसी प्रकार अन्य पवित्र स्थान अपनी पवित्रता अरुणाचल से ग्रहण करेंगे। यही वह एकमात्र स्थान है जहाँ मैंने उन लोगो के लिए जो मेरी उपासना करना चाहते हैं और प्रकाश ग्रहण करना चाहते हैं, यह रूप धारण किया है। अरुणाचल स्वय ओ३म् है। मैं प्रतिवर्ष कार्तिकी के दिन शान्तिदायी दीप-स्तम्भ के रूप मे इस पहाडी के शिखर पर प्रकट होऊँगा।" यह न केवल स्वय अरुणाचल की पवित्रता बल्कि अद्वैत सिद्धान्त की प्रसिद्धि तथा आत्म-अन्वेषण के मार्ग, जिसका अरुणाचल केन्द्र है, की ओर निर्देश करता है। श्रीभगवान् की निम्न उक्ति "अन्त मे हर व्यक्ति को अरुणाचल आना पडेगा" मे हर कोई उस अर्थ को समझ सकता है।

तिरुवन्नामलाई मे आगमन के दो वर्ष से भी अधिक समय के बाद श्रीभगवान् ने पहाडी पर रहना शुरू किया। तब तक वह निरन्तर किसी मन्दिर मे ठहरते थे। १८९८ की समाप्ति के समय ही उन्होने पवजहाक्कुनरु स्थित छोटे से मन्दिर मे आश्रय लिया। शताब्दियो पहले महान् गौतम ऋषि ने इस स्थान को पवित्र किया था। यही श्रीभगवान् की माता उन्हे मिली थी। फिर उन्होने अरुणाचल कभी नही छोडा। अगले वर्ष के शुरू मे वह पहाडी पर स्थित एक कन्दरा मे चले गये और १९२२ तक वह किसी न किसी कन्दरा मे रहे। इसके बाद वह नीचे पहाडी की तराई मे आ गये। यही वर्तमान आश्रम की स्थापना हुई और यही उन्होने अपने जीवन के शेष वर्ष व्यतीत किये।

पहाडी पर रहते समय, श्रीभगवान् प्राय सारा समय पहाडी की दक्षिणी ढाल पर रहते थे। आश्रम भी दक्षिण मे दक्षिणामूर्त्ति मण्डप के पास है। 'दक्षिणी पार्श्व' भगवान् के १०८ नामो मे से एक है, जिनका गान उनके स्मारक पर किया जाता है। यह नाम सामान्यत उसी प्रकार आध्यात्मिक प्रमाण का प्रतीक है जिस प्रकार सद्गुरु वह स्तम्भ है, जिसके चारो ओर ससार चक्कर काटता है। परन्तु यह विशेषत दक्षिणामूर्त्ति का एक नाम है। दक्षिणामूर्त्ति मौनभाव से उपदेश देने वाले शिव हैं। इस अध्याय के प्रारम्भ मे उद्धृत पद मे श्रीभगवान् ने अरुणाचल और दक्षिणामूर्त्ति को एक बताया है, नीचे के पद मे वह रमण और अरुणाचल को एक बताते हैं

> "विष्णु से लेकर सभी व्यक्तियो के कमलाकृति हृदयो की गहराइयो मे परम चैतन्य के रूप मे परमात्मा का प्रकाश विराजमान है जो वही है जो अरुणाचल या रमण है। जब व्यक्ति का मन प्रेमार्द्र हो जाता है और वह हृदय की उन गहराइयो मे प्रवेश करता है, जहाँ वह परम पुरुष प्रेमी

के रूप मे निवास कर रहा है, परम चैतन्य की दिव्य दृष्टि खुल जाती है और वह अपने को विशुद्ध ज्ञान के रूप मे प्रकट करता है।"

जिस कन्दरा मे श्रीभगवान् सर्वप्रथम गये और जहाँ वह सबसे अधिक देर ठहरे, वह दक्षिण-पूर्वी ढलान पर है। इस कन्दरा को विरूपाक्ष नामक सन्त के नाम पर, जो वहाँ रहते थे और सम्भवत जिन्हें तेरहवी शताब्दी मे वहाँ दफनाया गया था, विरूपाक्ष कहते हैं। बडी विचित्र बात तो यह है कि इस कन्दरा का आकार ओ३म् से मिलता-जुलता है। स्मारक कन्दरा मे बिलकुल अन्दर है और ऐसा कहा जाता है कि अन्दर ओ३म् की ध्वनि सुनी जा सकती है।

नगर स्थित विरूपाक्ष मठ के ट्रस्टियो का कन्दरा पर सापत्तिक अधिकार था। वे कार्तिकी के वार्षिक समारोह के अवसर पर, कन्दरा के दर्शको के लिए आने वाले तीर्थयात्रियों पर एक छोटा-सा कर लगाया करते थे। जिस समय श्रीभगवान् वहाँ गये उस समय कर नहीं लगाया जाता था क्योकि दो दलो मे कन्दरा के स्वामित्व के सम्बन्ध मे मुकद्दमेबाजी चल रही थी। जब मुकद्दमे का फैसला हो गया तब सफल दल ने पुन कर लगाना शुरू कर दिया। अस्तु, इस समय तक दर्शनार्थियों की सख्या बहुत बढ गयी थी और वर्ष भर न कि केवल कार्तिकी के अवसर पर उनका ताँता लगा रहता था। चूँकि दर्शनार्थी कन्दरा में श्रीभगवान् की उपस्थिति के कारण वहाँ आते थे इसलिए यह कर एक प्रकार से श्रीभगवान् के दर्शनो के लिए था। श्रीभगवान् को यह बात पसन्द नहीं थी, इसलिए वह कन्दरा से बाहर निकलकर, इसके सामने एक छायादार वृक्ष के नीचे आकर बैठ गये। इस पर ट्रस्टियो के एजेण्ट ने अपना कर इकट्ठा करने का स्थान इस प्रकार बदल लिया कि श्रीभगवान् जिस वृक्ष के नीचे बैठते थे वह भी ट्रस्टियो की अधिकार-परिधि मे आ गया। अब श्रीभगवान् ने कन्दरा छोड दी और वह नीचे सद्गुरुस्वामी कन्दरा में चले गये और फिर वहाँ कुछ देर ठहरने के बाद दूसरी कन्दरा मे चले गये। विरूपाक्ष कन्दरा मे आने वाले दर्शनार्थिओ का ताँता बन्द हो गया। जब ट्रस्टियो ने यह अनुभव किया कि उनके इस कार्य से उन्हें तो कोई लाभ नही हुआ, स्वामी को असुविधा हुई है तो उन्होंने उनसे पुन कन्दरा में लौटने की प्रार्थना की और यह वचन दिया कि जब तक स्वामी कन्दरा मे रहेंगे तब तक वह किसी प्रकार का कर नही लगाएँगे। इस शर्त पर वह वापस लौट आये।

गरमी के महीनों मे विरूपाक्ष की कन्दरा बहुत अधिक तप जाती है। पहाडी की तराई मे मुलाईपाल तीर्थ तालाब के निकट एक कन्दरा है जो ठण्डी है और वहाँ पीने के लिए शुद्ध पानी भी मिल जाता है। इसके ऊपर एक छायादार आम का वृक्ष है, जिसकी वजह से इस कन्दरा का नाम आम्र-कन्दरा

कहानी मे आगे वर्णन आता है, प्रकाश-रेखा का प्रकाश आंखो को चौंधिया देने वाला था अत शिव ने अपने को अरुणाचल पहाडी के रूप मे प्रकट किया और यह घोषणा की जिस प्रकार चन्द्रमा अपना प्रकाश सूय से ग्रहण करता है, इसी प्रकार अन्य पवित्र स्थान अपनी पवित्रता अरुणाचल से ग्रहण करेंगे। यही वह एकमात्र स्थान है जहाँ मैंने उन लोगो के लिए जो मेरी उपासना करना चाहते है और प्रकाश ग्रहण करना चाहते हैं, यह रूप धारण किया है। अरुणाचल स्वय ओ३म् है। मैं प्रतिवष कार्तिकी के दिन शान्तिदायी दीप-स्तम्भ के रूप मे इस पहाडी के शिखर पर प्रकट होऊँगा।" यह न केवल स्वय अरुणाचल की पवित्रता वल्कि अद्वैत सिद्धान्त की प्रसिद्धि तथा आत्म-अन्वेषण के मार्ग, जिसका अरुणाचल केन्द्र है, की ओर निर्देश करता है। श्रीभगवान् की निम्न उक्ति "अन्त मे हर व्यक्ति को अरुणाचल आना पडेगा" मे हर कोई उस अर्थ को समझ सकता है।

तिरुवन्नामलाई मे आगमन के दो वष से भी अधिक समय के वाद श्रीभगवान् ने पहाडी पर रहना शुरू किया। तव तक वह निरन्तर किसी मन्दिर मे ठहरते थे। १८९८ की समाप्ति के समय ही उन्होने पवजहाक्कुनरु स्थित छोटे से मन्दिर मे आश्रय लिया। शताब्दियो पहले महान् गौतम ऋषि ने इस स्थान को पवित्र किया था। यही श्रीभगवान् की माता उन्हे मिली थी। फिर उन्होने अरुणाचल कभी नही छोडा। अगले वष के शुरू मे वह पहाडी पर स्थित एक कन्दरा मे चले गये और १९२२ तक वह किसी न किसी कन्दरा मे रहे। इसके बाद वह नीचे पहाडी की तराई मे आ गये। यही वर्तमान आश्रम की स्थापना हुई और यही उन्होने अपने जीवन के शेष वष व्यतीत किये।

पहाडी पर रहते समय, श्रीभगवान् प्राय सारा समय पहाडी की दक्षिणी ढाल पर रहते थे। आश्रम भी दक्षिण मे दक्षिणामूर्त्ति मण्डप के पास है। 'दक्षिणी पाश्व' भगवान् के १०८ नामो मे से एक है, जिनका गान उनके स्मारक पर किया जाता है। यह नाम सामान्यत उसी प्रकार आध्यात्मिक प्रमाण का प्रतीक है जिस प्रकार सद्गुरु वह स्तम्भ है, जिसके चारो ओर ससार चक्कर काटता है। परन्तु यह विशेषत दक्षिणामूर्त्ति का एक नाम है। दक्षिणामूर्त्ति मौनभाव से उपदेश देने वाले शिव हैं। इस अध्याय के प्रारम्भ मे उद्धृत पद मे श्रीभगवान् ने अरुणाचल और दक्षिणामूर्त्ति को एक वताया है, नीचे के पद मे वह रमण और अरुणाचल को एक वताते है

"विष्णु से लेकर सभी व्यक्तियो के कमलाकृति हृदयो की गहराइयो मे परम चैतन्य के रूप मे परमात्मा का प्रकाश विराजमान है जो वही है जो अरुणाचल या रमण है। जव व्यक्ति का मन प्रेमार्द्र हो जाता है और वह हृदय की उन गहराइयो मे प्रवेश करता है, जहाँ वह परम पुरुष प्रेमी

के रूप में निवास कर रहा है, परम चैतन्य की दिव्य दृष्टि गुप्त जाती है और वह अपने को विशुद्ध ज्ञान के रूप मे प्रकट करता है।"

जिस कन्दरा मे श्रीभगवान् सर्वप्रथम गये और जहाँ वह सबसे अधिक देर ठहरे, वह दक्षिण पूर्वी ढलान पर है। इस कन्दरा को विरूपाक्ष नामक सन्त के नाम पर, जो वहाँ रहते थे और सम्भवत जिन्हे तेरहवीं शताब्दी मे वहाँ दफनाया गया था, विरूपाक्ष कहते हैं। बडी विचित्र बात तो यह है कि उस कन्दरा का आकार ओ३म् से मिलता-जुलता है। स्मारक कन्दरा मे बिलकुल अन्दर है और ऐसा कहा जाता है कि अन्दर ओ३म् की ध्वनि सुनी जा सकती है।

नगर स्थित विरूपाक्ष मठ के ट्रस्टियो का कन्दरा पर सापत्तिक अधिकार था। वे कार्तिकी के वार्षिक समारोह के अवसर पर कन्दरा के दर्शनो के लिए आने वाले तीर्थयात्रियो पर एक छोटा-सा कर लगाया करते थे। जिस समय श्रीभगवान् वहाँ गये उस समय कर नही लगाया जाता था क्योंकि दो दलो में कन्दरा के स्वामित्व के सम्बन्ध मे मुकद्दमेबाजी चल रही थी। जब मुकद्दमे का फैसला हो गया तब सफल दल ने पुन कर लगाना शुरू कर दिया। अस्तु, इस समय तक दर्शनार्थियो की सख्या बहुत बढ गयी थी और वर्ष भर न कि केवल कार्तिकी के अवसर पर उनका तांता लगा रहता था। चूँकि दर्शनार्थी कन्दरा में श्रीभगवान् की उपस्थिति के कारण वहाँ आते थे इसलिए यह कर एक प्रकार से श्रीभगवान् के दर्शनो के लिए था। श्रीभगवान् को यह बात पसन्द नहीं थी, इसलिए वह कन्दरा से बाहर निकलकर, इसके सामने एक छायादार वृक्ष के नीचे आकर बैठ गये। इस पर ट्रस्टियो के एजेण्ट ने अपना कर इकट्ठा करने का स्थान इस प्रकार बदल लिया कि श्रीभगवान् जिस वृक्ष के नीचे बैठते थे वह भी ट्रस्टियो की अधिकार-परिधि मे आ गया। अब श्रीभगवान् ने कन्दरा छोड दी और वह नीचे सद्गुरुस्वामी कन्दरा मे चले गये और फिर वहाँ कुछ देर ठहरने के बाद दूसरी कन्दरा में चले गये। विरूपाक्ष कन्दरा मे आने वाले दर्शनार्थिओं का तांता बन्द हो गया। जब ट्रस्टियो ने यह अनुभव किया कि उनके इस कार्य से उन्हें तो कोई लाभ नहीं हुआ, स्वामी को असुविधा हुई है तो उन्होंने उनसे पुन कन्दरा में लौटने की प्रार्थना की और यह वचन दिया कि जब तक स्वामी कन्दरा में रहेंगे तब तक वह किसी प्रकार का कर नही लगाएँगे। इस शर्त पर वह वापस लौट आये।

गरमी के महीनों मे विरूपाक्ष की कन्दरा बहुत अधिक तप जाती है। पहाडी की तराई में मुलाईपाल तीर्थ तालाब के निकट एक कन्दरा है जो ठण्डी है और वहाँ पीने के लिए शुद्ध पानी भी मिल जाता है। इसके ऊपर एक छायादार आम का वृक्ष है, जिसकी वजह से इस कन्दरा का नाम आम्र-कन्दरा

पड गया है। श्रीभगवान् के दो सहोदर भक्तो ने बाहर निकले हुए कन्दरा के हिस्से को बारूद से उडा दिया, इसके आगे एक दीवार खडी कर दी, उसमे एक दरवाजा लगा दिया और श्रीभगवान् गरमी के महीनो मे यही रहने लगे।

सन् १६०० मे, श्रीभगवान् द्वारा पहाडी पर रहने के लिए जाने के थोडे अरसे बाद कुम्बाक्कोनम् निवासी नल्लापिल्लई नामक एक भक्त तिरुवन्नामलाई आये और उन्होने श्रीभगवान् का एक फोटो लिया। हमारे पास यही उनका सबसे प्रारम्भिक चित्र है। यह एक सुन्दर युवक का चेहरा है, परन्तु इससे श्रीभगवान् की शक्ति और गाभीर्य परिलक्षित होते है।

पहाडी पर निवास के प्रारम्भिक वर्षो मे श्रीभगवान् मौनव्रत धारण किये हुए थे। उनके तेज से प्रभावित होकर कई भक्तजन उनके निकट आ गये थे और एक आश्रम की स्थापना हो चुकी थी। केवल साधक भक्तजन ही उनके निकट नही आते थे बल्कि सीधे-सादे लोग, बच्चे और यहाँ तक कि पशु भी उनके निकट आते थे। नगर के किशोर पहाडी पर चढ़कर विरूपाक्ष कन्दरा मे पहुँचते, उनके पास बैठते, खेलते-कूदते और खुशी-खुशी घर वापस लौट आते। गिलहरियाँ और बन्दर श्रीभगवान् के निकट आते और उनके हाथो से खाते।

वह यदा-कदा ही अपने शिष्यो के लिए लिखकर निर्देश दिया करते थे। परन्तु उनके मौन के कारण उनके शिष्यो के प्रशिक्षण मे किसी प्रकार की बाधा नही पडती थी, क्योकि जब कभी वह भाषण करते थे उनकी वास्तविक शिक्षा, दक्षिणामूर्त्ति की परम्परा मे मौन के माध्यम से हुआ करती थी। चीन के लाओ-त्सू और प्रारम्भिक लाओवादी सन्तो ने भी यही परम्परा प्रस्तुत की है। "वह ताओ जिसका नाम लिया जा सकता है, ताओ नही है—" वह ज्ञान जो सूत्रबद्ध किया जा सकता है, सत्य ज्ञान नही है। यह मौन शिक्षा एक प्रत्यक्ष आध्यात्मिक प्रभाव था, जिसे मन ग्रहण करता था और बाद मे अपनी योग्यता के अनुसार इसकी व्याख्या करता था। प्रथम यूरोपीय दर्शक ने इसका इस प्रकार वर्णन किया है

> "कन्दरा मे पहुँचने के बाद हम उनके सम्मुख उनके चरणो मे चुप बैठ गये। हम इस प्रकार बहुत देर तक बैठे रहे और मैंने ऐसा अनुभव किया कि मैं अह की परिधि से परे उठ रही हूँ। मैं आध घण्टे तक महर्षि की आँखो मे देखती रही, उनकी गहन चिन्तन की अभिव्यक्ति बिलकुल परिवर्तित नही हुई। मैंने कुछ इस प्रकार अनुभव करना प्रारम्भ किया कि शरीर पवित्र आत्मा का मन्दिर है, मैं केवल यह अनुभव कर सकी कि उनका शरीर मानव नहीं है यह भगवान् का यन्त्र है, एक बैठा हुआ

अचल शव है, जिसमे से भागवत प्रकाश बडे वेग से बाहर प्रकाशित हो रहा है। मैं अपने भावो की भी अभिव्यक्ति नही कर सकती।"[१]

एक अन्य विदेशी पाल ब्रण्टन ने, जिनकी वृत्ति आस्तिकता की अपेक्षा सन्देह की अधिक थी, अपने मन पर पडने वाले श्रीभगवान् के मौन के प्रथम प्रभाव का इस प्रकार वर्णन किया है

"मेरा इस प्राचीन सिद्धान्त मे अटल विश्वास है कि मनुष्य की आँखें उसकी आत्मा का दर्पण है। परन्तु महर्षि की आँखो के आगे मैं अपने को सकुचित और अभिभूत अनुभव करता हूँ।"

"मैं उन पर से अपनी दृष्टि नही हटा सकता। मेरी प्रारम्भिक व्यग्रता और उलझन जो उनकी उपेक्षा के कारण उत्पन्न हो गयी थी उनके विचित्र आकर्षण के कारण जिसने मुझे अत्यन्त प्रभावित किया धीरे-धीरे जाती रही। परन्तु इस असाधारण दृश्य के दो घण्टे बाद ही मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मेरे मन मे एक मूक और शान्त परिवर्तन हो रहा है। एक-एक करके वे सारे प्रश्न जिन्हें मैंने ट्रेन मे इतनी सतर्क यथार्थता के साथ तैयार किये थे, लुप्त हो गये। अब इन प्रश्नो का पूछना या न पूछना मुझे बिलकुल महत्त्वहीन लगने लगा और जो समस्याएँ, मुझे अब तक परेशान करती आयी थी उनका सुलझाना या न सुलझाना महत्त्वहीन था। मैं तो केवल इतना जानता हूँ कि मुझे ऐसा अनुभव हो रहा था कि मेरे निकट शान्ति की धारा निर्वाध रूप से प्रवाहित हो रही थी, एक महान् शान्ति मेरे अन्तस्थल मे प्रवेश कर रही थी और मेरा विचार-ग्रस्त मस्तिष्क शान्त हो रहा था।"

न केवल बौद्धिक व्यक्तियो के अशान्त मन को बल्कि शोकातुर हृदयो को श्रीभगवान् की अनुकम्पा से शान्ति का वरदान प्राप्त होता था। मण्डा कोलाथर गाँव की रहने वाली अचम्माल, जिस नाम से वह आश्रम में विख्यात थी (उसका पहला नाम लक्ष्मीअम्माल था) सुखी पत्नी और माँ थी, परन्तु पच्चीस वर्ष की होने से पूर्व, पहले उसके पतिदेव स्वर्ग सिधार गये, फिर उसका एकमात्र पुत्र और फिर उसकी एकमात्र पुत्री का स्वर्गवास हो गया। प्रियजनो के इस वियोग से उसका हृदय सतप्त हो उठा, उनकी स्मृति से उसकी छाती फटी जाती थी, उसे कही शान्ति प्राप्त नहीं होती थी। जिस स्थान में उसने सुख-समृद्धि के दिन देखे थे, जिन लोगो के बीच वह इतनी प्रसन्न थी, वे सब उसे काटने लगे। यह सोचकर कि शायद साधु-सन्तों की सेवा से उसका कष्ट दूर हो

---

[१] एफ० एच० हम्फ्रीज द्वारा लन्दन में एक मित्र को लिखे गये पत्र से और उसके द्वारा लन्दन के इण्टरनेशनल साइकिक गजट में प्रकाशित।

जाए, वह महाराष्ट्र स्थित गोकणम् गयी परन्तु उसकी मनोव्यथा लेशमात्र भी कम न हुई। कुछ मित्रो ने उसमे तिरुवन्नामलाई के एक तरुणस्वामी की चर्चा की और कहा कि वह शान्ति के इच्छुको को शान्ति प्रदान करते हैं। वह एकदम तिरुवन्नामलाई के लिए चल पडी। नगर मे उसके कुछ सम्बन्धी रहते थे परन्तु वह उनके पास नही गयी क्योकि उनके दर्शन मे ही, उसे कटु स्मृतियां स्मरण हो आती। एक सहेली के साथ वह पहाडी पर चढकर स्वामी के पास गयी। वह विना अपना दुःख वताये, उनके सामने मौन होकर खडी हो गयी। कष्ट-कथा वर्णन करने की कोई आवश्यकता भी नही थी। स्वामी की आंखो मे प्रकाशमान करुणा उसके लिए अत्यन्त शान्तिप्रद सिद्ध हुई। पूरा एक घण्टा वह खडी रही, उसके मुंह से एक शब्द भी न निकला, इसके वाद वह नीचे पहाडी की ओर शहर मे गयी, उसके दुःख का भार हलका हो चुका था।

इसके वाद वह प्रतिदिन स्वामी के दर्शनो के लिए जाने लगी। स्वामी वह सूर्य थे जिसने उसके शोक की घटाओ को छिन्न-भिन्न कर दिया था। वह विना किसी कडवाहट के अपने स्नेहीजनो को भी स्मरण कर सकती थी। उसने अपना शेष जीवन तिरुवन्नामलाई मे विताया। उसने वहां एक छोटा-सा घर ले लिया। उसके पिता कुछ पैसा छोड गये थे और उनके भाइयो ने भी उसकी सहायता की और वहां आने वाले अनेक भक्तजन उसके आतिथ्य का लाभ उठाने लगे। वह प्रतिदिन भगवान् के लिए भोजन तैयार करती थी जिसका अर्थ था वह सारे आश्रम के लिए भोजन तैयार करती थी, क्योकि भगवान् कोई भी ऐसी वस्तु स्वीकार न करते जो सव मे वरावर न वांटी जाती। जव तक वह वूढी नही हो गयी और उसका स्वास्थ्य खराव नही हो गया वह स्वय भोजन लेकर पहाडी की ओर जाती और जव तक सव आश्रमवासियो को न परोस देती तव तक स्वय न खाती। आश्रमवासियो की सख्या के वढने के साथ सामान्य भोजन मे उसका योगदान वहुत छोटा हो गया। परन्तु जव कभी उसे देर हो जाती श्रीभगवान् उसके आने तक प्रतीक्षा करते ताकि वह निराश न हो।

इतने महान् दुःख मे से गुजरने और शान्ति लाभ करने के वाद, नया सम्वन्ध वनाने के लिए उसमे वात्सल्य की धारा अभी विद्यमान थी। उसने भगवान् की अनुमति लेकर ही एक कन्या को गोद ले लिया। समय आने पर उसने उसके विवाह का प्रवन्ध किया और पौत्र के जन्म पर, जिसका नाम उसने रमण रखा था, वहुत खुशियां मनायी। और एक दिन, जवकि वह स्वप्न मे भी नही सोच सकती थी, उसे तार मिला कि उसकी गोद ली हुई लडकी का देहान्त हो गया है। पुराना दुःख फिर हरा हो उठा। वह तार लेकर भागी-भागी पहाडी की ओर श्रीभगवान् के चरणो मे गयी। उन्होंने आंखो मे

आसू भरे हुए पत्र पढा, उसे सात्वना प्रदान की परन्तु वह शोकातुर महिला पुत्री के दाह-सस्कार के लिए चल पडी। वह पौत्र रमण के साथ वापस लौटी और उसने उसे श्रीरमण की गोद रख दिया। जैसे ही उन्होंने वच्चे को लिया उनकी आँखो मे आँसू उमड आये और उनकी करुणा ने उस महिला को शान्ति प्रदान की।

अचम्माल यौगिक अभ्यास किया करती थी जिसकी दीक्षा उसने एक उत्तर भारतीय गुरु से ली थी। वह अपनी दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर जमा लेती और समाधिस्थ होकर अलौकिक प्रकाश के स्रोत प्रभु के चिन्तन मे लीन हो जाती, कई वार तो घण्टो तक अविचल भाव से वैठी रहती, उसे अपने शरीर की भी सुध-वुध न रहती। श्रीभगवान् को इस सम्वन्ध मे वताया गया परन्तु वह मौन रहे। अन्त मे उसने स्वय उन्हे वताया और उन्होने उसे इस क्रिया के लिए हतोत्साहित किया। "तुम्हें अपने वाहर जो प्रकाश दिखायी देता है, वह तुम्हारा वास्तविक लक्ष्य नही है। तुम्हारा ध्येय आत्म-साक्षात्कार का होना चाहिए, इससे कम जरा भी नही।" इसके वाद उसने यह अभ्यास वन्द कर दिया और वह एकमात्र श्रीभगवान् पर निर्भर रहने लगी।

एक वार एक उत्तर भारतीय शास्त्री विरूपाक्ष कन्दरा पर श्रीभगवान् के साथ वार्तालाप कर रहे थे कि वहाँ अचम्माल भोजन लेकर पहुँची। वह अत्यन्त उद्वेलित थी और काँप रही थी। जब उससे इसका कारण पूछा गया तो उसने कहा, कि जव वह सद्गुरुस्वामी की कन्दरा के पास मे गुजर रही थी, उसे ऐसा लगा कि श्रीभगवान् तथा एक अन्य अजनवी व्यक्ति माग मे खडे हैं। वह अपने रास्ते पर चलती गयी परन्तु उसे एक आवाज सुनायी दी, "दूर क्यो जाती हो, जव मैं यहाँ हूँ।" वह देखने के लिए वापस मुडी परन्तु वहाँ कोई नहीं था। वह भय से जल्दी-जल्दी भागकर आश्रम पहुँच गयी।

शास्त्री एकाएक चिल्ला उठे, "स्वामिन्! आप यहाँ मुझसे वातें कर रहे हैं, और इस महिला के आगे भी मार्ग में प्रकट हो रहे हैं, मुझ पर तो आप इस प्रकार की कृपादृष्टि नहीं करते।" और श्रीभगवान् ने कहा कि तथ्य यह है कि अचम्माल को मैं इसलिए दिखायी दिया क्योकि इसका ध्यान निरन्तर मेरी ओर रहता है।

अचम्मास ही अकेली ऐसी महिला नही थी जिसे श्रीभगवान् दिखायी दिया करते थे। मुझे ऐसा अन्य कोई उदाहरण ज्ञात नही है जव स्वामीजी के इस प्रकार दिखायी देने से किसी के मन में भय पैदा हुआ हो। कुछ वष वाद एक पाश्चात्य वृद्ध दशक पहाडी के नीचे स्थित आश्रम मे पधारे थे। दोपहर के भोजन के वाद वह पहाडी मे घूमने निकल पडे परन्तु अपना रास्ता भूल गये। वह धूप और श्रम के कारण वहुत थक चुके थे, उन्हे यह नही सूझ

रहा था कि किस ओर जाएँ, उनकी दशा अत्यन्त निराशाजनक थी, कि इस समय श्रीभगवान् उनके पास से गुजरे और उन्होंने उन्हे आश्रम का रास्ता दिखाया। आश्रम के लोग उन वृद्ध सज्जन के सम्बन्ध मे बहुत चिन्तित थे। जब वह वापस आये तब आश्रमवासियो ने उनसे सारी घटना पूछी। उन्होंने कहा, "मैं पहाडी पर सैर करने गया था और रास्ता भूल गया। मैं धूप और थकान सहन नही कर सका और मेरी अत्यन्त बुरी हालत हो गयी। मैं किंकर्त्तव्यविमूढ था कि इतने मे भगवान् वहाँ प्रकट हुए और उन्होंने मुझे आश्रम का रास्ता बताया।" आश्रमवासी अत्यन्त विस्मय मे थे क्योंकि भगवान् उस महाकक्ष से कभी बाहर नही गये थे।

काठमाण्डू, नेपाल मे त्रिचन्द्र कालेज के प्रिन्सिपल श्री रुद्रराज पाण्डे, तिरुवन्नामलाई से प्रस्थान करने से पूर्व, अपने एक मित्र के साथ, नगर के महान् देवालय मे पूजा करने के लिए गये।

> "अन्दर के देवालय के द्वार खोल दिये गये और हमारा मार्गदर्शक हमे भीतरी भाग की ओर ले गया जहाँ अँधेरा था। हमारे सामने कुछ गज की दूरी पर एक छोटी मोमबत्ती झिलमिल कर रही थी। मेरे तरुण साथी के कण्ठ से एकाएक निकल पडा 'अरुणाचल'। उस पवित्र स्थल मे मेरा समस्त ध्यान लिङ्गम् (जो उस देवाधिदेव शाश्वत और अनभिव्यक्त सत्ता का प्रतीक है) के दर्शन की ओर केन्द्रित हो गया। परन्तु बडी अद्भुत बात है कि लिङ्गम् के स्थान पर मुझे महर्षि भगवान् श्रीरमण की मूर्त्ति दिखाई देने लगी, उनका वह स्थिर वदन और देदीप्यमान नेत्र मेरी ओर थे। और इससे अधिक विचित्र बात यह है कि यह एक महर्षि नही था, जिसे मैं देख रहा था, न दो या तीन महर्षि थे, मैं सहस्रो की सख्या मे वही स्थिर वदन और देदीप्यमान नेत्र देखने लगा। जिधर ही मैं उस पुनीत स्थल मे दृष्टि डालता मुझे यह सब कुछ दिखायी देता। मुझे महर्षि की पूरी आकृति नही दिखायी देती थी, केवल ठोडी से ऊपर उनका हँसता हुआ चेहरा दिखायी देता था। मेरे आनन्द का पारावार न रहा—मैंने जिस अनुपम आनन्द और शान्ति का अनुभव किया, वह वर्णनातीत है। मेरी गालो पर आनन्दाश्रु बहने लगे। मैं भगवान् अरुणाचल के दर्शनो के लिए मन्दिर मे गया और मैं साक्षात् जीवित भगवान् का प्रसादभाजन बना। मुझे उस प्राचीन मन्दिर मे जो गहरी अनुभूति हुई, उसे मैं कदापि विस्मृत नही कर सकता।"[1]

तथापि श्रीभगवान् इस प्रकार के दर्शनो मे दिलचस्पी या उनके लिए

---

[1] **स्वर्ण-जयन्ती स्मृति-चिह्न, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ १६६।**

इच्छा को कभी प्रोत्साहित नही करते थे, न ही ये दर्शन सभी भक्तो या शिष्यो को होते थे।

इस समय श्रीभगवान् के सर्वाधिक श्रद्धालु भक्तो मे से एक शेषाद्रिस्वामी थे। ये वही शेषाद्रिस्वामी थे, जिन्होने श्रीभगवान् की स्कूल के विद्यार्थियो से रक्षा की थी, जब वे सर्वप्रथम तिरुवण्णामलाई आये थे। वे अब विरूपाक्ष कन्दरा से नीचे पहाडी पर रहते थे और वहाँ अकसर जाया करते थे। वे बहुत ऊँची आध्यात्मिक स्थिति मे पहुँच चुके थे। उनमे देवोपम आकर्षण और सौन्दर्य था, जो उनके विद्यमान चित्रो में दिखायी देता है। वे पक्षियो के सदृश स्वतन्त्र और सबसे न्यारे दिखायी देते थे। प्राय उन तक लोगो की पहुँच नही हो पाती थी, वह प्राय मौन रहते थे और जब कभी बोलते थे तो वह प्राय समझ मे परे और पहेलियों से भरा होता था। उन्होंने १७ वर्ष की आयु मे घर छोड दिया था और उन मन्त्रों तथा जप की दीक्षा ली थी, जिनसे रहस्यमयी सिद्धियो का विकास होता है। कभी-कभी वे शक्ति की सिद्धि के लिए रात भर श्मशान मे बैठे रहते थे।

न केवल वे हमेशा भक्तों को रमण स्वामी, जैसा कि वे उन्हें पुकारते थे, के पास जाने के लिए प्रोत्साहित करते थे बल्कि कई अवसरो पर वे अपने को रमण स्वामी के साथ एकरूप समझते थे। वे दूसरो के विचार जान जाते और अगर श्रीभगवान् ने किसी भक्त से कोई बात कही होती तो वे कहा करते थे, "मैंने तुमसे ऐसा-ऐसा कहा था, तुम फिर क्यो पूछते हो ?" या "तुम इस पर आचरण क्यो नही करते ?" वे किसी मन्त्र की दीक्षा तो बहुत ही कम देते थे और अगर वह निवेदक पहले से ही रमण स्वामी का भक्त होता तो वे हमेशा इनकार कर देते थे, उसे वहाँ जाने के लिए कहते जहाँ सबसे बडा उपदेश मौन मार्गदर्शन का मिलता।

एक ही अवसर ऐसा आया जब उन्होंने वस्तुत एक भक्त को सक्रिय साधना के लिए प्रेरित किया। इस व्यक्ति का नाम सुब्रह्मण्य मुदाली था जो अपनी पत्नी और माता के साथ मिलकर, अपनी अधिकाश आय उन साधुओं के लिए, जिन्होंने ससार का परित्याग कर दिया था, भोजन तैयार करने में व्यय कर दिया करता था। अचम्माल की तरह वे प्रतिदिन श्रीभगवान् और उनके आश्रमवासियो के लिए, और शेषाद्रिस्वामी के लिए भी अगर वे मिल जायें, भोजन ले जाया करते थे। साथ ही साथ सुब्रह्मण्य एक जमींदार था और मुकदमेबाजी मे फँसा हुआ था और अपनी सम्पत्ति बढाने की कोशिश कर रहा था। शेषाद्रिस्वामी को इस बात से बहुत दुख हुआ कि इतना बडा भक्त ससार के माया मोह में आसक्त है। उन्होंने उसे आदेश दिया कि वह इस प्रकार की सासारिक चिन्ताओ का सर्वथा परित्याग कर दे, अपने को पूर्णत भगवान् के

प्रति समर्पित कर दे तथा आध्यात्मिक विकास के लिए प्रयास करे। उन्होंने उससे कहा, "देखो मेरे छोटे भाई की आय १० हजार रुपये है, और मेरी १ हजार रुपये है, तुम कम से कम १०० रुपये की आय के लिए तो कोशिश करो।" 'छोटा भाई' से उनका अभिप्राय रमण स्वामी से और 'आय' से अभिप्राय आध्यात्मिक उन्नति से था। परन्तु जब सुब्रह्मण्य न माने, शेषाद्रिस्वामी ने हठ किया और उन्हे चेतावनी दी कि वे ब्रह्म-हत्या का पाप कर रहे हैं। सुब्रह्मण्य को श्रीभगवान् मे अधिक आस्था थी इसलिए उन्होंने उनसे पूछा कि क्या यह सत्य है। श्रीभगवान् ने कहा, "हाँ, आप अपने ब्रह्म स्वरूप को भूलकर ब्रह्म-हत्या के भागी बन रहे हैं।"

एक बार का जिक्र है कि शेषाद्रिस्वामी आम्र-कन्दरा मे श्रीभगवान् के विचारो को जानने के लिए उन पर दृष्टि स्थिर करके बैठ गये। परन्तु श्रीभगवान् तो आत्मा की अनन्त शान्ति मे लीन थे, उनमे विचार की कोई तरग उठती ही न थी। इससे शेषाद्रिस्वामी चकित हो गये और उन्होने कहा, "यह स्पष्ट नही है कि श्रीभगवान् क्या सोच रहे हैं।"

श्रीभगवान् मौन रहे। कुछ देर रुकने के बाद शेषाद्रिस्वामी ने कहा, "अगर कोई भगवान् अरुणाचल की पूजा करे तो उसे मुक्ति मिल जायगी।"

और तब भगवान् ने प्रश्न किया, "वह कौन है जो पूजा करता है और किसकी पूजा की जाती है।"

शेषाद्रिस्वामी हँस पडे, "यही बात तो स्पष्ट नही है।"

तब श्रीभगवान् ने विस्तार से उस एक आत्मा के सम्बन्ध मे बताया जो विश्व के सब रूपो मे अभिव्यक्त हो रही है और फिर भी अनभिव्यक्त है और अभिव्यक्ति से उसमे जरा भी परिवर्तन नही आता। यही एकमात्र सत्य है। शेषाद्रिस्वामी ने बडे ध्यान से इसे सुना, अन्त मे वह उठ खडे हुए और उन्होने कहा, "मैं कुछ नही कह सकता। यह सब मेरी समझ से परे है तथापि मैं पूजा करता हूँ।"

इतना कहकर उन्होने गिरि-शृग की ओर मुंह किया, बार-बार वह इसे साष्टाग प्रणाम करने लगे और फिर वहाँ से चले गये।

शेषाद्रिस्वामी भी कभी-कभी उस एकता के दृष्टिकोण से भाषण करते, वह सब वस्तुओं को आत्मा की अभिव्यक्ति समझते, परन्तु वह जिस भी दृष्टिकोण से भाषण करते, उसमे शुष्क और व्यग्र परिहास का पुट होता। एक दिन किसी नारायणस्वामी ने उन्हें एक भैंस की ओर घूरते हुए देखा और पूछा, "स्वामी, किसे देख रहे हैं?"

"मैं इसे देख रहा हूँ।"

उसने आग्रहपूर्वक कहा, "क्या यह भैंस है, जिसे स्वामी देख रहे हैं?"

और तब भैंस की ओर इशारा करते हुए शेषाद्रिस्वामी ने उससे कहा, "मुझे बताओ यह क्या है ?"

उसने भोलेपन से उत्तर दिया, "यह भैंस है।" इस पर शेषाद्रिस्वामी चिल्ला उठे, "क्या यह भैंस है ? भैंस ? तुम भैंस होगे। इसे ब्राह्मण कहो।" इतना कहकर वह मुड पड़े और दूर चले गये।

जनवरी सन् १९२९ मे शेषाद्रिस्वामी का स्वर्गवास हुआ। सन्तो की तरह, उनका शरीर जलाया नहीं गया बल्कि इसे दफनाया गया। श्रीभगवान् मौन भाव से यह सब देखते रहे। अब भी तिरुवण्णामलाई मे शेषाद्रिस्वामी की पूजा की जाती है और उनके मृत्यु समारोह के अवसर पर उनके चित्र का सारे नगर में जुलूस निकाला जाता है।

श्रीभगवान् ने पहाड़ी पर जो प्रारम्भिक वर्ष व्यतीत किये, उस दौरान वे धीरे-धीरे बाह्य क्रियाकलाप की ओर अभिमुख हो रहे थे। उन्होंने चलना-फिरना, पहाड़ी की छानबीन करना, पुस्तकें पढ़ना और लिखना प्रारम्भ कर दिया था। पद्मनाभ नाम के एक स्वामी थे जिन्हे उनकी लम्बी-लम्बी जटाओ के कारण जटाई स्वामी भी कहते थे। पहाड़ी पर उन्होंने एक आश्रम बना रखा था और उनके पास आश्रम में आध्यात्मिक ज्ञान सम्बन्धी तथा आयुर्वेद जैसे आध्यात्मिक आधार वाले प्रयोगात्मक ज्ञान सम्बन्धी कई ग्रन्थ थे। श्रीभगवान् पद्मनाभ स्वामी से उनके आश्रम में मिलने जाया करते और इन ग्रन्थो का अवलोकन किया करते। उन्होंने तत्काल ही इन ग्रन्थो की विषय-वस्तु पर इतना अधिक आधिपत्य प्राप्त कर लिया और उसे कण्ठस्थ कर लिया कि वे न केवल इसे दोहरा सकते थे बल्कि इसका सूक्ष्मतम विवरण भी प्रस्तुत कर सकते थे।

पुराणो मे ऐसा कहा गया है कि अरुणाचल की उत्तरी ढलान पर, चोटी के निकट अरुणागिरि योगी के नाम से विख्यात एक सिद्ध पुरुष एक पीपल के वृक्ष के नीचे मौन भाव से उपदेश देते हुए, ऐसे स्थान पर बैठे हुए हैं जहाँ पहुँचना लगभग असम्भव है। तिरुवण्णामलाई के भव्य मन्दिर में उनकी पवित्र स्मृति में एक मण्डप बना हुआ है। कहानी में ऐसा वर्णित है कि यद्यपि अरुणाचल मौन दीक्षा के माध्यम से लोगो को आत्म-अन्वेषण के मार्ग पर मुक्ति की ओर ले जाते हैं तथापि उनकी यह कृपादृष्टि आध्यात्मिक दृष्टि से अन्धकाराच्छन्न इस युग के लोगों के लिए अप्राप्य हो गयी थी। तथापि, कहानी का प्रतीकात्मक अर्थ इसे शाब्दिक रूप से असत्य नही ठहराता। १९०६ के लगभग एक दिन जब श्रीभगवान् पहाड़ी की उत्तरी ढलान पर घूम रहे थे कि उन्हें एक शुष्क जलधारा में एक बड़ा-सा पीपल के वृक्ष का पत्ता दिखायी दिया। यह पत्ता इतना बड़ा था कि इस पर भोजन परोसा जा सकता

था। उन्होने यह अनुमान लगाया कि इस पत्ते को पानी नीचे वहा लाया होगा। और उस वृक्ष को, जिस पर इतने वडे पत्ते लगते होगे देखने की इच्छा से उन्होने वाद मे एक अवसर पर पहाडी पर चढकर उस जलधारा तक पहुँचने का निश्चय किया। ऊवड-खावड और दुर्गम पहाडी पर चढ़ने के वाद वह एक ऐसे स्थान पर पहुँचे, जहाँ से एक विशाल चपटी शिला दिखायी दी। इस चट्टान पर वह विशाल और हरा-भरा पीपल का वृक्ष था जिसकी वह तलाश मे थे। उन्हे उस नगी शिला पर उस वृक्ष को देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उन्होने चढना जारी रखा। परन्तु जैसे ही वे निकट पहुँचने वाले थे, उनकी टाँग के स्पर्श से भिडो का एक छत्ता भडक उठा। भिड उडने लगे और उन्होने प्रतिशोध के क्रोध मे उनकी टाँग पर धावा वोल दिया। श्रीभगवान् शान्त भाव से खडे रहे। उन्होने अत्यन्त नम्र भाव से भिडो के छत्ते को नष्ट करने के परिणामस्वरूप मिलने वाले उस दड को स्वीकार किया। परन्तु इस सकेत से उन्होने आगे न बढ़ने का निश्चय किया और वे कन्दरा मे वापस लौट आये। उन्हे गये हुए वहुत देर हो गयी थी इसलिए भक्तजन अत्यन्त चिन्तित हो रहे थे। जव उन्होने श्रीभगवान् को देखा तो वे उनकी फूली हुई टाँग को देखकर अत्यन्त भयभीत हो गये। उन्होने उस अगम्य पीपल के वृक्ष की ओर सकेत किया। वे फिर कभी उस ओर नही गये। उनके जो भक्तजन उस वृक्ष तक पहुँचना चाहते थे, उन्हे भी उन्होने निरुत्साहित किया।

एक वार भक्तो के एक दल ने, जिसमे थामसन नामक एक अग्रेज भी थे, उस वृक्ष तक पहुँचने का सकेत किया। कुछ देर तक अन्धाधुन्ध वढने के वाद वे इतनी कठिन स्थिति मे पड गये कि न तो उनमे ऊपर जाने की हिम्मत रही और न नीचे उतरने की। उन्होने सहायता के लिए भगवान् से प्रार्थना की और किसी प्रकार सुरक्षित आश्रम वापस लौट आये। उन्होने फिर कभी कोशिश नही की। दूसरो ने भी प्रयास किया परन्तु उन्हे सफलता नही मिली।

यद्यपि श्रीभगवान् किसी कार्य को निन्दनीय ठहराते थे तथापि बहुत कम अवसरो पर वह स्पष्टत इसके लिए निषेध करते थे। वह यह समझते थे कि क्या उचित है और क्या अनुचित, यह अन्तरात्मा ही वता सकती है। वर्तमान उदाहरण में उनके भक्तो के लिए स्पष्टत यह अनुचित था कि वे वह कार्य करें, जिसके लिए उनके स्वामी ने उन्हें मना किया है।

एक समय ऐसा था जव भगवान् अक्सर पहाडी पर घूमते, इसकी चोटी पर चढते और इसकी प्रदक्षिणा करते ताकि वे इसके प्रत्येक भाग से परिचित हो सकें। एक दिन जव वह अकेले घूम रहे थे, वह एक वृद्ध महिला के पास से गुजरे। यह महिला पहाडी पर लकडियाँ इकट्ठी कर रही थी। वह एक साधारण अस्पृश्य महिला लगती थी परन्तु उसने एक सवण हिन्दू के समान अत्यन्त

निर्भीकतापूवक स्वामी को सम्बोधित करते हुए अस्पृश्य जनोचित भापा मे कहा, "तुम्हारा सत्यानाश हो ! तुम इस तरह गरमी मे क्यो घूम रहे हो ! तुम शान्त होकर क्यो नही बैठते ?"

अव श्रीभगवान् ने इस घटना की चर्चा अपने भक्तो से करते समय कहा, "यह साधारण औरत नही हो सकती । कौन जानता है, वह कौन थी ।" निश्चय ही किसी अछूत औरत को स्वामी से इस प्रकार वोलने का साहस न होता । भक्तो का यह कहना था कि यह निश्चय ही कोई अरुणगिरि का सिद्ध, अरुणाचल की आत्मा हो । तव से श्रीभगवान् ने पहाडी पर घूमना छोड दिया ।

जव श्रीभगवान् सवप्रथम तिरुवन्नामलाई गये, जैसा हमने पहले वणन किया है, वे कभी-कभी परमानन्द की अवस्था मे घूमने निकल पडते थे । लगभग १९१२ तक, जव कि उन्हें मृत्यु का अन्तिम और पूर्ण अनुभव हुआ, भ्रमण की उनकी यह आदत कुछ-कुछ वनी रही । एक दिन प्रात काल वे पलानी स्वामी, वासुदेव शास्त्री तथा अन्य भक्तजनो के साथ विरूपाक्ष कन्दरा से पचैयामान कामता के लिए चल पडे । वहाँ उन्होंने तैल-स्नान किया । जव वह वापसी पर कच्छप शिला के निकट पहुँचे तव एकाएक उन्हें शारीरिक निवलता अनुभव होने लगी । वाद मे उन्होने इस प्रकार इसका वणन किया

"मेरे आगे का दृश्य लुप्त हो गया, मानो मेरी आँखो के आगे एक चमकीला सफेद परदा आ गया हो और मेरी आँखो को उसने ढक लिया हो । मैं इस क्रमिक प्रक्रिया को स्पष्टत देख सकता था । मेरे सामने एक रगमच था, मैं दृश्य का कुछ भाग स्पष्टत देख सकता था, जव कि शेष अग्रिम परदे से ढका था । यह इस प्रकार था मानो सैरवीन (स्टीरियोस्कोप) मे किसी के नेत्रो के आगे स्लाइड आ गयी हो । इस प्रकार अनुभव करने के वाद, मैंने चलना बन्द कर दिया ताकि मैं कही गिर न पडूँ । जव यह साफ हो गया मैंने चलना शुरू कर दिया । जव दूसरी वार मेरी आँखो के आगे अँधेरा छा गया और मुझे कमजोरी महसूस होने लगी मैं एक शिला का सहारा लेकर तव तक खडा रहा जब तक मेरी आँखो के आगे से यह अँधेरा छँट नही गया । जव तीसरी वार ऐसा हुआ तो मैंने वैठ जाना ही उचित समझा इसलिए मैं शिला के पास बैठ गया । तव उस चमकीले सफेद पर्दे के कारण मेरा देखना विलकुल वन्द हो गया, सिर चकराने लगा, खून का दौरा वन्द हो गया और सांस रुक गयी । मेरी त्वचा नीली-काली पड गयी । यह मौत का रग था । यह गहरा और गहरा होता गया । तथ्य तो यह है कि वासुदेव शास्त्री ने मुझे मृत समझ लिया, अपनी गोद मे ले लिया और मेरी मृत्यु का शोक मनाते हुए जोर-जोर से रोना शुरू कर दिया ।

"मुझे वासुदेव शास्त्री के आलिगन और उनकी कँपकँपी का स्पष्ट अनुभव हो रहा था, उनके विलाप के शब्द स्पष्ट सुनायी पड रहे थे और उनका अथ मेरी समझ मे आ रहा था। मुझे अपनी त्वचा का रग उडता हुआ दिखायी दिया और ऐसा लगा कि खून का दौरा वन्द हो रहा है, साँस रुक रही है और शरीर ठण्डा होता जा रहा है। इस स्थिति मे भी मेरा सामान्य चैतन्य वना हुआ था। मुझे जरा भी भय नही था और शरीर की इस अवस्था पर मुझे तनिक भी शोक नही था। मैं अपनी सामान्य स्थिति मे शिला के निकट वैठा था, अपनी आँखें वन्द कर ली थी और शिला का सहारा लेकर वही वैठा था। विना खून के दौरे और साँस के मेरा शरीर उसी स्थिति मे था। यह अवस्था कोई दस या पन्द्रह मिनट तक रही। तव एकाएक मेरे शरीर मे कपन की एक लहर दौड पडी, प्रवल शक्ति के साथ खून का दौरा और साँस चालू हो गयी और शरीर के प्रत्येक अग से पसीना छूटने लगा। त्वचा पर जीवन का रग पुन प्रकट हो गया था। मैंने तव अपनी आँखें खोली और उठ खडा हुआ। मैंने कहा, "चलो, अव चलें।" हम विना किसी और वाधा के विरूपाक्ष कन्दरा पर पहुँच गये। यही एकमात्र दौरा मुझे पडा जिसमे मेरा खून का दौरा और साँस दोनो रुक गये थे।"

तव बाद मे, जो गलत विवरण फैलने लगे थे, उन्हे दूर करने के लिए उन्होने यह वक्तव्य दिया

"मैं किसी प्रयोजन से अपने को दौरे की हालत मे नही लाया था और न ही मैं यह देखना चाहता था कि मृत्यु के वाद मेरे शरीर की क्या अवस्था होगी। न ही मैंने यह कहा था कि दूसरो को चेतावनी दिये विना मैं इस शरीर का त्याग नही करूँगा। यह उन दौरो मे से था, जो मुझे कभी-कभी पडा करते थे। केवल इस वार दौरे ने भयकर रूप धारण कर लिया था।"

इस अनुभव के सम्वन्ध मे शायद सवसे अधिक विशिष्ट वात यह है कि यह श्रीभगवान् के आध्यात्मिक जागरण के फलस्वरूप समुत्पन्न मृत्यु के समय की सहिष्णुता की आवृत्ति है, जो वास्तविक शारीरिक प्रदर्शन द्वारा प्रकट हो रही है। इससे हमे थायुमनावर कवि के उस पद का पुन स्मरण हो आता है, जिसे श्रीभगवान् प्राय उद्धृत किया करते थे "जव व्यक्ति उस सर्वव्यापिनी सत्ता से जिसका न आदि है, न अन्त और न मध्य, अभिभूत हो जाता है, तव उसे अद्वैत आनन्द की अनुभूति होती है।"

इससे श्रीभगवान् के वाह्य सामान्य जीवन की ओर वापसी की प्रक्रिया की पूर्णता सूचित होती है। श्रीभगवान् अपनी जीवन-पद्धति मे कितने सामान्य और मानवीय थे, इस सम्वन्ध मे कुछ कहना कठिन है। परन्तु इसका वर्णन

आवश्यक है क्योंकि उनकी पूर्व कठोर तपस्या से किसी का यह विचार बन सकता है कि उनका रूप भयानक और घृणास्पद होगा। इसके विपरीत उनकी जीवन-पद्धति स्वाभाविक और सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त थी। नवागतुक उनके सान्निध्य मे तत्काल ही अपने को सुखद स्थिति मे अनुभव करने लगता था। उनकी बातचीत मे हमेशा हास-परिहास का पुट रहता था। उनका बाल-सुलभ हास्य इतना प्रभावी था कि जो उनकी भाषा नही भी समझते थे, वे भी इसका आनन्द लेते थे।

श्रीभगवान् और उनका आश्रम अत्यन्त स्वच्छ थे। जब एक नियमित आश्रम की स्थापना हो गयी तब इसका कार्य कार्यालय की तरह समय-सारणी के अनुसार चलने लगा। घड़ियो का समय बिलकुल ठीक रखा जाता था और दैनिक कार्यक्रम सर्वथा निर्धारित होता था। किसी वस्तु का अपव्यय नही किया जाता था। एक बार एक सेवक को श्रीभगवान् ने इसलिए डाँटा क्योकि वह पुस्तक पर चढाने के लिए नया कागज ले आया था। जब कि पहले कटे हुए कागज का भी प्रयोग किया जा सकता था। भोजन के सम्बन्ध में भी यही बात थी। जब श्रीभगवान् भोजन कर चुकते थे, उनकी पत्तल पर चावल का एक भी दाना जूठन के रूप मे नही दिखायी देता था। सब्जी के डण्ठल और पत्ते पशुओ के खाने के लिए रख दिये जाते थे, उन्हें फेंका नही जाता था।

श्रीभगवान् स्वभावत अत्यन्त सरल और विनम्र थे। जिन बातो पर उन्हें क्रोध आता था, उनमे से एक यह भी थी। खाना परोसने के थोडी-सी समय यदि उनके सामने कोई स्वादिष्ट वस्तु दूसरो की अपेक्षा अधिक मात्रा मे परोसी जाती तो वे क्रोधित हो उठते। महाकक्ष में प्रवेश करते समय वह लोगो का अपने सम्मान मे उठ खडे होना पसन्द नही करते थे और उनसे अपने स्थानो पर बैठे रहने का सकेत करते थे। एक बार वह दोपहर को धीरे-धीरे नीचे पहाडी पर स्थित आश्रम् की ओर जा रहे थे। उनका कद लम्बा और रग स्वर्ण सदृश था। बाल पहले ही सफेद हो चुके थे। वह अत्यन्त कृशकाय दिखायी देते थे। गठिये के कारण वे झुककर और लाठी का सहारा लेकर चल रहे थे। उनके साथ छोटे कद का, श्याम वर्ण का एक सेवक था। पीछे से उनका एक भक्त आ रहा था, इसलिए वह यह कहते हुए एक ओर हो गये, "तुम तरुण हो, और जल्दी चलते हो, पहले तुम जाओ।" यह एक छोटी-सी शिष्टाचार की बात थी परन्तु भक्त के प्रति गुरु का यह गौरव गरिमामय आचरण था।

ऐसी अनेक कथाएँ है। कहाँ तक वर्णन करें। इनमे से कुछ पर बाद मे उपयुक्त स्थान पर प्रकाश डाला जायगा। चूँकि अब सामान्य जीवन-पद्धति की ओर वापसी की चर्चा हो रही है, इसलिए यह निर्देश करना आवश्यक है कि उनकी जीवन-पद्धति कितनी सामान्य, कितनी मानवीय और कितनी उदात्त थी।

सातवाँ अध्याय

अ-प्रतिरोध

एक स्थापित धम मे अ-प्रतिरोध अव्यावहारिक प्रतीत हो सकता है क्योकि प्रत्येक देश को न्यायालय और पुलिस और कम से कम आधुनिक परिस्थितियो मे सेना अवश्य रखनी पडती है। धम के दायित्व के दो स्तर होते है एक तो निम्नतम दायित्व उन सब व्यक्तियो का जो इसका अनुसरण करते हैं और उन देशो का जहाँ यह स्थापित है और दूसरे पूर्ण दायित्व उन व्यक्तियो का जो स्वर्गिक सुख की खोज मे सभी सासारिक वस्तुओ को तुच्छ समझते हुए धर्मात्माओ द्वारा निर्धारित मार्ग का अनुसरण करते हैं। केवल इसी दूसरे और उच्चतर अथ मे श्रीभगवान् ने एक मार्ग का निर्धारण किया था। इसीलिए वे स्वय अपने को तथा अपने अनुयायियो को कह सकते थे, "बुराई का प्रतिरोध मत करो।" वे समस्त समाज के लिए किसी सामाजिक नियम की घोपणा नही कर रहे थे वल्कि वे अपने अनुयायियो के लिए एक जीवन-पद्धति का सकेत कर रहे थे। यह केवल उन्ही लोगो के लिए सभव है जिन्होंने भगवदिच्छा के प्रति आत्म-समर्पण कर दिया है और जो कुछ उनके सामने आता है उसे वह उचित और आवश्यक रूप मे स्वीकार कर लेते है भले ही सासारिक दृष्टिकोण से वह दुर्भाग्य हो। श्रीभगवान् ने एक वार एक भक्त से कहा था, "आप भगवान् को अच्छी चीजो के लिए धन्यवाद देते हो परन्तु आप उसे उन चीजो के लिए धन्यवाद नही देते जो आपको बुरी प्रतीत होती हैं, यही आप गलती करते हैं।"

यह आपत्ति की जा सकती है कि यह सरल विश्वास श्रीभगवान् द्वारा उपदिष्ट एकरूपता के सिद्धान्त से वहुत भिन्न है, परन्तु केवल मानसिक स्तर पर ही इस प्रकार के सिद्धान्तो मे सघर्ष होता है। उनका कहना था, "भगवान्, गुरु या आत्मा के प्रति समर्पण ही आवश्यक है।" जैसा कि एक वाद के अध्याय मे दिखाया जायगा, समर्पण की ये तीन पद्धतियाँ वस्तुत भिन्न नही हैं। यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि उस व्यक्ति के लिए जो यह मानता है कि केवल एक ही आत्मा है, सभी वाह्य गतिविधि एक स्वप्न या चलचित्र प्रदर्शन प्रतीत होता है जो आत्मा के उपस्तर पर हो रहा है और वह एक

उदासीन दर्शक की भाँति इसे देख रहा है। बुराई या उत्पीडन के अवसरो पर श्रीभगवान् की इस प्रकार की धारणा होती थी।

गुरूमूत्तम के बाहर इमली के वृक्ष थे। जब श्रीभगवान् वहाँ रहते थे, वे कभी-कभी किसी एक इमली के वृक्ष के नीचे जाकर बैठा करते थे। एक दिन, जब कोई और व्यक्ति आस-पास नही था, चोरो का एक दल इमली की पकी फलियाँ चुराने के लिए वहाँ आया। वृक्ष के नीचे तरुण स्वामी को मौन भाव से बैठे हुए देखकर, उनमे से एक कहने लगा, "कही से थोडा-सा अम्ल रस लाओ और इसकी आँखो मे डाल दो, देखें फिर वह बोलता है कि नही।" इस रस से, भयकर दर्द के अलावा, आदमी अधा भी हो सकता है, परन्तु स्वामी अचल बैठे रहे, मानो उन्हें अपनी आँखो की और इमली की फली की कोई चिन्ता ही न हो। दल के एक अन्य व्यक्ति ने उत्तर दिया, "इसकी चिन्ता मत करो! यह हमे क्या नुकसान पहुँचाएगा! आओ, हम अपना काम करे।"

पहाडी पर, गुरु के वर्षों मे कभी-कभी हस्तक्षेप या विरोध होता था। साधुओ की विचित्र दुनिया मे, कुछ साधु-ठग भी होते हैं और कुछ ने अपने आवेशो का नियन्त्रित किये बिना, प्रयत्न से कुछ सिद्धियाँ प्राप्त कर ली होती हैं। भक्तो द्वारा दैवी दीप्ति सम्पन्न तरुण स्वामी की प्रशस्ति के कारण कई साधुओ मे विक्षोभ की भावना पैदा होना स्वाभाविक था हालाँकि अधिकाश साधु श्रीभगवान् के आगे नतमस्तक होते और उनकी कृपा की आकाक्षा करते थे।

पहाडी पर एक कन्दरा मे एक वृद्ध साधु रहते थे। वह श्रीभगवान् का जब तक वह गुरूमूत्तम् मे रहे बडा सम्मान करते रहे। विरूपाक्ष आने के बाद श्रीभगवान् कभी-कभी उनके दर्शनो के लिए जाते और उनके पास मौन भाव से बैठ जाते। यद्यपि वह तपस्वी जीवन व्यतीत कर रहे थे और उनके अनुयायी भी थे तथापि वह अभी मानवीय आवेशो पर विजय नही पा सके थे। इसीलिए वह यह सहन नही कर सकते थे कि तरुण स्वामी के अनुयायियो की सख्या तो बढती जाय और उनके अपने अनुयायियो की सख्या घटती जाय। वह श्रीभगवान् को मारने या भयभीत करके पहाडी से भगाने का निश्चय करके सूर्यास्त के बाद विरूपाक्ष के ऊपर पहाडी पर छिपकर बैठ गये और शिलाएँ तथा पत्थर नीचे लुढकाने लगे। श्रीभगवान् अविचल भाव से बैठे रहे, हालाँकि एक पत्थर उनके बिलकुल निकट आ गया। सतत जागरूक भगवान् इस घटना-चक्र से पूर्णत परिचित थे। एक अवसर पर तो वह जल्दी-जल्दी चुपके से पहाडी पर चढ गये और उन्होंने उस वृद्ध व्यक्ति को रगे हाथो पकड लिया। फिर भी उस वृद्ध व्यक्ति ने इसे मजाक मे उडाने की कोशिश की।

जब उस वृद्ध साधु को अपने प्रयत्न में सफलता न मिली तब उसने बाला-नन्द नामक एक धूर्त की सहायता ली। वह व्यक्ति सुन्दर और पढ़ा-लिखा

था। साधु के भेष मे लोगो की आँखो मे धूल झोकता था। इस व्यक्ति ने श्रीभगवान् के कारण लाभ उठाना और ख्याति अर्जित करनी चाही। यह सोच कर कि तरुण स्वामी अपनी सन्तवृत्ति के कारण बुराई का प्रतिरोध नही करेंगे, उसने उनके गुरु होने का ढोग रचा। वह दर्शको से कहने लगा, "यह तरुण स्वामी मेरा शिष्य है।" या "हाँ, बच्चे को कुछ मिठाई दे दो," और वह श्रीभगवान् से कहता, "हाँ, तो मेरे बच्चे वेंकटरमण, मिठाई ले लो।" या वह अपने तथाकथित शिष्य के लिए बाजार जाकर चीजें ख़रीदने का ढोग रचता। वह इतना धृष्ट था कि जब वह श्रीभगवान् के साथ अकेला होता तो वह उन्हे उद्दण्ड भाव से कहा करता, "मैं दर्शको से कहूँगा कि मैं तुम्हारा गुरू हूँ और उनसे पैसे ले लूँगा। इसमे तुम्हारी कोई हानि नही, इसलिए तुम मेरा विरोध मत करना।"

इस व्यक्ति के अभिमान और उद्दण्डता का कोई अन्त नही था। और एक रात को उसने कन्दरा के बरामदे मे टट्टी तक कर दी। अगले प्रात काल वह अपने फालतू कपडे, जिनमे कुछ रेशमी और जरीदार थे कन्दरा मे छोडकर बाहर चला गया। श्रीभगवान् ने कुछ नही कहा। उस प्रात काल वह पलानी-स्वामी के साथ एक पवित्र स्थान की यात्रा के लिए चल पडे और चलने से पहले पलानीस्वामी ने बरामदे को धोया, बालानन्द के कपडे बाहर फेंक दिये और कन्दरा को ताला लगा दिया।

जब बालानन्द वापस लौटा, वह बहुत क्रुद्ध हुआ। पलानीस्वामी को डाँटते हुए उसने कहा कि उसने उसके कपडे छूने का साहस कैसे किया। श्रीभगवान् को उसने आदेश दिया कि वह तत्काल ही उसे दूर भेज दें। न तो पलानीस्वामी ने और न श्रीभगवान् ने इसका कोई जवाब दिया या इस ओर ध्यान दिया। क्रोध मे बालानन्द ने श्रीभगवान् पर थूक दिया। फिर भी श्रीभगवान् अनुद्विग्न भाव से बैठे रहे। उनके साथ जो शिष्य थे, वह भी किसी प्रकार की प्रतिक्रिया के बिना शान्त भाव से बैठे रहे। नीचे की कन्दरा मे रहने वाले एक भक्त ने यह सब सुन लिया और वह यह चिल्लाता हुआ दौड कर आया, "तुम्हारी यह हिम्मत कि तुम स्वामी पर थूको।" इस भक्त को धूर्त बालानन्द पर हाथ उठाने से बडी मुश्किल से रोका गया। बालानन्द ने अनुभव किया कि वह बहुत आगे बढ गया है और कुशल इसी मे है कि वह तिरुवन्नामलाई छोड दे। वह डीग मारकर कहने लगा कि पहाडी मे रहने के लिए उपयुक्त स्थान नही है। वह वहाँ से चला गया। रेलवे स्टेशन पहुँचकर, वह बिना टिकट लिए दूसरे दर्जे के रेल के डिब्बे मे घुस गया। एक तरुण दम्पत्ति भी उसी डिब्बे मे थे। उसने उस तरुण को भाषण देना और उस पर हुक्म चलाना शुरू किया। जब उस तरुण ने बालानन्द की ओर कोई ध्यान

नहीं दिया तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ और कहने लगा, "तुम मेरी बात क्यो नही सुनते ? इस लडकी के प्रति कामासक्ति के कारण तुम मेरे प्रति समुचित सम्मान प्रदर्शित नही कर रहे ।" इस पर उस युवक ने अपना जूता निकाला और उसकी खूब अच्छी तरह मरम्मत की ।

कुछ महीने बाद बालानन्द लौट आया और फिर उत्पात मचाने लगा । एक अवसर पर तो वह श्रीभगवान् की आँखों की ओर स्थिर दृष्टि करके बैठ गया और कहने लगा कि वह उसे **निर्विकल्प समाधि** (आध्यात्मिक परमानन्द) की दशा मे ले जायगा । परन्तु हुआ यह कि उसे नीद आ गयी और श्रीभगवान् तथा उनके शिष्य उठ खडे हुए और वहाँ से प्रस्थान कर गये । इसके तत्काल बाद बालानन्द के प्रति लोगों की सामान्य धारणा इस प्रकार की हो गयी कि उसने वहाँ से चले जाने मे ही अपना कल्याण समझा ।

एक और 'साधु' भी था जिसने तरुणस्वामी के गुरू होने का ढोंग रचकर प्रतिष्ठा अर्जित करने का प्रयत्न किया । कालाहस्ती से लौटने के बाद यह साधु कहने लगा, "मैं इतनी दूर से केवल यह देखने आया हूँ कि तुम्हारा हाल-चाल कैसा है । मैं तुम्हे **दत्तात्रेय मत्र** की दीक्षा दूँगा ।"

श्रीभगवान् न तो हिले और न ही कुछ बोले । उस साधु ने अपना कथन जारी रखते हुए कहा, "मुझे स्वप्न में भगवान् प्रकट हुए हैं और उन्होंने तुम्हे उपदेश देने का मुझे आदेश दिया है ।"

श्रीभगवान् ने व्यग्य से पूछा, "तो मुझे भी स्वप्न मे भगवान् को प्रकट होन और तुम्हारा उपदेश ग्रहण करने का आदेश लेने दो, फिर मैं इसे ग्रहण कर लूँगा ।"

"नही यह उपदेश बहुत छोटा है केवल कुछ अक्षरो का, तुम अभी से प्रारम्भ कर सकते हो ।"

"तुम्हारे उपदेश का क्या लाभ होगा जब तक मैं दीक्षा न ले लू । इसके लिए कोई उपयुक्त शिष्य ढूँढो । मैं इसके उपयुक्त नही हूँ ।"

कुछ समय बाद, जब साधु ध्यानमग्न था । श्रीभगवान उसे ध्यान मे दिखायी दिये और कहने लगे, "धोखे मे मत आवो ।" इससे साधु अत्यन्त भयभीत हो उठा और यह सोचने लगा कि श्रीभगवान् मे भी वही सिद्धियाँ होनी चाहिए जिनका वह उनके विरुद्ध प्रयोग कर रहा है । यह विचार आते ही साधु ने क्षमा-याचना के लिए तुरन्त विरूपाक्ष की ओर प्रस्थान कर दिया । उसने श्रीभगवान् से प्राथना की कि वे उन्हें भूल से छुटकारा दिला दें । श्रीभगवान् ने उसे आश्वासन दिया कि उन्होने किसी सिद्धि का प्रयोग नही किया था । साधु ने देखा कि श्रीभगवान् में रत्ती भर भी क्रोध या विक्षोभ का भाव नहीं है ।

इस प्रकार के हस्तक्षेप का एक और प्रयास शरावी साधुओ के एक दल ने किया था। एक दिन विरूपाक्ष कन्दरा पर आकर यह साधु सौगन्ध खाकर कहने लगे, "हम पोदीकाई पहाडी से आये है। यह वह पवित्र पहाडी है, जिस पर प्राचीन अगस्त ऋषि अब भी सहस्रो वर्षो से तपस्या कर रहे हैं। उन्होने हमे आदेश दिया है कि हम पहले आपको श्री रगम मे सिद्धो के सम्मेलन मे ले जायें और वहाँ से पोदीकाई ले जायँ। वहाँ आपके शरीर से उन लवणो का निष्कासन किया जायगा जो आपकी आध्यात्मिक सिद्धि मे बाधक हैं और फिर आपको नियमित दीक्षा दी जायगी।"

श्रीभगवान् ने, जैसा कि इस प्रकार के सब अवसरो पर उनकी आदत थी, कोई जवाब नही दिया। किन्तु इस अवसर पर उनके एक भक्त पेरूमल स्वामी ने उन धूर्तों को भी मात दे दी। उसने कहा, "हमे पहले ही आपके आगमन की सूचना मिल चुकी है और यह आदेश मिला है कि आपको कढाहो मे रखें और उन्हे आग पर चढा दे।" और दूसरे भक्त को सम्बोधित करते हुए उसने कहा, "जाओ और गढा खोदो जहाँ इन लोगो को आग पर चढाया जाय।" वह शरावी साधु एकाएक भाग खडे हुए।

सन् १९२४ मे, जब श्रीभगवान् पहाडी की तराई मे स्थित वर्तमान आश्रम मे निवास कर रहे थे, कुछ चोरो ने उस शाला मे सेंध लगायी, जिसमे उनकी माता का स्मारक था। वह कुछ चीजें चुराकर ले गये। कुछ हफ्तो बाद तीन चोर आश्रम मे चोरी करने आये।

२६ जून का दिन था और लगभग साढे ग्यारह बजे का समय। अन्धेरी रात थी। श्रीभगवान् पहले ही माता के स्मारक के सामने वाले महाकक्ष मे बने हुए चबूतरे पर विश्राम करने के लिए चले गये थे। चार भक्त खिडकिया के निकट फर्श पर सो रहे थे। इनमे से दो सेवक कुजूस्वामी और मस्तान ने बाहर किसी को यह कहते हुए सुना, "अन्दर छ आदमी सो रहे हैं।"

कुजू चिल्लाया, "वहाँ कौन है?"

चोरो ने अन्दर के लोगो को डराने के लिए खिडकी तोडनी शुरू की। कुजूस्वामी और मस्तान उठे तथा उस चबूतरे की ओर गये जहाँ श्रीभगवान् थे। चोरो ने उस तरफ की एक खिडकी तोडी परन्तु श्रीभगवान् अविचल भाव से बैठे रहे। तब कुजूस्वामी महाकक्ष के उत्तरी द्वार से बाहर निकल गया क्योकि चोर दक्षिण की ओर थे। वह दूसरी झोपडी मे सो रहे, एक भक्त रामकृष्णस्वामी को सहायता के लिए बुला लाया। जब उसने दरवाजा खोला तब आश्रम के दो कुत्ते, जैक और करुप्पन बाहर दौड पडे। चोरो ने उन्हे और जैक को मारा और भाग खडे हुए। करुप्पन बचन के लिए दौडकर महाकक्ष मे आ गया।

श्रीभगवान् और उनके भक्तो ने महाकक्ष के उत्तर मे स्थित फूस की शाला मे (जिसे बाद मे नष्ट कर दिया गया) शरण ली। चोर चिल्ला-चिल्लाकर उनसे कहने लगे "यही बैठे रहो, अगर तुम लोग यहाँ से हिले तो हम तुम्हारा सिर तोड देंगे।"

श्रीभगवान ने चोरो से कहा, "सारा महाकक्ष आपके कब्जे मे है, आप जो चाहे करें।"

एक चोर उनके पास आया और उसने लैंप मांगा। श्रीभगवान् के आदेश पर रामकृष्णस्वामी ने उसे एक जलता हुआ लैम्प दे दिया। फिर एक चोर आया और उसने अलमारी की चाबियाँ मांगी परन्तु चाबियाँ कुजूस्वामी अपने साथ ले गये थे और चोर को यह बता दिया गया। चोरो ने अलमारियाँ तोडकर खोली। उनके हाथ कुछ चाँदी के पत्तरे जो मूर्तियो की सजावट के लिए रखे थे, कुछ आम और थोडे-से चावल—कुल मिलाकर दस रुपये का सामान हाथ लगा। थगावेलु पिल्ले के छ रुपये भी चोर ले गये।

चोर थोडा-सा सामान हाथ लगने से बहुत निराश हुए। एक चोर छडी घुमाता हुआ वापस आया और पूछने लगा, "आपका धन कहाँ है ? आप उसे कहाँ रखते हैं ?"

श्रीभगवान् ने उस चोर से कहा, "हम गरीब साधु हैं, दान के सहारे गुजर-बसर करते हैं, हमारे पास धन कहाँ से आया।" चोर को बडी झुंझलाहट हो रही थी और क्रोध आ रहा था, परन्तु वह कर ही क्या सकता था।

श्रीभगवान् ने रामकृष्णस्वामी तथा अन्य भक्तो से अपने घावो की मरहमपट्टी कराने के लिए कहा।

रामकृष्णस्वामी ने पूछा, "स्वामिन् आपका क्या होगा ?"

श्रीभगवान् हँस पडे और उन्होने व्यग्य भाव से उत्तर दिया, "मेरी भी पूजा हुई है।"

श्रीभगवान् की जांघ के घाव को देखकर रामकृष्णस्वामी को एकाएक क्रोध आ गया। उसने पास पडी हुई लोहे की एक छड उठा ली और स्वामी से बाहर जाकर यह देखने की आज्ञा मांगी कि चोर क्या कर रहे हैं। परन्तु श्रीभगवान् ने उसे रोक दिया, "हम साधु हैं। हमे अपना धर्म नही छोडना चाहिए। अगर तुम बाहर गये और तुमने उन्हे मारा और किसी की मृत्यु हो गयी तो इसके लिए दुनिया हमे दोषी ठहराएगी न कि उन्हे। वह तो पथभ्रष्ट आदमी हैं और उनकी आँखो पर अज्ञान का परदा पडा है, परन्तु हमे तो ठीक रास्ते पर चलना चाहिए। अगर तुम्हारे दाँत एकाएक तुम्हारी जबान को काट डालें तो क्या आप उन्हे उखाड फेंकेंगे ?"

सवेरे के दो बजे चोर वहाँ से चले गये। कुछ देर बाद कुजूस्वामी एक

ग्राम अधिकारी और दो पुलिस के सिपाहियो के साथ वापस लौटा । श्रीभगवान् अब भी उत्तरी शाला मे बैठे हुए थे और अपने भक्तो से आध्यात्मिक विषयो पर चर्चा कर रहे थे । पुलिस के सिपाहियो ने श्रीभगवान् से घटना के सम्बन्ध मे पूछा और उन्होने केवल इतना ही कहा कि कुछ मूर्ख आदमी आश्रम मे घुस आये थे, जब उनके हाथ कुछ नही लगा तब वह निराश होकर चले गये । पुलिस वालो ने इसे दर्ज कर लिया और वह ग्राम अधिकारी के साथ वापस चले गये । मुनिस्वामी उनके पीछे दौडता हुआ गया और उसने कहा कि चोरो ने स्वामी को तथा अन्य भक्तो को पीटा है । प्रात काल सर्कल इस्पैक्टर, सब-इस्पैक्टर और एक हैड कास्टेबल जाँच-पडताल करने के लिए आये और बाद मे डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस आये । श्रीभगवान् ने किसी से भी अपनी चोट या चोरी का, जब तक कि उनसे इस बारे मे पूछताछ नही की गयी, जिक्र नही किया । कुछ दिन बाद कुछ चुराई गई चीजें मिल गयी, चोर पकड लिये गये और उन्हें सजा हो गयी ।

आठवाँ अध्याय

माँ

सन् १९०० मे जव श्रीभगवान् की माँ अपने पुत्र को घर चलने के लिए प्रेरित करने के प्रयत्नो मे असफल होकर वापस लौटी तो कुछ अरसे वाद उनके सवसे वडे पुत्र की मृत्यु हो गयी। दो साल वाद सवसे छोटा पुत्र नागसुन्दरम, जिसकी आयु अभी १७ वप की थी, प्रथम वार अपने स्वामी भाई के दर्शनो के लिए तिरुवन्नामलाई गया। वह उनके दर्शनो से इतना भावविभोर हो उठा कि उसने स्वामी का आलिगन किया और ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा। श्रीभगवान् मौन भाव से स्थिर वैठे रहे। माँ वनारस की तीर्थयात्रा से वापसी के समय थोडे अरसे के लिए वहाँ आयी। सन् १९१४ मे वह तिरुपति स्थित वेंकटरमणस्वामी देवालय की तीर्थयात्रा पर गयी और वापसी पर फिर तिरुवन्नामलाई ठहरी। इस वार वह वहाँ वीमार हो गयी और कई हफ्ते तक टायफायड की भयकर पीडा उसने सही। श्रीभगवान् ने अत्यन्त विनीतभाव से माँ की सेवा-शुश्रूपा की। अपनी माँ की वीमारी के दौरान उन्होंने कई पदो की रचना की। यही पद घटना-चक्र को प्रभावित करने की उनकी प्रार्थना के एक मात्र ज्ञात उदाहरण है।

हे शरणागतो के रक्षक भगवन्! आप जन्मो के पुनरावत्तन से मुक्ति दिलाने वाले हैं। आप ही मेरी माँ के ज्वर को ठीक कर सकते हैं।

हे मृत्यु से छुटकारा दिलाने वाले भगवन्! मुझे जन्म देने वाली माँ के हृदय-कमल मे आप प्रकट हो। मैं आपके चरण-कमलो मे नतमस्तक हूँ। आप मेरी माँ की मृत्यु से रक्षा करें। अगर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो मृत्यु कुछ भी नही।

ज्ञान के दीप्तिपुज अरुणाचल! मेरी माँ को अपने प्रकाश से आवृत कर दो और उसे अपने साथ एकाकार कर लो। फिर उसके दाह-सस्कार की क्या आवश्यकता है?

भ्रम को निवारण करने वाले अरुणाचल! आप मेरी माँ के उन्माद का निवारण करने मे विलम्व क्यो कर रहे हैं? प्रभो! आपके सिवा

दूसरा ऐसा कौन है जो शरणागत की माता के समान रक्षा करे और उसे कम के बन्धन से मुक्त करे ?

देखने मे तो ऐसा लगता था कि यह माता की रोग-मुक्ति की प्राथना है परन्तु वस्तुत यह उसे भ्रम के महान् रोग से मुक्ति दिलाने और जीवन के उन्माद से छुटकारा दिलाकर आत्मा के साथ एकरूप अनुभव कराने की प्राथना थी ।

कहने की आवश्यकता नही कि अलगम्माल ठीक हो गयी । वह मानमदुरा वापस आ गयी परन्तु इस प्राथना के बाद परिस्थितियो का चक्र इस प्रकार चला कि वह सासारिक जीवन से पुन आश्रम के जीवन मे प्रविष्ट हो गयी । तिरुचुज ही का पारिवारिक घर कर्जा चुकाने तथा अन्य आवश्यक खच पूरे करने के लिए बेच दिया गया था । उसके बहनोई नेलियाप्पियर की मृत्यु हो गयी थी और वह परिवार को बहुत बुरी दशा मे छोड गये थे । सन् १९१५ मे उसके सबसे छोटे पुत्र नागसुन्दरम् की पत्नी की मृत्यु हो गयी थी । पीछे वह एक पुत्र छोड गयी थी, जिसे उसकी चाची अलामेलु ने गोद लिया था । अब इसकी शादी हो चुकी थी । अलगम्माल ने अनुभव किया कि अब इस वृद्धावस्था में उसका एकमात्र आश्रय-स्थान अपने स्वामी पुत्र के पास ही था । सन् १९१६ के प्रारम्भ मे वह तिरुवण्णामलाई गयी ।

पहले वह कुछ दिनों के लिए अचम्माल के पास ठहरी । कुछ भक्त उसके श्रीभगवान् के साथ ठहरने के विरुद्ध थे । उन्हें भय था कि कही मौन विरोध के परिणामस्वरूप स्वामी वह स्थान छोडकर न चले जायें जैसे कि सन् १८९६ में वह घर छोडकर चले गये थे । पहले की और वतमान स्थिति मे बहुत अन्तर था क्योकि अब माँ ने गृह-परित्याग किया था, श्रीभगवान् ने नही, जो वहाँ ठहरे हुए थे । श्रीभगवान् की तेजस्विता इतनी प्रभावशालिनी थी कि उनके अनुग्रहपूर्ण व्यवहार के बावजूद, जब इस प्रकार का प्रश्न उठता था कि उनकी क्या इच्छा है, किसी को उनसे प्रत्यक्षत पूछने का साहस नही होता था । अगर कोई पूछता भी था तो वह बिना उत्तर दिये अविचल भाव से बैठे रहते थे क्योकि उनकी कोई इच्छाएँ नही थी ।

जब श्रीभगवान् की माँ उनके पास रहने के लिए आयी तो वह इसके तत्काल बाद विरूपाक्ष से स्कन्दाश्रम चले गये । यह स्थान कुछ ऊँचाई पर और विरूपाक्ष के ठीक ऊपर था । यह बहुत खुली कन्दरा थी और श्रीभगवान् के रहने के लिए बनायी गयी थी । यहाँ एक आर्द्र शिलाखण्ड को देखकर उन्होने यह अनुमान किया कि यहाँ कोई गुप्त स्रोत है । खुदाई करने और बारूद से जगह उडाने के पश्चात् जल का एक प्रवाह फूट पडा जो आश्रम तथा कन्दरा के सामने बनाये जाने वाले लघु उद्यान के लिए पर्याप्त था । माँ ने वहाँ

भोजन बनाना प्रारम्भ किया और इस प्रकार आश्रम के जीवन मे एक नया युग प्रारम्भ हुआ ।

अपने छोटे पुत्र को आश्रम मे बुलाने की इच्छा से अलगम्माल ने एक भक्त को भेजा । उसने तिरूवेंगडू मे अपना काम छोड दिया और तिरुवन्नामलाई मे रहने के लिए आ गया । पहले वह नगर मे ठहरा, अपने किसी मित्र के घर भोजन कर लेता और प्रतिदिन आश्रम जाता । उसने शीघ्र ही ससार परित्याग का निश्चय किया और निरजनानन्द स्वामी के नाम से गेरुए वस्त्र धारण कर लिये । स्वामी का भाई होने के कारण वह प्राय 'चिन्नास्वामी' या 'छोटे स्वामी' के नाम से विख्यात थे । कुछ समय तो वह प्रतिदिन भिक्षाटन के लिए नगर मे जाते थे परन्तु भक्तो को यह बात अच्छी नही लगी कि स्वामी के छोटे भाई शहर जाकर भिक्षा माँगें क्योकि आश्रम मे सब लोगो के लिए पर्याप्त भोजन था । अतत उन्हे आश्रम मे रहने के लिए मना लिया गया ।

ऐसा प्रतीत होता था कि श्रीभगवान् पुन पारिवारिक जीवन मे आ गये हैं, उनके परिवार मे उनके सब भक्तजन सम्मिलित थे और वस्तुत वह कभी-कभी उन सबको अपना परिवार कहकर पुकारा करते थे । इसी आभासी असगति के कारण श्रीभगवान् की माँ और उनका भाई उनके साथ रहने के लिए नही आये । एक बार शेषाद्रिस्वामी ने परिहास करते हुए इस ओर निर्देश किया था । एक दर्शक जो उन्हें मिलने के लिए मार्ग मे खडा हो गया था, ऊपर पहाडी पर रमणस्वामी के दर्शनो के लिए जाना चाहता था । उस दर्शक से शेषाद्रिस्वामी ने कहा, "हाँ, देखो ऊपर चले जाओ, वहाँ एक गृहस्वामी रहते हैं । वहाँ तुम्हारा केक से स्वागत किया जायगा ।"

शेषाद्रिस्वामी के परिहास का भाव यह है कि गृहस्थ की स्थिति साधु की स्थिति से निम्न समझी जाती है क्योकि साधु तो अपने को पूर्णत भगवान् की खोज मे लगा सकता है जब कि गृहस्थी को सासारिक धन्धे निपटाने होते हैं । घर और सपत्ति परित्याग को सत्यान्वेषण की दिशा मे एक बहुत बडा कदम समझा जाता है । इसलिए बहुत से भक्त श्रीभगवान् से ससार-परित्याग के सम्बन्ध मे पूछा करते थे । श्रीभगवान् सदा इसे हतोत्साहित किया करते थे । नीचे के वार्तालाप से यह स्पष्ट हो जायगा कि परित्याग निवृत्ति नही अपितु प्रेम का विस्तार है ।

भक्त मेरी इच्छा है कि मैं अपना काम छोड दूं और सदा श्रीभगवान् के चरणो मे रहूँ ।

भगवान् भगवान् सदा आपके साथ हैं, आप मे हैं । आपकी आत्मा भगवान् है । आपको इसी का साक्षात्कार करना है ।

भक्त परन्तु मेरी यह उत्कट इच्छा है कि मैं एक मन्यासी के रूप में सभी आसक्तियो को छोड दूं और समार का परित्याग कर दू।

भगवान् परित्याग का अथ वस्त्र-परिवर्तन या गृह-परित्याग से नही है। वास्तविक परित्याग तो इच्छाओ, आवेशो और आसक्तियो का परित्याग है।

भक्त परन्तु भगवान् की हार्दिक भाव से भक्ति ससार-परित्याग के बिना सम्भव नही है।

भगवान् नही, जो वस्तुत ससार का परित्याग करता है, वह ससार मे निमग्न हो जाता है और अपने प्रेम की परिधि इतनी विस्तृत कर लेता है कि उसमे समस्त विश्व समा जाता है। गेरुए वस्त्र धारण करने के लिए गृह-परित्याग की अपेक्षा सार्वलौकिक प्रेम के रूप मे भक्त की वृत्ति का वर्णन अधिक उपयुक्त होगा।

भक्त घर पर प्रेम के बन्धन बहुत दृढ होते हैं।

भगवान् जो व्यक्ति उस समय गृह-परित्याग करता है जब वह इसके लिए परिपक्व नही होता, वह केवल दूसरे बन्धन पैदा कर लेता है।

भक्त क्या परित्याग आसक्तियो के तोडने का सर्वोत्तम साधन नही है?

भगवान् यह उस व्यक्ति के लिए हो सकता है जिसका मन पहले ही बन्धनो से मुक्त है। परन्तु आपने परित्याग के गभीर अर्थ को हृदयगम नही किया सासारिक जीवन का परित्याग करने वाली महान् आत्माओ ने पारिवारिक जीवन के प्रति विरक्ति के कारण ऐसा नही किया बल्कि अपनी विशाल-हृदयता और समस्त मानव जाति तथा ससार के समस्त प्राणियो के प्रति प्रेम के कारण ऐसा किया है।

भक्त पारिवारिक बन्धनों को कभी न कभी तो तोडना ही है, तो मैं उन्हे अभी से क्यो न तोड़ू ताकि मेरा प्रेम सब के प्रति समान हो।

भगवान् जब आप वस्तुत सब के लिए समान प्रेम का अनुभव करेंगे, जब आपका हृदय इतना विशाल हो जायगा कि उसमे समस्त सृष्टि समा जायगी तब आप निश्चित ही इस या उस वस्तु के परित्याग के सम्बन्ध में नही सोचेंगे, आप सासारिक जीवन से इस प्रकार पराङ्मुख हो जाएँगे जिस प्रकार एक पका हुआ फल वृक्ष की शाखा से अलग हो जाता है। आप यह अनुभव करेंगे कि सारा ससार आपका घर है।

इसमे कोई आश्चर्य नही कि इस प्रकार के प्रश्न अक्सर पूछे जाते थे और बहुतो को इन प्रश्नो के जो उत्तर मिलते थे, उनसे वह आश्चर्य मे पड जाते थे क्योंकि भगवान् की धारणा परम्परागत दृष्टिकोण के विपरीत थी। यद्यपि युगो से चले आ रहे आध्यात्मिक सत्यों में कभी भेद नहीं होता तथापि आध्यात्मिक गुरुजन युग की परिवर्तित परिस्थितियो के अनुरूप सत्य के साक्षात्कार की

साधिका प्रशिक्षण विधियो को ढाल लेते हैं। आधुनिक ससार मे बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जिनके लिए परित्याग या रूढिनिष्ठता का पूर्णत परिपालन असम्भव है। बहुत से भक्तजन ऐसे हैं जो व्यापारी, कार्यालय कर्मचारी, डाक्टर, वकील और इजीनियर हैं तथा किसी न किसी प्रकार से आधुनिक नगर की जीवन-पद्धति से सबद्ध हैं और फिर भी मुक्ति की खोज मे हैं।

श्रीभगवान् प्राय कहा करते थे कि सच्चा परित्याग मन मे है। न तो भौतिक परित्याग से इसकी प्राप्ति होती है और न भौतिक परित्याग के अभाव मे, इसके मार्ग मे बाधा पडती है।

"आप यह क्यो सोचते हैं कि आप गृहस्थी हैं? इसी प्रकार के विचार कि आप सन्यासी हैं, अगर आप घर-गृहस्थी छोडकर बाहर भी चले जायें, फिर भी आपका पीछा नही छोडेंगे। चाहे आप गृहस्थी रहें या गृहस्थी का परित्याग कर दें और जगल मे चले जायँ, यह आपका मन ही है जो आपका पीछा करता रहता है। अह ही विचारो का स्रोत है। यही शरीर और ससार की सृष्टि करता है और यही आपको यह सोचने पर बाध्य करता है कि आप गृहस्थ है। अगर आप परित्याग कर दें तो आप केवल परिवार के स्थान पर परित्याग के विचार और घर के स्थान पर जगल की परिस्थितियो को प्रतिस्थापित करेंगे। परन्तु मानसिक बाधाए सदा आपके सामने रहेगी। नई परिस्थितियो मे तो वे और भी अधिक बढ जाती हैं। परिस्थितियो के परिवर्तन से कोई लाभ नही। हमारी बाधा मन है, चाहे घर हो या जगल हमे इस पर विजय प्राप्त करनी है। अगर आप जगल मे मन पर विजय पा सकते हैं तो घर मे क्यो नही? इसलिए परिस्थितियो को क्यो बदला जाय? कोई भी परिस्थितियाँ हो, आप अभी से प्रयत्न प्रारम्भ कर सकते हैं।"

उन्होने यह भी बताया कि काय से साधना के मार्ग मे बाधा नही पडती बल्कि जिस मानसिक वृत्ति से यह किया जाता है, उससे बाधा पडती है। अनासक्ति भाव से अपना सामान्य कार्य-कलाप जारी रखना सभव है। उन्होंने **महर्षीज़ गॉस्पल** मे कहा है, " 'मैं काम करता हूँ' यह भावना ही बाधा है। अपने से पूछो कि कौन काय करता है। स्मरण रखो कि तुम कौन हो। तब कार्य तुम्हे बन्धन मे नही डालेगा। यह स्वत जारी रहेगा।" देवराज मुदालियर लिखित **डे बाई डे विद भगवान्** मे इसकी पूरी व्याख्या की गयी है।

"अनासक्ति भाव से जीवन के सब कार्य सपन्न करना और केवल आत्मा को ही वास्तविक समझना सभव है। यह सोचना गलत है कि अगर कोई व्यक्ति आत्म-लीन है, तो वह जीवन के कर्तव्यो का समुचित रीति मे पालन नही कर सकेगा। वह तो एक अभिनेता के समान है। वह पोशाक पहनता है, अभिनय करता है, और स्वय को वह व्यक्ति अनुभव करता है जिसका पाट

वह अभिनय करने जा रहा है, परन्तु वह यह वस्तुत जानता है कि वह पात्र नहीं है बल्कि वास्तविक जीवन मे कुछ और है। इसी प्रकार, जब आप यह निश्चित रूप से जानते हैं कि आप शरीर नही बल्कि आत्मा हैं तब शरीर-चेतना या 'मैं शरीर हूँ' इस प्रकार की भावना आपको उद्विग्न क्यो करे ? शरीर के किसी भी कार्य से आपकी आत्मलीनता मे किसी प्रकार का व्याघात उपस्थित नही होना चाहिए। इस प्रकार की आत्मलीनता से शरीर के कर्तव्यो के समुचित तथा प्रभावी निवहन मे किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नही होगी, जिस प्रकार एक अभिनेता के जीवन मे अपने वास्तविक स्वरूप से परिचित होने के कारण, रगमच पर अभिनय करने में कोई बाधा उपस्थित नही होती।"

जिस प्रकार ध्यान या स्मरण, आप जो नाम भी इसे दें, से काय मे बाधा नही पडती, इसी प्रकार कार्य से ध्यान मे किसी प्रकार की बाधा नही पडती। श्रीभगवान् ने पाल ब्रटन महोदय के साथ वार्तालाप के दौरान इसकी स्पष्टत व्याख्या की है।

भगवान् क्रियाशील जीवन के परित्याग की आवश्यकता नही है। यदि आप प्रतिदिन एक या दो घटे ध्यान मे बैठें, आप अपना कतव्य भली-भाँति सपन्न कर सकते हैं। अगर आप ठीक ढग से ध्यान करें तो आपके काय के दौरान भी ध्यान की धारा सतत रूप से प्रवहमान रहेगी। यह ऐसे है जैसे मानो एक ही विचार की अभिव्यक्ति के दो तरीके है, ध्यान मे आप जो विचार-सरणि अपनायेंगे वही आपकी गतिविधियो मे अभिव्यक्त होगी।

पाल ब्रटन इस प्रकार के आचरण का परिणाम क्या होगा ?

भगवान् जैसे-जैसे आप इसका अभ्यास करते जायेंगे, आपको ऐसा प्रतीत होगा कि लोगो, घटनाओ और पदार्थों के सम्बन्ध मे आपकी धारणा मे धीरे-धीरे परिवतन होता जा रहा है। आपकी क्रियाएँ स्वयमेव आपके ध्यान का अनुसरण करने लगेंगी।

व्यक्ति को चाहिए कि वह वैयक्तिक स्वाथ का, जो उसे इस ससार के साथ बाँधे हुए है, परित्याग कर दे।

पाल ब्रटन सासारिक गतिविधि का जीवन व्यतीत करते हुए नि स्वार्थ रहना किस प्रकार सम्भव है ?

भगवान् काय और प्रज्ञा मे कोई सघष नही है।

पाल ब्रटन आपका कहने का अभिप्राय क्या यह है कि व्यक्ति अपनी व्यावसायिक गतिविधियाँ जारी रखते हुए भी तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकता है ?

भगवान् क्यों नहीं ? पर उस अवस्था मे व्यक्ति यह नही सोचेगा कि उसका पुरातन व्यक्ति काय सपन्न कर रहा है क्योकि उसकी चेतना धीरे-धीरे

रूपान्तरित हो जायगी और अन्तत उसमे समा जायगी जो इस तुच्छ अह से परे है।

बहुत से व्यक्ति श्रीभगवान् के अनासक्त भाव से काय करने के आदेश से पहले उलझन मे पड जाते थे और उन्हें इस सम्बन्ध मे आश्चय होता था कि क्या वह इस प्रकार अपना काय दक्षतापूवक सपन्न कर सकेंगे। उनके सामने स्वय श्रीभगवान् का उदाहरण था क्योकि वह जो कोई भी कार्य करते थे, चाहे यह प्रूफ सशोधन का कार्य हो या जिल्दवन्दी का, भोजन तैयार करने का कार्य हो या नारियल के खोल को काटकर उसमे चमचा बनाने या उस पर पालिश करने का, वह इन सब कामो को विलकुल ठीक-ठीक करते थे। और तथ्य तो यह है कि 'मैं कर्त्ता हूँ' इस प्रकार की भ्रान्त धारणा के लुप्त होने से पूव, कार्य के प्रति निरपेक्ष वृत्ति से काय खराव नही होता अपितु व्यक्ति की कार्य दक्षता तव तक बढती जाती है जव तक कि वह पूरी ईमानदारी से कार्य मे सलग्न रहता है। इसका अभिप्राय कार्य की गुणवत्ता के प्रति उदासीनता से नही वल्कि इसका अभिप्राय तो केवल काय मे अह के अहस्तक्षेप से है। अ के हस्तक्षेप के कारण ही सघर्ष और अदक्षता का आविर्भाव होता है। अगर सभी लोग कतव्य भावना से प्रेरित होकर निरभिमान और नि स्वाथ भाव से कार्य करें तो शोपण बन्द हो जायगा, प्रयत्नो का समुचित दिशा मे नियोजन होगा, प्रतिद्वन्द्विता का स्थान समन्वय ले लेगा और विश्व की अधिकाश समस्याओ का समाधान हो जायगा। कार्य-सौष्ठव को किसी प्रकार की क्षति नही पहुँचेगी। हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक धम मे विश्वास के युगो ने अपने को साधन मात्र समझने वाले और गुप्त रहना पसन्द करने वाले कलाकारो के माध्यम से अत्यन्त सुन्दर कलाकृतियो को—चाहे यह गॉथिक गिरजाघर के रूप मे हो या मस्जिद के, हिन्दू मूर्तिकला के रूप मे हो या ताओवादी पेंटिंग के—जन्म दिया है। अन्य व्यवसायो से भी उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। एक डाक्टर, जव भावुक नही होता तव वह अधिक दक्षता से कार्य करता है और वस्तुत यही कारण है कि वह प्राय अपने परिवार का इलाज करना पसन्द नही करता। जव एक वित्त-प्रवन्धक के अपने स्वार्थ निहित नही होते तव वह अधिक ठडे दिमाग से और दक्षता से काम करता है। खेलो मे भी भाग्य उसी का साथ देता है जो निरपेक्ष भाव से खेलता है।

पारिवारिक जीवन जारी रखने के आदेश पर कई वार लोग यह आक्षेप करते थे कि स्वय श्रीभगवान् ने गृह-त्याग कर दिया है। इसका वह अत्यन्त सक्षिप्त उत्तर दिया करते थे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रारब्ध के अनुसार कार्य करता है। परन्तु हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि जीवन के दैनिक कार्य-क्रम मे पूण वाह्य सामान्यता और योगदान, जिसका भगवान् ने वाद के वर्षों

मे इतनी पूर्णता के साथ आदर्श प्रस्तुत किया और अपने अनुयायियो से जिसके अनुसरण के लिए कहा, मदुरा मे अपने चाचा के घर पर जागरण के बाद तत्काल सभव नही था। भगवान् के लिए जो चीज सभव है, उसे वह अपनी अनुकम्पा से अपने अनुयायियो के लिए भी सभव बनाते हैं।

अब हम फिर माँ की ओर आते हैं। उन्होंने जो प्रशिक्षण प्राप्त किया वह अत्यन्त कठोर था। प्राय श्रीभगवान् माँ की उपेक्षा कर देते, जब वह बोलतीं तब उनके प्रश्नो का उत्तर नही देते थे हालाँकि वह दूसरो का ध्यान रखते थे। अगर वह शिकायत करती तो श्रीभगवान् कहा करते, "सभी स्त्रियाँ मेरी माताएँ हैं, केवल तुम्ही नही।" यहाँ हमे ईसामसीह का कथन स्मरण हो आता है। जब उनसे कहा गया कि उनकी माता और भाई भीड मे सब से आगे उनसे बात करने की प्रतीक्षा मे खडे हुए हैं, तो उन्होंने कहा था, "जो कोई स्वर्ग स्थित मेरे महान् पिता की इच्छा पालन करता है, वही मेरा भाई, बहिन और माता है।" पहले श्रीभगवान् की माँ उद्विग्न होकर अश्रुपात करने लगती थी परन्तु धीरे-धीरे उन्हें समझ आने लगी। स्वामी की माता होने की उच्च भावना लुप्त हो गयी, अहं भाव क्षीण हो गया, उन्होंने अपने को भक्तो की सेवा मे लगा दिया।

अब भी श्रीभगवान् अपनी माता के रूढिनिष्ठ मिथ्या विश्वासों का मजाक उडाया करते थे। अगर उनकी साडी किसी अब्राह्मण से छू जाती तो वह परिहासमय आश्चर्य मे चिल्ला उठते, "देखो, देखो तुम्हारी पवित्रता नष्ट हो गयी, तुम्हारा धर्म चला गया!" आश्रम का भोजन सर्वथा निरामिष था परन्तु कई अत्यन्त श्रद्धालु ब्राह्मणो की तरह अलगम्माल और आगे बढ गयी थी और कई सब्जियों को भी असात्विक समझती थी। श्रीभगवान् उनकी हँसी उडाते हुए कहा करते थे, "प्याज से बचकर रहना मोक्ष मे बडा बाधक है।"

यहाँ मैं यह बता दूँ कि श्रीभगवान् सामान्यत रूढिनिष्ठता के विरोधी नही थे। पर यहाँ रूढिनिष्ठता के प्रति अत्यधिक आसक्ति थी और इसी के वह तीव्र विरोधी थे। सामान्यत वह सात्विक भोजन की महत्ता पर बल दिया करते थे। वह प्राय बाह्य गतिविधि के सम्बन्ध मे कोई आदेश नही दिया करते थे, उनका सामान्य तरीका भक्त के हृदय मे आध्यात्मिक बीज बोना और इसके विकास के साथ बाह्य जीवन को रूपान्तरित करने के लिए छोड देना था। आदेश तो भक्त को उसके अन्त करण से मिलते थे। एक पाश्चात्य भक्त जब आश्रम आया, तब वह पक्का माँसाहारी था, माँस को भोजन का अत्यन्त आवश्यक और अत्यन्त स्वादिष्ट अग समझता था। उसे इस सम्बन्ध मे कुछ नहीं कहा गया, परन्तु एक समय ऐसा आया जब उसे माँस खाने के विचार तक से घृणा हो गयी।

उन हिन्दू पाठको को मैं यह बता देना चाहता हूँ कि निरामिप भोजन हिन्दू लोग केवल इसलिए नही करते कि इससे जीव हत्या होती है और वह मांस नही खाना चाहते, हालाँकि यह भी एक कारण है परन्तु मुख्य कारण यह है कि असात्विक भोजन (जिसमे कई प्रकार की सब्जियाँ और मांस भी सम्मिलित हैं) मे पाशवी आवेशो को बढ़ावा मिलता है और आध्यात्मिक प्रयास मे बाधा पडती है।

अन्य भी अनेक उपायो से माता को ऐसा अनुभव कराया गया कि उनका पुत्र दैवीय अवतार है। एक बार जब वह उसके सामने बैठी, वह लुप्त हो गया और उसके स्थान पर उन्होने एक विशुद्ध प्रकाश का एक लिंग देखा। यह सोचकर कि उसने अपना मानवीय रूप छोड दिया है, वह फूट-फूटकर रोने लगी, परन्तु शीघ्र ही लिंग लुप्त हो गया और वह पहले के समान पुन प्रकट हो गया। एक अन्य अवसर पर उसने उन्हे शिव के परम्परागत प्रतिनिधि रूपो के सदृश मालाओ से लदा हुआ और सर्पों से घिरा हुआ देखा। उसने चिल्लाते हुए उससे कहा, "उन्हे दूर भेज दो। मैं उनसे भयभीत हो गयी हूँ।" इसके उपरान्त उसने उससे मानवीय रूप मे ही प्रकट होने की प्राथना की। इन दृश्यो का प्रयोजन सिद्ध हो गया था, उसने यह अनुभव कर लिया था कि जिस रूप को वह पुत्र रूप मे जानती और स्नेह करती थी वह किसी अन्य रूप के समान, जो उसका पुत्र धारण करता, मिथ्या था।

सन् १९२० मे माता का स्वास्थ्य गिरने लगा। वह आश्रमवासियो की पहले की तरह सेवा नही कर सकती और उसे विवश होकर अधिक श्रम करना पडा। उसकी बीमारी मे श्रीभगवान् निरन्तर उसके समीप रहे और प्राय रात को उसके पास बैठा करते थे। मौन और चिन्तन मे उसकी प्रज्ञा ने परिपक्व रूप धारण किया।

१९ मई, सन् १९२२ को बहुला नवमी के दिन माता ने महाप्रयाण किया। श्रीभगवान् और अन्य कुछ व्यक्ति सारा दिन बिना खाये माता के चरणो मे बैठे रहे। सूर्यास्त के समय भोजन तैयार किया गया और श्रीभगवान् ने दूसरो से जाने और भोजन करने के लिए कहा परन्तु उन्होंने स्वय नही खाया। सायकाल कुछ भक्तजन माता के समीप बैठे हुए वेदमन्त्रो का पाठ करने लगे और दूसरे राम नाम जपने लगे। दो घण्टे से अधिक समय तक वह वहाँ लेटी रही, उसकी छाती फूल रही थी और साँस जोर-जोर से चल रही थी। यह सारा समय श्रीभगवान् उसके पास बैठे रहे, उनका दायाँ हाथ उसके हृदय पर और बायाँ हाथ उसके मस्तक पर था। इस बार जीवन को लम्बा खीचने का प्रश्न नही था अपितु केवल मन को शान्त करने का प्रश्न था ताकि मृत्यु महा समाधि का रूप धारण कर सके।

सायकाल आठ बजे माता ने प्राण त्याग दिये। श्रीभगवान् तत्काल उठ खडे हुए। वह अत्यन्त प्रसन्न मुद्रा मे थे। उन्होने कहा, "अब हम खा सकते हैं, सब मेरे साथ चलो, अब कोई दोष नही है।"

इसमे गम्भीर अथ निहित था। हिन्दुओ के सिद्धान्तानुसार मृत व्यक्ति अपवित्र होता है, उसकी शुद्धि के लिए सस्कार करना पडता है परन्तु यह मृत्यु नही, महासमाधि थी। इसलिए शुद्धिकारक सस्कारो की आवश्यकता नही थी। कुछ दिन बाद श्रीभगवान् ने इसकी पुष्टि की जब कोई माता के देहावसान की चर्चा करता तब वह सक्षेप मे उसकी गलती सुधारते हुए कहते, "उनका देहावसान नही हुआ, उन्होने महासमाधि ली है।"

पीछे इस प्रक्रिया का वणन करते हुए उन्होंने कहा, "आन्तरिक प्रवृत्तियाँ तथा भावी सम्भावनाओ की ओर ले जाने वाली गत अनुभवो की स्मृति अत्यन्त सक्रिय हो गयी। उसकी सूक्ष्म चेतना के सम्मुख दृश्य के बाद दृश्य आने लगे, बाह्य इन्द्रियो की चेतनता पहले ही लुप्त हो चुकी थी। आत्मा अनुभवो की शृखला में से गुजर रही थी, इस प्रकार पुनजन्म की आवश्यकता का निराकरण कर रही थी और आत्मा के साथ एकरूपता को सम्भव बना रही थी। अन्त मे अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचने से पूव, आत्मा सूक्ष्म कोशो से मुक्त हो गयी, मुक्ति के परम शान्ति धाम में पहुँच गयी जहाँ से पुन व्यक्ति अज्ञान की ओर नही लौटता।

श्रीभगवान् ने भी माँ को बडा आध्यात्मिक सहारा दिया, परन्तु यह अलगम्माल का सन्त स्वभाव, उसका पूर्व जन्म का अभिमान और आसक्ति का परित्याग ही था, जिसके कारण वह इससे लाभ उठा सकी। उन्होने बाद मे कहा, "माँ के सम्बन्ध मे मुझे सफलता मिली, एक पूर्व अवसर पर जब पलानीस्वामी का अन्त निकट था, मैंने उसके लिए भी यही किया, परन्तु मुझे सफलता नही मिली। उसने अपनी आँखे खोल ली और उसकी इहलीला समाप्त हो गयी।" उन्होने आगे कहा, पलानीस्वामी के सम्बन्ध मे भी पूर्ण असफलता नही हुई, यद्यपि अह का आत्मा मे लय नही हुआ तथापि इसके प्रयाण का ढग इस प्रकार का था कि उससे अच्छे पुनजन्म का सकेत मिलता था।

प्राय जब भक्तो को किसी प्रियजन के वियोग का कष्ट उठाना पडता था, श्रीभगवान् उन्हे स्मरण कराया करते कि यह केवल शरीर ही है जो मरणधर्मा है और 'मैं, शरीर हूँ' इस प्रकार के चेतन्य से ही हमे मृत्यु दु ख-दायिनी प्रतीत होती है। अब अपनी माता के वियोग के समय उन्होंने किसी प्रकार के दु ख का प्रदशन नही किया। रात भर श्रीभगवान् और भक्तजन भक्तगीतो का गान करते हुए बैठे रह। अपनी माता की भौतिक मृत्यु के प्रति श्रीभगवान् की यह उदासीनता, माँ के पूव रोग के अवसर पर श्रीभगवान् द्वारा की गयी प्राथना की वास्तविक व्याख्या है।

माँ के शरीर को ठिकाने लगाने का प्रश्न उठा। स्वय भगवान् इस बात के साक्षी थे कि माँ का आत्मा मे लय हो गया था और अह के मिथ्या बन्धन मे उनका पुनर्जन्म नही होना था, परन्तु इस सम्बन्ध मे कुछ सन्देह था कि महिला-सन्त का शरीर जलाया न जाकर दफनाया जाय। तब लोगो ने स्मरण किया कि सन् १९१७ मे भी गणपति शास्त्री और उनके दल ने श्रीभगवान् के सम्मुख इसी प्रकार के प्रश्न रखे थे और श्रीभगवान् ने इनका हाँ मे उत्तर दिया था। "चूंकि लिंग-भेद के कारण ज्ञान और मुक्ति मे कोई अन्तर उपस्थित नही होता इसलिए महिला सन्त का शरीर जलाया नही जाना चाहिए। उसका शरीर भी भगवान् का पवित्र मन्दिर है।"

भक्तो को यह बात नही सूझी कि सन् १९१४ मे अपनी माता के स्वास्थ्य-लाभ के लिए रचित इस प्रार्थना मे भगवान् ने पहले ही इस प्रश्न का उत्तर दे दिया था ! "मेरी माँ को तू अपने प्रकाश से आवृत्त कर ले और उसे अपने साथ एकरूप कर ले। फिर जलाने की क्या आवश्यकता है ?" भगवान् स्वय सदा की भाँति सभी प्रकार की हलचल और सस्कार के विरोधी थे। उन्होने कुछ भक्तो से कहा कि वह चुपचाप रात को माता के शरीर को ले जायें और इसे कही पहाडी पर किसी गुम स्थान पर दफना दें। वह ऐसा करने के लिए राजी नही हुए और अगले दिन इसे नीचे पहाडी पर ले जाया गया और इसे बडे समारोह के साथ दक्षिणी किनारे पर पालितीथम सरोवर और दक्षिणामूर्ति मण्डपम् के मध्य दफना दिया गया। भगवान् मौन भाव से यह सब कुछ देखते रहे। समारोह मे भाग लेने के लिए मित्र और सम्बन्धी तथा नगर से बडी सख्या मे लोग आये। जिस गढे मे शरीर को दफनाया गया उसमे शरीर को दफनाने से पूव उसके चारो ओर पवित्र भस्म, कपूर और सुगन्धित पदार्थ डाले गये। इस पर एक प्रकार का स्मारक बनाया गया और बनारस से लाया गया एक पवित्र लिंग इस पर स्थापित किया गया। बाद मे इस स्थान पर एक मन्दिर का निर्माण किया गया। यह मन्दिर सन् १९४९ मे बनकर तैयार हुआ और मातृभटेश्वर मन्दिर अर्थात् माता के रूप मे अभिव्यक्त भगवान् के मन्दिर के नाम से विख्यात है।

जिस प्रकार माता के आगमन से आश्रम के जीवन मे एक सुन्दर युगारम्भ हुआ था, उसी प्रकार उनके प्रयाण से भी एक युगारम्भ हुआ। विकास रुकने के स्थान पर गतिशील ही हुआ। ऐसे भक्त थे जो यह अनुभव करते थे कि सृजनात्मक शक्ति के रूप मे माता की उपस्थिति पहले की अपेक्षा अधिक प्रभावशालिनी थी। एक अवसर पर श्रीभगवान् ने कहा था, वह कहाँ गयी है ? "वह तो यही है।"

निरजनानन्द स्वामी पहाडी के नीचे स्मारक के पास एक फूस की कुटिया

वनाकर वही रहने लगे। श्रीभगवान् स्कन्द आश्रम मे रहते थे परन्तु वह प्राय प्रतिदिन नीचे पहाडी की ओर स्मारक पर आया करते थे। आश्रम से स्मारक तक पहुँचने मे आध घण्टा लगता था। लगभग ६ महीने वाद, एक दिन जब वह सैर के लिए वाहर गये, तव सैर करते समय उनके मन मे नीचे स्मारक पर जाने और वहाँ रहने की प्रवल प्रेरणा हुई। जव वह वापस लौट कर नही आये भक्तजन वहाँ उनके पीछे-पीछे चले गये और इस प्रकार श्री रमणाश्रम की स्थापना हुई। उन्होने वाद मे कहा, "मैं अपनी इच्छा से स्कन्दाश्रम से नही आया। कोई शक्ति मुझे जवदस्ती यहाँ खीच लायी और मैंने उसका पालन किया। यह मेरा निणय नही था वल्कि दैवीय-इच्छा थी।"

अपने से वाहर एक विश्व तथा अपने ऊपर एक भगवान् की वास्तविकता मे विश्वास करना होगा और तव तक द्वित्व और भक्ति का माग उसके लिए समीचीन है। अगर इसका सच्चे हृदय से अनुसरण किया जाय तो यह उसे इस जीवन मे या आगामी जीवन मे अद्वैत की ओर ले जायगा। चूकि यही अन्तिम लक्ष्य है, मार्ग का यह अन्तिम सोपान भी होगा। भगवान् के कथन का यही तात्पय है "अन्त मे सभी मनुष्य अरुणाचल की ओर आयेंगे।" प्रतीयमान त्रिगुण सत्ता के सम्वन्ध मे उन्होने कहा, "सभी धम तीन आधारभूत तत्वो की स्थापना करते हैं व्यक्ति, भगवान और विश्व। केवल तभी तक जब तक व्यक्ति का अस्तित्व रहता है, या तो ऐसा कहा जाता है, "एक अपने को तीन रूपो मे प्रकट कर रहा है" या "तीन वस्तुत तीन हैं।" सर्वोच्च अवस्था आत्मलीनता और अह के लोप की है। (**फार्टी वर्सिज ऑव रिएलिटी**, दूसरा खण्ड)

पश्चिमी विचारक मुख्यत विश्व की मायावी प्रकृति का विरोध करते हैं और वस्तुत अपने दृप्टिकोण से वह ठीक कहते हैं, क्योकि विश्व की भी उतनी ही वास्तविकता है, जितनी कि मनुष्य के अह की। जव तक व्यक्ति अपने अह को अवास्तविक नही समझता वह विश्व को अवास्तविक नही समझ सकता। पश्चिमी दर्शन का यह सिद्धान्त कि मेरा अह वास्तविक है और अन्य सव वस्तुएँ अवास्तविक हैं, स्पष्टत असगत है, परन्तु अद्वैत ऐसी घोपणा नही करता। एक स्वप्न द्वारा दोनो सिद्धान्तो का अन्तर समझाया जा सकता है। यह मानना कि विश्व माया है जवकि मेरा अह वास्तविक है, इस प्रकार का कथन होगा कि स्वप्न में 'मैं' वास्तविक है परन्तु अन्य लोग स्थान और परिस्थितियां अवास्तविक हैं, जो कि सर्वथा असगत है। वास्तविक स्थिति यह है कि 'मैं' सहित सारा स्वप्न पदार्थनिष्ठ वास्तविकता के विना है। इसलिए जैसे ही व्यक्ति अपने अह की अवास्तविकता को हृदयगम कर लेता है, वह विश्व की अवास्तविकता को भी हृदयगम कर लेता है परन्तु इससे पूव नही। इसकी इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है जैसे स्वप्न, स्वप्न रूप मे सत्य होता है परन्तु पदार्थनिष्ठ वास्तविकता के रूप मे अवास्तविक होता ह, उसी प्रकार आत्मा की अभिव्यक्ति के रूप मे विश्व वास्तविक है परन्तु आत्मा से वाहर पदार्थनिष्ठ वास्तविकता के रूप मे अवास्तविक है। भगवान् ने एक वार एक भक्त को इस प्रकार समझाया था

> "लोगो ने शकराचाय के माया के दशन के अथ को समझे विना उसकी आलोचना की है। उसने तीन स्थापनाएँ की ब्रह्म वास्तविक है, विश्व अवास्तविक है, और ब्रह्म विश्व है। वह दूसरी स्थापना के साथ ही नही रुक गये। तीसरी स्थापना पहली दो की व्याख्या करती है, यह घोपित करती है कि जव विश्व को ब्रह्म से पृथक् करके देखा जाता है

तब यह दर्शन असत्य और मायावी होता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब घटनाओ को आत्म रूप मे अनुभव किया जाता है वह वास्तविक होता है और जब आत्मा मे पृथक करके उन्हें देखा जाता है तब वह मायावी होती है।"

हमे यह याद रखना चाहिए कि भगवान् की शिक्षाएँ सवथा व्यावहारिक थीं। वह सिद्धान्त की व्याख्या सिद्धान्त के लिए नही करते थे वल्कि भक्तो की विशिष्ट आवश्यकताओ और प्रश्नो के उत्तर मे तथा उनकी साधना को सरल बनाने के लिए करते थे।

जब उन्हें एक बार (**महर्षीज गॉस्पल मे**) यह स्मरण कराया गया कि बुद्ध ने भगवान् के सम्बन्ध मे प्रश्नो का उत्तर देने से इन्कार कर दिया था, तब उन्होने स्वीकृतिसूचक उत्तर देते हुए कहा था, "तथ्य तो यह है कि बुद्ध भगवान् के सम्बन्ध में शास्त्रीय वादविवाद की अपेक्षा अन्वेषक को यही और अभी परमानन्द की प्राप्ति का माग बताना चाहते थे।" वह स्वय भी प्राय प्रश्नकर्त्ता की उत्सुकता को सतुष्ट करने से इन्कार कर देते थे और उनके लिए साधना की आवश्यकता पर बल देते थे। मनुष्य की मरणोत्तर अवस्था के सम्बन्ध मे पूछे जाने पर वह कहा करते थे "आप यह जाने बिना कि अब आप क्या हैं, यह क्यो जानना चाहते हैं कि मृत्यु के बाद आपका क्या होगा। पहले यह पता लगाओ कि अब आप क्या हैं।" इस और प्रत्येक जन्म के बाद मनुष्य अब और शाश्वत रूप से अमर आत्मा है। परन्तु इस प्रकार का उपदेश सुनना या इस पर विश्वास करना ही पर्याप्त नहीं है, इसके साक्षात्कार के लिए प्रयास करना आवश्यक है। इसी प्रकार भगवान् के सम्बन्ध मे पूछे जाने पर वह कहा करते थे, "अपने सम्बन्ध में जानने से पूव आप भगवान् के सम्बन्ध मे क्यों जानना चाहते हैं ? पहले यह पता लगाओ कि आप क्या हैं।"

जिस प्रक्रिया से यह कार्य सपन्न होता है उसका वणन एक बाद के अध्याय मे किया गया है परन्तु चूकि अगले अध्याय मे पहले ही भक्तो के प्रति श्रीभगवान् के उपदेशों का विवरण दिया गया है, इस ओर तथा उनकी शिक्षा की ओर यहीं निर्देश कर दिया गया है।

उनकी शिक्षा दर्शन शास्त्र के सामान्य अर्थो में 'दशन' नही थी, यह इस तथ्य से देखा जा सकता है (जैसा कि अगले अध्याय में श्री शिवप्रकाशम् पिल्लई को दिये गये उनके उत्तरो से प्रकट होगा) कि वह अपने भक्तो को समस्याओ के सम्बन्ध मे विचार करने के लिए नहीं कहते थे बल्कि शुद्ध ज्ञान या आत्मबोध प्राप्त करते समय वह विचारो के उपरोध के लिए कहते थे। इससे ऐसा प्रतीत हो सकता है जैसे यह प्रक्रिया व्यक्ति को जड बना देती हो पर दूसरे अध्याय मे उद्धृत वार्तालाप मे उन्होंने पाल ब्रटन को बताया था कि इसका उलटा

अपने से बाहर एक विश्व तथा अपने ऊपर एक भगवान् की वास्तविकता मे विश्वास करना होगा और तब तक द्वित्व और भक्ति का माग उसके लिए समीचीन है। अगर इसका सच्चे हृदय से अनुसरण किया जाय तो यह उसे इस जीवन मे या आगामी जीवन मे अद्वैत की ओर ले जायगा। चूंकि यही अन्तिम लक्ष्य है, मार्ग का यह अन्तिम सोपान भी होगा। भगवान् के कथन का यही तात्पर्य है "अन्त मे सभी मनुष्य अरुणाचल की ओर आयेंगे।" प्रतीयमान त्रिगुण सत्ता के सम्बन्ध मे उन्होंने कहा, "सभी धर्म तीन आधारभूत तत्वो की स्थापना करते हैं व्यक्ति, भगवान और विश्व। केवल तभी तक जब तक व्यक्ति का अस्तित्व रहता है, या तो ऐसा कहा जाता है, "एक अपने को तीन रूपो मे प्रकट कर रहा है" या "तीन वस्तुत तीन हैं।" सर्वोच्च अवस्था आत्मलीनता और अह के लोप की है। (**फार्टी वर्सिज ऑव रिएलिटी**, दूसरा खण्ड)

पश्चिमी विचारक मुख्यत विश्व की मायावी प्रकृति का विरोध करते हैं और वस्तुत अपने दृष्टिकोण से वह ठीक कहते हैं, क्योकि विश्व की भी उतनी ही वास्तविकता है, जितनी कि मनुष्य के अह की। जब तक व्यक्ति अपने अह को *अवास्तविक नही समझता वह विश्व को अवास्तविक नही समझ सकता।* पश्चिमी दर्शन का यह सिद्धान्त कि मेरा अह वास्तविक है और अन्य सब वस्तुएँ अवास्तविक हैं, स्पष्टत असगत है, परन्तु अद्वैत ऐसी घोषणा नही करता। एक स्वप्न द्वारा दोनो सिद्धान्तो का अन्तर समझाया जा सकता है। यह मानना कि विश्व माया है जबकि मेरा अह वास्तविक है, इस प्रकार का कथन होगा कि स्वप्न मे 'मैं' वास्तविक है परन्तु अन्य लोग स्थान और परिस्थितियाँ अवास्तविक हैं, जो कि सर्वथा असगत है। वास्तविक स्थिति यह है कि 'मैं' सहित सारा स्वप्न पदार्थनिष्ठ वास्तविकता के बिना है। इसलिए जैसे ही व्यक्ति अपने अह की अवास्तविकता को हृदयगम कर लेता है, वह विश्व की अवास्तविकता को भी हृदयगम कर लेता है परन्तु इससे पूर्व नही। इसकी इस प्रकार व्याख्या की जा सकती है जैसे स्वप्न, स्वप्न रूप मे सत्य होता है परन्तु पदार्थनिष्ठ वास्तविकता के रूप मे अवास्तविक होता है, उसी प्रकार आत्मा की अभिव्यक्ति के रूप मे विश्व वास्तविक है परन्तु आत्मा से बाहर पदार्थनिष्ठ वास्तविकता के रूप मे अवास्तविक है। भगवान् ने एक बार एक भक्त को इस प्रकार समझाया था

> "लोगो ने शकराचार्य के माया के दशन के अर्थ को समझे बिना उसकी आलोचना की है। उसने तीन स्थापनाएँ की ब्रह्म वास्तविक है, विश्व अवास्तविक है, और ब्रह्म विश्व है। वह दूसरी स्थापना के साथ ही नहीं रुक गये। तीसरी स्थापना पहली दो की व्याख्या करती है, यह घोषित करती है कि जब विश्व को ब्रह्म से पृथक् करके देखा जाता है

तब यह दर्शन असत्य और मायावी होता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब घटनाओ को आत्म रूप मे अनुभव किया जाता है वह वास्तविक होता है और जब आत्मा मे पृथक करके उन्हे देखा जाता है तब वह मायावी होती है।"

हमे यह याद रखना चाहिए कि भगवान् की शिक्षाएँ सर्वथा व्यावहारिक थीं। वह सिद्धान्त की व्याख्या सिद्धान्त के लिए नही करते थे बल्कि भक्तो की विशिष्ट आवश्यकताओं और प्रश्नो के उत्तर में तथा उनकी साधना को सरल बनाने के लिए करते थे।

जब उन्हें एक बार (**महर्षीज गॉस्पल मे**) यह स्मरण कराया गया कि बुद्ध ने भगवान् के सम्बन्ध मे प्रश्नो का उत्तर देने से इन्कार कर दिया था, तब उन्होने स्वीकृतिसूचक उत्तर देते हुए कहा था, "तथ्य तो यह है कि बुद्ध भगवान् के सम्बन्ध में शास्त्रीय वादविवाद की अपेक्षा अन्वेषक को यहीं और अभी परमानन्द की प्राप्ति का मार्ग बताना चाहते थे।" वह स्वय भी प्राय प्रश्नकर्ता की उत्सुकता को सतुष्ट करने से इन्कार कर देते थे और उनके लिए साधना की आवश्यकता पर बल देते थे। मनुष्य की मरणोत्तर अवस्था के सम्बन्ध मे पूछे जाने पर वह कहा करते थे "आप यह जाने बिना कि अब आप क्या हैं, यह क्यो जानना चाहते हैं कि मृत्यु के बाद आपका क्या होगा। पहले यह पता लगाओ कि अब आप क्या हैं।" इस और प्रत्येक जन्म के बाद मनुष्य अब और शाश्वत रूप से अमर आत्मा है। परन्तु इस प्रकार का उपदेश सुनना या इस पर विश्वास करना ही पर्याप्त नही है, इसके साक्षात्कार के लिए प्रयास करना आवश्यक है। इसी प्रकार भगवान् के सम्बन्ध मे पूछे जाने पर वह कहा करते थे, "अपने सम्बन्ध मे जानने से पूव आप भगवान् के सम्बन्ध मे क्यो जानना चाहते हैं ? पहले यह पता लगाओ कि आप क्या हैं।"

जिस प्रक्रिया से यह काय सपन्न होता है उसका वणन एक बाद के अध्याय मे किया गया है परन्तु चूँकि अगले अध्याय में पहले ही भक्तो के प्रति श्रीभगवान् के उपदेशो का विवरण दिया गया है, इस ओर तथा उनकी शिक्षा की ओर यहीं निर्देश कर दिया गया है।

उनकी शिक्षा दर्शन शास्त्र के सामान्य अर्थो में 'दर्शन' नहीं थी, यह इस तथ्य से देखा जा सकता है (जैसा कि अगले अध्याय में श्री शिवप्रकाशम् पिल्लई को दिये गये उनके उत्तरों से प्रकट होगा) कि वह अपने भक्तो को समस्याओ के सम्बन्ध में विचार करने के लिए नहीं कहते थे बल्कि शुद्ध ज्ञान या आत्मबोध प्राप्त करते समय वह विचारो के उपरोध के लिए कहते थे। इससे ऐसा प्रतीत हो सकता है जैसे यह प्रक्रिया व्यक्ति को जड़ बना देती हो पर दूसरे अध्याय मे उद्धृत वार्तालाप में उन्होंने पाल ब्रटन को बताया था कि इसका उलटा

मे से है, न ही इन्द्रिय-पदार्थो, न ही कर्मेन्द्रियो मे से है, न प्राण है, न मन है और न ही यह प्रगाढ निद्रा की स्थिति है, जहाँ इन सबका कोई ज्ञान नही रहता ।

शिवप्रकाशम् अगर इनमे से मैं कोई नही हूँ तो फिर मैं क्या हूँ ?

भगवान् इनमे से सबका निषेध करने और यह कहने के उपरान्त कि 'मैं यह नही हूँ' जो अन्त मे शेष रह जाता है, वह 'मैं' है और वही चैतन्य है ।

शिवप्रकाशम् उस चैतन्य का स्वरूप क्या है ?

भगवान् वह सच्चिदानन्द है, जिसमे 'मैं' के विचार का लेशमात्र भी नही है । इसे मौन या आत्मा भी कहते हैं । केवल इसी का अस्तित्व है । अगर ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनो को पृथक् माना जाय तो ये शुक्ति मे रजत के भ्रम की तरह केवल भ्रम मात्र हैं । ईश्वर, जीव और प्रकृति वस्तुत शिवस्वरूप या आत्मस्वरूप हैं ।

शिवप्रकाशम् हम उस वास्तविक सत्ता का किस प्रकार साक्षात्कार कर सकते हैं ?

भगवान् जब दृश्य वस्तुएँ लुप्त हो जाती हैं तब द्रष्टा या कर्त्ता का वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है ।

शिवप्रकाशम् क्या बाह्य वस्तुओ को देखते हुए उस परम तत्त्व का साक्षात्कार सभव नही है ?

भगवान् नही, द्रष्टा और दृश्य रज्जु और उसमे सर्प की भ्रान्ति के समान हैं । जब तक आप सर्प की भ्रान्ति से छुटकारा नही पा लेते, आप यह नही देख सकते कि जो कुछ है, वह केवल रज्जु ही है ।

शिवप्रकाशम् बाह्य वस्तुएँ कब लुप्त हो जायेंगी ?

भगवान् अगर सभी विचारो और गतिविधियो का कारण मन लुप्त हो जाय तो सभी बाह्य पदार्थ लुप्त हो जायेंगे ।

शिवप्रकाशम् मन का स्वरूप क्या है ?

भगवान् मन केवल विचार है, यह एक प्रकार की शक्ति है । यह स्वय को ससार के रूप मे प्रकट करता है । जब मन आत्मा मे निमग्न हो जाता है तब आत्म-साक्षात्कार होता है, जब मन बाहर विचरने लगता है, ससार प्रकट होता है और आत्मा की अभिव्यक्ति नही होती ।

शिवप्रकाशम् मन का किस प्रकार लोप होगा ?

भगवान् केवल इस जिज्ञासा द्वारा कि 'मैं कौन हूँ ?' यह जिज्ञासा भी मानसिक प्रक्रिया है, जो अपने सहित सब मानसिक क्रियाओ को वैसे ही नष्ट कर देती है, जैसे जिस डडे से चिता को हिलाया जाता है, वह चिता और शव के भस्म होने के बाद स्वय भी भस्म हो जाता है । केवल तभी व्यक्ति को

आत्म-साक्षात्कार होता है। मैं का विचार नष्ट हो जाता है, श्वास और जीवन के अन्य चिह्न विलीन हो जाते हैं। अह् और प्राण का एक ही सामान्य स्रोत है। आप जो भी कार्य करें, अह् की भावना से रहित होकर करें अर्थात 'मैं यह काय कर रहा हूँ' इस भावना से रहित होकर करें। जब व्यक्ति इस अवस्था मे पहुँच जाता है तब वह अपनी पत्नी को भी विश्व माता के रूप मे समझने लगता है। सच्ची भक्ति आत्मा के सम्मुख अह् का समपण है?

शिवप्रकाशम् क्या मन पर विजय पाने का अन्य कोई माग नही है?

भगवान् आत्म-जिज्ञासा के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। अगर अन्य साधनो से मन को शान्त किया जाय तो यह थोडी देर के लिए शान्त रहता है और फिर यह प्रकट हो जाता है तथा अपने पहले क्रिया-कलाप में निमग्न हो जाता है।

शिवप्रकाशम् समस्त सहज वृत्तियो और वासनाओ, जैसे कि आत्म-सरक्षण की वृत्ति का कब नाश होगा?

भगवान् जितना अधिक आप आत्म-निमग्न होगे उतना अधिक ये वासनाएँ क्षीण होती जायँगी और अन्त में इनका सर्वथा लोप हो जायगा।

शिवप्रकाशम् क्या वस्तुत उन सभी वासनाओ का उन्मूलन सभव है जो अनेक जन्मो मे हमारे मनों मे प्रविष्ट हो चुकी हैं।

भगवान् इस प्रकार के सन्देहों को कभी भी अपने मन मे स्थान न दें बल्कि दृढ निश्चय के साथ आत्मा मे निमग्न हो जायें। अगर मन को निरन्तर आत्मा की ओर निर्देशित किया जाय तो इसका लय हो जाता है और यह आत्मा मे परिवर्तित हो जाता है। जब आप किसी प्रकार का सन्देह अनुभव करें, इसकी व्याख्या करने का प्रयास न करें बल्कि यह जानने की चेष्टा करें कि वह कौन है जिसको यह सन्देह होता है।

शिवप्रकाशम् व्यक्ति को यह आत्म-अन्वेषण कब तक करना चाहिए?

भगवान् जब तक आपके मन में विचारोत्पादक प्रवृत्ति का लेशमात्र भी है तब तक आत्म-अन्वेषण जारी रखें। जब तक शत्रु दुग पर अधिकार किये है वह उस पर आक्रमण जारी रखेंगे। अगर आप प्रत्येक को उनके बाहर निकलते ही मार देंगे तो अतत दुग का पतन हो जायगा। इसी प्रकार हर बार जब कोई विचार अपना सिर उठाये, आप इसे इस जिज्ञासा के साथ कुचल डालें। सारे विचारो को उत्पन्न होते ही कुचल देना वैराग्य कहलाता है। इसलिए जब तक आत्म-साक्षात्कार नहीं हो जाता विचार आवश्यक है। निरन्तर और निर्बाध आत्म-चिन्तन अनिवाय है।

शिवप्रकाशम् क्या यह ससार और इसमे जो कुछ घटित होता है,

भगवान् की इच्छा का परिणाम नही है ? अगर ऐसी बात हो तो भगवान् की ऐसी इच्छा क्यो है ?

भगवान् भगवान् का कोई प्रयोजन नही है। वह कर्म-बधन मे नही है। ससार के क्रिया-कलाप उसे प्रभावित नही कर सकते। सूय का उदाहरण लें। सूर्य बिना किसी इच्छा, प्रयोजन या प्रयास के उदय होता है, परन्तु जैसे ही यह उदय होता है वैसे ही पृथ्वी पर अनेक क्रिया-कलाप होने लगते हैं ? सूय की किरणो के प्रकाश मे रखा हुआ ताल अपने केन्द्र मे अग्नि का प्रादुर्भाव करने लगता है, कमल-कलिका खिल उठती है, पानी वाष्प बनकर उडने लगता है और प्रत्येक जीवित प्राणी क्रिया-कलाप प्रारम्भ कर देता है, इसे जारी रखता है और अतत इसे बन्द कर देता है। परन्तु सूर्य पर किसी गतिविधि का प्रभाव नही पडता, क्योंकि यह केवल अपनी प्रकृति के अनुसार, निश्चित नियमो के अनुरूप और बिना किसी प्रयोजन के काय करता है और केवल साक्षी होता है। भगवान् की भी यही दशा है। या आकाश का उदाहरण लें। पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु सब का अस्तित्व आकाश मे है और इनके परिवर्तित रूप भी इसमे विराजमान हैं परन्तु इनमे से कोई भी आकाश को प्रभावित नही करता। भगवान् की भी ऐसी ही बात है। सृष्टि की उत्पत्ति, धारण, विनाश, निवर्त्तन और मुक्ति के कार्यों मे, जिनके आधीन ससार के प्राणी हैं, भगवान् की कोई इच्छा या प्रयोजन नही है। प्राणियो को उनके कर्मों का फल भगवान् के नियमो के अनुसार मिलता है, इसलिए दायित्व उनका है, भगवान् का नही। भगवान् किन्ही क्रियाओ से बँधा हुआ नही है।

श्रीभगवान् की इस उक्ति को कि द्रष्टा का वास्तविक स्वरूप तभी प्रकट होता है जब दृश्य वस्तुएँ लुप्त हो जाती हैं, हमे शब्दश इस अर्थ मे नही लेना चाहिए कि उसे भौतिक ससार का ज्ञान ही नही रहता। यह तो निर्विकल्प समाधि की अवस्था है, इसका तात्पय तो यह है कि वह वस्तुएं वास्तविक प्रतीत न होकर केवल आत्मा के विविध रूप प्रतीत होती हैं। यह सर्प और रज्जु के उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। यह एक परम्परागत उदाहरण है, जिसका प्रयोग श्रीशकर ने भी किया था। एक व्यक्ति को सन्ध्या समय कुण्डलीकृत रज्जु दिखायी देती है, वह इसे गलती मे साँप समझ बैठता है और इसीलिए भयभीत हो जाता है। जब सवेरा होता है, वह देखता है कि यह तो केवल रज्जु है और उसका भय निराधार था। सत्ता की वास्तविकता रज्जु है, उसे भयभीत करने वाला सर्प का भ्रम बाह्य ससार है।

विचारो को पैदा होते ही कुचल देना वैराग्य है, इस वक्तव्य की भी व्याख्या अपेक्षित है। वैराग्य का अर्थ है निरसगता, अनासक्ति, समता। शिवप्रकाशम् पिल्लई का यह प्रश्न कि कब मानव अपनी सहज वृत्तिया और

गुप्त वासनाओ पर विजय पा सकता है, यह प्रदर्शित करता है कि यह वैराग्य है जिसके लिए वह प्रयत्न करने की आवश्यकता अनुभव करते हैं। श्रीभगवान् उनसे यह कह रहे थे कि विचार या आत्म-अन्वेपण वैराग्य का सबसे छोटा मार्ग है। आवेश और आसक्ति मन मे होते हैं, इसलिए जब मन पर नियन्त्रण कर लिया जाता है, तब वह परास्त हो जाते है। यही वैराग्य है। मन का लोप हो जाना चाहिए और मानसिक क्रियाएँ नष्ट हो जानी चाहिए, इस वक्तव्य का कई आलोचको ने गलत अर्थ लगाया है, जिससे प्रगाढ निद्रा के समान शून्य अवस्था का बोध होता है। स्वभावत इस प्रकार के आलोचको को यह व्याख्या करने मे कठिनाई होती है कि इस प्रकार की अवस्था को परमानन्द की सज्ञा क्यो दी जाय। जब बौद्ध लोग निर्वाण की चर्चा करते हैं, जिसका अर्थ भी बिलकुल वही है तब उनके सामने वही कठिनाई प्रस्तुत होती। वस्तुत विचार एक अप्रत्यक्ष ज्ञान है जो प्रत्यक्ष ज्ञान या आत्म-ज्ञान के माग मे बाधक है। आत्म-साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति विचार की शक्ति या अन्य शक्ति खो नहीं देता। उसका मन जैसा कि पहले बताया गया है, मध्याह्न के पूर्ण चन्द्रमा की तरह है, जो प्रकाशमान है पर यह आवश्यक नहीं कि उसे देखा जा सके।

बाद मे इन उत्तरो को विस्तृत रूप दिया गया और 'हू एम आई' के नाम से पुस्तक रूप में क्रमबद्ध किया गया, सम्भवत यह श्रीभगवान् की सर्वाधिक प्रशसित गद्य रचना है।

सन् १९१० तक शिवप्रकाशम् पिल्लई को सरकारी नौकरी कष्टसाध्य तथा साधना के माग मे बाधक प्रतीत होने लगी थी। वह इतने साधन सपन्न थे कि बिना आजीविका अर्जित किये गृहस्थ का जीवन व्यतीत कर सकते थे इसलिए उन्होंने नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। तीन वष बाद उन्हें वास्तविक निर्णय करना था। क्या उनके त्यागपत्र का अभिप्राय यह था कि वह सासारिक जीवन का परित्याग कर रहे हैं या कि वह केवल कठिन मार्ग का परित्याग कर रहे हैं और सुखद माग को अपना रहे हैं। उनकी पत्नी की मृत्यु हो गयी। उन्हे अब यह निणय करना था कि यह पुर्नाविवाह करें या साधु बन जायें। वह पूरे अधेड नहीं कहे जा सकते थे और एक लडकी के प्रति उनकी अत्यधिक आसक्ति थी। अगर उन्हें पुर्नविवाह करना और नये सिरे से गृहस्थी बसानी थी, तब यह प्रश्न भी पैदा होता था कि पैसा कहाँ से आये ?

पहले इस प्रकार के विषयो के सम्बन्ध मे श्रीभगवान् से प्रश्न करने मे उन्हे सकोच हुआ। शायद उन्हे यह आभास हो गया कि वह क्या उत्तर देंगे ? इसलिए उन्होंने दूसरे तरीके से उत्तर प्राप्त करने का प्रयास किया। उन्होंने कागज के एक टुकडे पर चार प्रश्न लिखे

(१) ससार के सब कष्टो और चिन्ताओ से मुक्ति पाने के लिए मुझे क्या करना चाहिए ?

(२) क्या मेरा उस लडकी से, जिसके बारे मे मैं सोच रहा हूँ, विवाह होगा ?

(३) अगर नही, तो क्यो ?

(४) अगर मेरा विवाह होना है तो आवश्यक धन कहाँ से आएगा ?

इस कागज के टुकडे को लेकर, वह विघ्नेश्वर के मन्दिर की ओर चल पडे। वह वचपन से ही विघ्नेश्वर की पूजा किया करते थे। उन्होने मूर्ति के सम्मुख कागज रख दिया और सारी रात जागकर यह प्रार्थना करते रहे कि कागज पर लिखित उत्तर आ जाय या उन्हें कोई सकेत मिल जाय या आभास हो जाय।

कुछ भी नही हुआ और अव उनके पास स्वामी के समीप जाने के और कोई चारा नही था। वह विरूपाक्ष कन्दरा की ओर गये परन्तु स्वामी के सम्मुख प्रश्न रखते हुए उन्हे अव भी सकोच हो रहा था। दिन-प्रति-दिन वह इसे स्थगित करते गये। यद्यपि श्रीभगवान् कभी भी किसी को गृह-परित्याग के लिए प्रोत्साहित नही करते थे, तथापि इसका यह अभिप्राय नही कि जिस व्यक्ति को विधि ने गृह-वधनो से मुक्त कर दिया हो उसे वह पुन गृह-वधनो मे पडने के लिए प्रोत्साहित करते। शिवप्रकाशम् पिल्लई को धीरे-धीरे यह अनुभव होने लगा कि स्वामी की शान्ति और पवित्रता, स्त्रियो के प्रति पूर्ण उदासीनता और धन के प्रति निरपेक्षता से उन्हे उनके प्रश्नो का उत्तर मिल गया है। उनके जाने का दिन आ गया और अभी तक वह प्रश्न नही पूछ सके। उस दिन स्वामी के निकट अनेक लोग थे, इसलिए अगर वह प्रश्न पूछना भी चाहते तो उन्हें सवके सामने पूछने पडते। वह स्वामी की ओर एकटक दृष्टि लगाकर वैठ गये। उन्हें स्वामी के सिर के निकट एकाएक चौंधियाने वाला प्रकाश दिखाई दिया और उन्होंने उनके सिर मे एक स्वण आभामय वालक को निकलते हुए तथा उसमे पुन प्रवेश करते हुए देखा। क्या यह जीवित जाग्रत उत्तर था कि सतति हाड माम की नही अपितु आत्मा की है। वह आनन्द-विभोर हो उठे। सदेह और अनिणय की उनकी लम्वी अवधि समाप्त हो गयी, वह सिसकियाँ भरने लगे, उन्हे इससे पूण सात्वना मिली।

यह श्रीभगवान् के जीवन की महान् असाधारणता का एक उदाहरण है। जव शिवप्रकाशम पिल्लई ने अन्य भक्तो को इस घटना के सम्वन्ध मे वताया तव कुछ हँसने लगे, कुछ को विश्वास नहीं हुआ और कुछ को यह सन्देह होने लगा कि वह नशे मे हैं यद्यपि दशन और असाधारण घटनाओ के वहुत से

उदाहरण चुने जा सकते हैं, तथापि श्रीभगवान् के पचास और उससे अधिक वर्षों की जीवन-अवधि, जो उन्होंने हमारे मध्य व्यतीत की, मे बहुत थोड़े हैं।

आनन्द-विभोर शिवप्रकाशम् पिल्लई ने उस दिन जाने का विचार छोड दिया। अगले सायकाल जैसे ही वह श्रीभगवान् के सम्मुख बैठे, उन्हे फिर दर्शन हुए। इस बार भगवान् का शरीर प्रात कालीन सूर्य के समान चमक रहा था और उनके चारो ओर पूर्ण चन्द्र की द्युति विराजमान थी। इसके बाद उन्होने सम्पूर्ण शरीर को पवित्र राख से ढके हुए और उनके नेत्रो को करुणा से चमकते हुए देखा। फिर दो दिन बाद उन्हे दर्शन हुए। इस बार उन्हें श्रीभगवान् का शरीर शुद्ध स्फटिक का दिखायी दिया। वह अभिभूत हो उठे। उन्हें उस स्थान का परित्याग करते हुए भय अनुभव होने लगा कि कही उनके हृदय-सरोवर में उठने वाली अवर्णनीय आनन्द की लहरें शान्त न हो जायें। वह अपने गाँव वापस आ गये, उनके न पूछे गये प्रश्नो का उत्तर मिल चुका था। उन्होंने अपना शेष जीवन ब्रह्मचर्य और तपस्या में बिताया। इन सब अनुभवो का उन्होने एक तमिल कविता मे वर्णन किया है। उन्होने भगवान् की प्रशसा मे अन्य कविताएँ भी लिखी, जिनमे से कुछ कविताओं का गान आज भी भक्त-जन करते हैं।

नटेश मुदालियर

श्रीभगवान् के पास आने वाले सभी व्यक्ति उनके मौन उपदेश को नही समझते थे। अतत नटेश मुदालियर ने इस मौन उपदेश को समझा, परन्तु इसमें काफी समय लगा। जब उन्होंने विवेकानन्द के ग्रन्थ पढे और वह ससार का परित्याग तथा गुरु की खोज करने के लिए अत्यन्त उत्सुक हो उठे, उस समय वह एक प्रारम्भिक स्कूल मे पढाते थे। मित्रो ने उन्हे अरुणाचल पहाडी के स्वामी के सम्बन्ध म बताया परन्तु साथ ही यह भी कह दिया कि उनसे आदेश ग्रहण करना अत्यन्त कठिन है। मुदालियर ने प्रयास करने का निर्णय किया। १९१८ की बात है, श्रीभगवान् पहले ही स्कन्दाश्रम मे विराजमान थे। मुदालियर वहाँ गये और श्रीभगवान् के सम्मुख बैठ गये परन्तु वह मौन रहे और मुदालियर, जिन्होंने पहले न बोलने का निर्णय कर लिया था, निराश होकर लौट आये।

अपने इस प्रयत्न मे असफल होकर उन्होंने अन्य स्वामियो के दर्शन के लिए यात्रा की, परन्तु उन्ह कोई ऐसा स्वामी नही मिला जिसमे उन्हें दिव्य ज्योति की झलक दिखाई दी हो और जिसके आगे वह आत्म-समर्पण कर सकें। दो वर्ष की निष्क्रिय खोज के बाद उन्होंने श्रीभगवान् को एक लम्बा पत्र लिखा और उनसे प्रार्थना की कि वह ज्ञानोत्सुक आत्माओं के प्रति स्वार्थमय उदासीनता का व्यवहार न करें और चूंकि उनकी पहली यात्रा निष्फल सिद्ध हुई थी,

इसलिए उन्हे फिर आने की अनुमति प्रदान करें। एक महीना बीत गया, पर कोई उत्तर नही आया। तब उन्होने एक स्वीकृतिसूचक रजिस्टर्ड लैटर भेजा और इस बार उन्होने लिखा "मुझे कितने ही जन्म धारण करने हैं, मैंने केवल आपसे ही उपदेश लेने का निर्णय किया है। मैं शपथ लेकर कहता हूँ, अगर आप मुझे अपने उपदेश का अपात्र समझकर इस जीवन मे छोड देंगे, तो आपको इस प्रयोजन के लिए फिर जन्म ग्रहण करना पडेगा।"

कुछ दिन बाद श्रीभगवान् नटेश के सम्मुख स्वप्न मे प्रकट हुए और उन्होंने कहा, "मेरे सम्बन्ध मे निरन्तर मत सोचो। तुम्हे पहले भगवान् महेश्वर की अनुकम्पा प्राप्त करनी होगी। पहले उनका चिन्तन करो और उनकी अनुकम्पा प्राप्त करो। मेरी सहायता तुम्हे स्वय मिल जायेगी।" नटेश के घर मे नदी पर आरूढ भगवान् महेश्वर का एक चित्र था। वह इसे अपने सम्मुख रखकर भगवान् का चिन्तन करने लगे। कुछ दिन बाद उनके पत्र का उत्तर आया, "महर्षि पत्रो का उत्तर नही देते, आप यहाँ आकर उनके दर्शन कर सकते हैं।"

उन्होंने यह जानने के लिए कि यह पत्र श्रीभगवान् के आदेश पर लिखा गया था, एक और पत्र भेजा और फिर तिरुवन्नामलाई के लिए प्रस्थान कर दिया। अपने स्वप्न मे बताये गये मार्ग का अनुसरण करते हुए वह पहले नगर के बडे मन्दिर मे गये। यहाँ उन्होने अरुणाचलेश्वर के दर्शन किये और वही रात गुजारी। वहाँ उन्हें एक ब्राह्मण मिला जिसने उन्हे स्वामी के दर्शनो से रोका और कहा, "मेरी बात ध्यान देकर सुने, मैंने रमण महर्षि के निकट सोलह वर्ष बिताये हैं और उनका अनुग्रह मुझे प्राप्त नही हुआ। वह प्रत्येक वस्तु के प्रति उदासीन हैं। अगर आप उनके आगे अपना सिर भी पटक दें, तो भी उन्हे आप मे कोई दिलचस्पी नही होगी। उनका अनुग्रह प्राप्त करना असम्भव है। इसलिए उनके दर्शनो का कोई लाभ नही।"

यह इस बात का अद्भुत उदाहरण है कि श्रीभगवान् अपने भक्तो से क्या अपेक्षा करते थे। जिन भक्तो के हृदय ग्रहणशील होते थे, वह उन्हे माँ से भी अधिक कृपालु पाते थे। कई भय और सम्मान की मिश्रित भावना से काँप उठते थे। जो व्यक्ति बाह्य चिह्नो के आधार पर उनके सम्बन्ध मे जानना चाहता था, उसे कुछ भी हाथ नही लगता था। चूँकि नटेश ने स्वामी के पास जाने का आग्रह किया, इसलिए एक दूसरे व्यक्ति ने उनसे कहा, "आपको स्वामी का अनुग्रह प्राप्त होगा या नही, यह जानने का उपाय मैं आपको बताता हूँ। पहाडी पर शेषाद्रि नाम के एक स्वामी रहते हैं। वह किसी से नही मिलते-जुलते और जो लोग उनसे मिलने की कोशिश करते है, वह प्राय उन्हे दूर भगा देते हैं। अगर आप उनकी दया प्राप्त कर लें, तो आपको सफलता मिल सकती है।"

अगले प्रातःकाल अपने साथी अध्यापक जे० वी० सुब्रह्मण्यम् के साथ मुदालियर शेषाद्रिस्वामी की खोज मे निकल पडे। बहुत छानबीन करने के बाद उन्होने उन्हे देख लिया और मुदालियर को यह देखकर बहुत सन्तोष तथा आश्चर्य हुआ कि शेषाद्रिस्वामी स्वयं उनकी तरफ आ रहे हैं। उन्हे यात्रा का प्रयोजन बताने की कोई आवश्यकता नही पडी, उन्होने मुदालियर से कहा, "मेरे बच्चे, तुम क्यो दुःखी और चिन्तित होते हो ? ज्ञान क्या है ? जब मन एक के बाद दूसरी वस्तु को क्षणिक और अवास्तविक समझकर उसका निषेध करता चला जाता है, तब इस निषेध के बाद जो वस्तु अन्त मे बच रहती है, उसे ज्ञान कहते हैं। वही भगवान् है। प्रत्येक वस्तु वही है और केवल वही है। ज्ञान की प्राप्ति केवल पहाडी या कन्दरा मे जाने से हो सकती है, इस विश्वास के साथ इधर-उधर भटकते रहना मूर्खता है। निर्भय होकर जाओ।" इस प्रकार उन्होंने भगवान् के शब्दों मे उनका उपदेश दिया।

इस शुभ शकुन से हर्षोद्वेलित होकर वह स्कन्दाश्रम आने वाली पहाडी पर चल पडे। दोपहर को वह वहाँ पहुँचे। पाँच-छः घण्टे तक मुदालियर श्रीभगवान् के सम्मुख बैठे रहे, परन्तु उनमे कोई वार्तालाप नही हुआ। इसके बाद सायंकालीन भोजन का समय हो गया और श्रीभगवान् उठ खडे हुए। जे० वी० एस० ऐय्यर ने उनसे कहा, "यही वह व्यक्ति है जिसने उन्हे वह पत्र लिखे थे।" इस पर श्रीभगवान् ने नटेश की ओर स्थिर दृष्टि से देखा और वह बिना कुछ बोले बाहर चले गये।

हर महीने मुदालियर एक दिन के लिए वहाँ आते और श्रीभगवान् के सम्मुख मौनभाव से प्रार्थना करते हुए बैठते, परन्तु वह उनसे कभी नही बोले और न ही नटेश ने पहले बोलने का प्रयास किया। इस प्रकार पूरा वर्ष व्यतीत हो गया। अब नटेश और सहन नहीं कर सके और अन्त मे उन्होंने कहा, "मैं यह जानना और अनुभव करना चाहता हूँ, कि आपकी अनुकम्पा क्या है, क्योकि लोग इसका भिन्न-भिन्न रूप मे वर्णन करते हैं।"

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया "मैं सदा अपनी अनुकम्पा का दान कर रहा हूँ। अगर यह तुम्हारी समझ मे नही आती, तो मैं क्या करूँ ?"

अब भी मुदालियर की समझ मे मौन उपदेश नहीं आया, उन्हें अब भी ज्ञान नही हो रहा था कि वह किस मार्ग का अनुसरण करें। थोडी देर बाद श्रीभगवान् स्वप्न मे उनके सम्मुख प्रकट हुए और उनसे बोले, "अपनी दृष्टि सम रखें और इसे बाह्य तथा आन्तरिक दोनो ओर से हटा लें। इस प्रकार, जैसे-जैसे भेद दूर होते जायेंगे, आप प्रगति करते जायेंगे।" मुदालियर ने यह समझकर कि श्रीभगवान् का तात्पर्य भौतिक दृष्टि से है, उनसे कहा, "मुझे यह समुचित मार्ग प्रतीत नही होता। अगर आप जैसा महापुरुष इस प्रकार

का परामर्श मुझे देगा, तो सच्चा परामर्श कौन देगा ?" श्रीभगवान् ने उन्हे विश्वास दिलाया कि यही सच्चा मार्ग है।

विकास के अगले चरण का स्वय मुदालियर ने इस प्रकार वणन किया है "मैंने कुछ समय तक इस स्वप्न-उपदेश का अनुसरण किया, फिर मुझे दूसरा स्वप्न आया। इस बार जब श्रीभगवान् प्रकट हुए, मेरे पिता मेरे निकट खडे हुए थे। उन्होने मेरे पिता की ओर सकेत करते हुए कहा, "यह कौन हैं ?" उत्तर की दार्शनिक शुद्धता के प्रति कुछ सकोच के साथ मैंने उत्तर दिया, "मेरे पिता।" महर्षि साभिप्राय मुस्करा उठे और मैंने कहा, "मेरा उत्तर सामान्य बोलचाल की भाषा के अनुसार है, न कि दर्शन की", क्योकि मुझे यहाँ स्मरण था कि मैं शरीर नही हूँ। महर्षि ने मुझे अपने निकट खीच लिया और अपनी हथेली पहले मेरे सिर पर रखी, फिर मेरी दाहिनी छाती पर और अपनी अँगुली से मेरे चूचुक को दबाया। इससे मुझे कुछ पीड़ा अनुभव हुई। परन्तु यह उनकी अनुकम्पा थी, मैंने इसे शान्तिपूर्वक सहन कर लिया। तब मुझे इस बात का पता नही था कि उन्होने मेरी बायी छाती के बजाय दायी छाती को क्यो दबाया।"[1]

इस प्रकार मौन दीक्षा ग्रहण करने मे असफल होकर, मुदालियर को स्वप्न मे स्पर्श द्वारा दीक्षा दी गयी।

नटेश उन व्यक्तियो मे से थे, जो ज्ञान-प्राप्ति की खोज मे गृहस्थ जीवन का परित्याग कर अकिंचन भिक्षुक की तरह जीवनयापन करने के लिए उत्सुक थे। परन्तु श्रीभगवान् ने इसे प्रोत्साहन नही दिया। "जिस प्रकार आप यहाँ रहते हुए गृहस्थ जीवन की चिन्ताओ को पास नही आने देते, उसी प्रकार आप घर जाकर भी सासारिक चिन्ताओ से सर्वथा उदासीन और अनासक्त रहे।" मुदालियर मे अब भी अपने गुरु के प्रति पूर्ण निर्भरता और दृढ विश्वास का अभाव था। उन्होने श्रीभगवान् के स्पष्ट आदेश के बावजूद गृह परित्याग कर सन्यास ले लिया। उन्हे अनुभव हुआ कि श्रीभगवान् की भविष्य-वाणी के अनुसार उनके मार्ग की कठिनाइया बढ गयी है, कम नही हुई। कुछ वर्ष बाद वह परिवार मे वापस लौट आये और फिर काम मे जुट गये। इसके बाद उनका भक्तिभाव बढता गया। उन्होने श्रीभगवान् की प्रशस्ति मे तमिल मे कविताओ की रचना की। और अन्त मे उन्हे गुरु की वह मौखिक शिक्षाएँ प्राप्त हुई, जिनके लिए वह इतने अधिक उत्सुक थे। '**ए कैटेकिज्म ऑफ इन्स्ट्रक्शन**' नामक पुस्तक मे गुरु और उसकी अनुकम्पा के सिद्धान्त का अत्यन्त सुन्दर वर्णन है और इसमे अधिकाशत श्रीनटेश के प्रश्नो का उत्तर दिया गया है।

---

१ इसका कारण १२वें अध्याय मे दिया गया है।

गणपति शास्त्री

श्रीभगवान् के भक्तो मे गणपति शास्त्री अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। वह गणपति मुनि के नाम से विख्यात थे और सस्कृत मे आशु कविता करने के कारण उन्हें काव्यकान्त की उपाधि से विभूषित किया गया था। वह अत्यन्त योग्य और प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। अगर उनमे महत्त्वाकाक्षा होती, तो वह आधुनिक लेखको और विद्वानो की अग्रिम पक्ति मे स्थान पाते और अगर उनमे महत्त्वाकाक्षा का सर्वथा अभाव होता, तो वह महान् आध्यात्मिक शिक्षक की पदवी पाते, परन्तु वह इन दोनो के मध्य मे रह गये। भगवान् की ओर उनका इतना अधिक झुकाव था कि उन्हे सफलता या यश की तनिक भी इच्छा नही थी, तो भी वह मानव-जाति की सहायता और उत्थान के लिए इतने अधिक चिन्तित थे कि वह 'मैं कर्त्ता हूँ', इस भ्रम से मुक्ति नही पा सके।

सन् १८७८ में (श्रीभगवान् के जन्म से एक वर्ष पूर्व) गणपति शास्त्री के जन्म के समय उनके पिता बनारस मे भगवान् गणपति की मूर्ति के सम्मुख बैठे हुए थे, उन्हें ऐसा दिखाई दिया कि भगवान् की मूर्ति से निकलकर एक बालक उनकी ओर आ रहा है, इसलिए उन्होंने अपने बालक का नाम गणपति रखा। प्रथम पाँच वर्ष तक गणपति गूगे रहे, उन्हें मिरगी के दौरे आते रहे और उनमें प्रतिभाशाली बालक के चिह्न दृष्टिगोचर नही होते थे। इसके बाद रक्त-तप्त लोहे के स्पर्श द्वारा उनका उपचार किया गया और उन्होने तत्काल ही अद्‌भुत योग्यता का परिचय देना प्रारम्भ किया। दस वर्ष की आयु तक वह सस्कृत मे काव्य-रचना करने लगे और उन्होंने कई काव्यो तथा व्याकरण-शास्त्र में पाण्डित्य प्राप्त करने के अतिरिक्त ज्योतिष का पचाग तैयार किया। चौदह वर्ष की आयु मे वह पचकाव्य, सस्कृत छन्दशास्त्र और अलकारशास्त्र के मुख्य ग्रन्थो मे पारगत हो गये और उन्होने रामायण, महाभारत तथा कुछ पुराणो का अध्ययन समाप्त कर लिया। वह सस्कृत मे धाराप्रवाह भाषण कर सकते और लिख सकते थे। श्रीभगवान् की तरह उनकी स्मरणशक्ति अलौकिक थी। जो कुछ भी वह पढते या सुनते, वह स्मरण कर लेते। श्रीभगवान् की तरह उनमे अष्टावधान की योग्यता थी, अर्थात् वह एक समय विभिन्न विषयों की ओर ध्यान केन्द्रित कर सकते थे।

प्राचीन ऋषियो की कथाओ का उन पर बहुत प्रभाव पडा। उनके आदर्श-चिह्नो पर चलने की भावना उनमे पैदा हुई। विवाह के तत्काल बाद अठारह वर्ष की आयु से, उन्होंने भारतवर्ष का भ्रमण प्रारम्भ किया, पवित्र स्थानों के दर्शन किये, मन्त्र-साधना की और तपश्चर्या की। १९०० मे वह नदिया (बगाल) मे पण्डितो की एक सभा में सम्मिलित हुए। यहाँ आशु कविता तथा दार्शनिक तर्क-वितर्क मे अद्‌भुत प्रतिभा, प्रदर्शन के कारण उन्हे 'काव्य-

का परामर्श मुझे देगा, तो सच्चा परामर्श कौन देगा ?" श्रीभगवान् ने उन्हे विश्वास दिलाया कि यही सच्चा मार्ग है ।

विकास के अगले चरण का स्वय मुदालियर ने इस प्रकार वणन किया है "मैंने कुछ समय तक इस स्वप्न-उपदेश का अनुसरण किया, फिर मुझे दूसरा स्वप्न आया । इस वार जव श्रीभगवान् प्रकट हुए, मेरे पिता मेरे निकट खडे हुए थे । उन्होने मेरे पिता की ओर सकेत करते हुए कहा, "यह कौन हैं ?" उत्तर की दार्शनिक शुद्धता के प्रति कुछ सकोच के साथ मैंने उत्तर दिया, "मेरे पिता ।" महर्षि साभिप्राय मुस्करा उठे और मैंने कहा, "मेरा उत्तर सामान्य वोलचाल की भाषा के अनुसार है, न कि दर्शन की", क्योकि मुझे यहाँ स्मरण था कि मैं शरीर नही हूँ । महर्षि ने मुझे अपने निकट खीच लिया और अपनी हथेली पहले मेरे सिर पर रखी, फिर मेरी दाहिनी छाती पर और अपनी अँगुली से मेरे चूचुक को दवाया । इससे मुझे कुछ पीडा अनुभव हुई । परन्तु यह उनकी अनुकम्पा थी, मैंने इसे शान्तिपूर्वक सहन कर लिया । तव मुझे इस वात का पता नही था कि उन्होने मेरी वायी छाती के वजाय दायी छाती को क्यो दवाया ।"[1]

इस प्रकार मौन दीक्षा ग्रहण करने मे असफल होकर, मुदालियर को स्वप्न मे स्पर्श द्वारा दीक्षा दी गयी ।

नटेश उन व्यक्तियो मे से थे, जो ज्ञान-प्राप्ति की खोज मे गृहस्थ जीवन का परित्याग कर अकिंचन भिक्षुक की तरह जीवनयापन करने के लिए उत्सुक थे । परन्तु श्रीभगवान् ने इसे प्रोत्साहन नही दिया । "जिस प्रकार आप यहाँ रहते हुए गृहस्थ जीवन की चिन्ताओ को पास नही आने देते, उसी प्रकार आप घर जाकर भी सासारिक चिन्ताओ से सवथा उदासीन और अनासक्त रहे ।" मुदालियर मे अव भी अपने गुरु के प्रति पूर्ण निर्भरता और दृढ विश्वास का अभाव था । उन्होने श्रीभगवान् के स्पष्ट आदेश के वावजूद गृह परित्याग कर सन्यास ले लिया । उन्हे अनुभव हुआ कि श्रीभगवान् की भविष्य-वाणी के अनुसार उनके मार्ग की कठिनाइयाँ वढ गयी है, कम नही हुई । कुछ वर्ष वाद वह परिवार मे वापस लौट आये और फिर काम मे जुट गये । इसके वाद उनका भक्तिभाव वढता गया । उन्होने श्रीभगवान् की प्रशस्ति मे तमिल मे कविताओ की रचना की । और अन्त मे उन्हे गुरु की वह मौखिक शिक्षाएँ प्राप्त हुई, जिनके लिए वह इतने अधिक उत्सुक थे । 'ए कैटेकिज़्म ऑफ इन्स्ट्रक्शन' नामक पुस्तक मे गुरु और उनकी अनुकम्पा के सिद्धान्त का अत्यन्त सुन्दर वर्णन है और इसमे अधिकाशत श्रीनटेश के प्रश्नो का उत्तर दिया गया है।

---

१ इसका कारण १२वें अध्याय मे दिया गया है ।

गणपति शास्त्री

श्रीभगवान् के भक्तो में गणपति शास्त्री अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। वह गणपति मुनि के नाम से विख्यात थे और संस्कृत मे आशु कविता करने के कारण उन्हें काव्यकान्त की उपाधि से विभूषित किया गया था। वह अत्यन्त योग्य और प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। अगर उनमें महत्त्वाकाक्षा होती, तो वह आधुनिक लेखको और विद्वानों की अग्रिम पंक्ति मे स्थान पाते और अगर उनमे महत्त्वाकाक्षा का सर्वथा अभाव होता, तो वह महान् आध्यात्मिक शिक्षक की पदवी पाते, परन्तु वह इन दोनो के मध्य मे रह गये। भगवान् की ओर उनका इतना अधिक झुकाव था कि उन्हे सफलता या यश की तनिक भी इच्छा नही थी, तो भी वह मानव-जाति की सहायता और उत्थान के लिए इतने अधिक चिन्तित थे कि वह 'मैं कर्त्ता हूँ', इस भ्रम से मुक्ति नहीं पा सके।

सन् १८७८ मे (श्रीभगवान् के जन्म से एक वर्ष पूर्व) गणपति शास्त्री के जन्म के समय उनके पिता बनारस मे भगवान् गणपति की मूर्ति के सम्मुख बैठे हुए थे, उन्हे ऐसा दिखाई दिया कि भगवान् की मूर्ति से निकलकर एक बालक उनकी ओर आ रहा है, इसलिए उन्होने अपने बालक का नाम गणपति रखा। प्रथम पाँच वर्ष तक गणपति गूंगे रहे, उन्हे मिरगी के दौरे आते रहे और उनमे प्रतिभाशाली बालक के चिह्न दृष्टिगोचर नही होते थे। इसके बाद रक्त-तप्त लोहे के स्पर्श द्वारा उनका उपचार किया गया और उन्होने तत्काल ही अद्भुत योग्यता का परिचय देना प्रारम्भ किया। दस वर्ष की आयु तक वह संस्कृत मे काव्य-रचना करने लगे और उन्होंने कई काव्यो तथा व्याकरण-शास्त्र मे पाण्डित्य प्राप्त करने के अतिरिक्त ज्योतिष का पचाग तैयार किया। चौदह वर्ष की आयु मे वह पचकाव्य, संस्कृत छन्दशास्त्र और अलंकारशास्त्र के मुख्य ग्रन्थों मे पारगत हो गये और उन्होने रामायण, महाभारत तथा कुछ पुराणो का अध्ययन समाप्त कर लिया। वह संस्कृत मे धाराप्रवाह भाषण कर सकते और लिख सकते थे। श्रीभगवान् की तरह उनकी स्मरणशक्ति अलौकिक थी। जो कुछ भी वह पढ़ते या सुनते, वह स्मरण कर लेते। श्रीभगवान् की तरह उनमें अष्टावधान की योग्यता थी, अर्थात् वह एक समय विभिन्न विषयो की ओर ध्यान केन्द्रित कर सकते थे।

प्राचीन ऋषियो की कथाओ का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा। उनके आदर्श-चिह्नो पर चलने की भावना उनमें पैदा हुई। विवाह के तत्काल बाद अठारह वर्ष की आयु से, उन्होंने भारतवर्ष का भ्रमण प्रारम्भ किया, पवित्र स्थानो के दर्शन किये, मन्त्र-साधना की और तपश्चर्या की। १९०० मे वह नदिया (बंगाल) मे पण्डितो की एक सभा मे सम्मिलित हुए। यहाँ आशु कविता तथा दार्शनिक तर्क-वितर्क में अद्भुत प्रतिभा, प्रदर्शन के कारण उन्हे 'काव्य-

कान्त' की उपाधि से, जिसका पहले निर्देश किया जा चुका है, सम्मानित किया गया। १९०३ मे वह तिरुवन्नामलाई आये और उन्होने पहाडी पर दो वार ब्राह्मण स्वामी के दर्शन किये। कुछ समय के लिए उन्होने वैल्लोर मे, जहाँ तिरुवन्नामलाई से कुछ घण्टे की रेल-यात्रा के वाद पहुँचते थे, स्कूल-अध्यापक का काय किया। यहाँ उनके वहुत-से शिष्य वन गये। इन शिष्यो ने मन्त्रो के प्रयोग से शक्ति का इतना विकास किया था कि इसका सूक्ष्म प्रभाव अगर समस्त मानव-जाति मे नही तो सम्पूण राष्ट्र मे व्याप्त हो जाता और उसे उन्नति की ओर ले जाता।

शिक्षक के पद पर वह देर तक नही रह सके। १९०६ तक वह फिर तिरुवन्नामलाई वापस चले आये। परन्तु अव उनके मन मे सन्देह पैदा होने लगे। अव वह अधेड हो चले थे। अपनी अद्‌भुत प्रतिभा, प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा मन्त्रो और तप के कारण न उन्हे भगवत्-भक्ति के क्षेत्र मे सफलता मिली और न सासारिक क्षेत्र मे। उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि वह एक निष्प्राण लक्ष्य के निकट पहुँच चुके थे। कार्तिकेय-उत्सव के नौवें दिन उन्होने एकाएक पहाडी पर रहने वाले स्वामी को स्मरण किया। नि स्सन्देह उन्हे उत्तर मिलेगा। ज्योही उनके मन मे यह भावना उठी उन्होने इस पर आचरण किया। मध्याह्न के सूय की गरमी मे उन्होने विरूपाक्ष कन्दरा की ओर पहाडी पर चढना शुरू किया। स्वामी अकेले कन्दरा के वरामदे मे वैठे हुए थे। शास्त्री उनके सामने नत हो गये और उन्होने उनके चरण पकड लिये। भावावेश के कारण कांपती हुई आवाज मे उन्होंने कहा, "जो कुछ अध्ययन करना चाहिए, वह सव मैंने अध्ययन कर लिया है, वेदान्तशास्त्र मे भी मैं पारगत हो गया हूँ, मैंने हार्दिक भाव मे जप भी किया है परन्तु अव तक मैं यह नही समझ पाया कि तप क्या है। इसलिए मैं आपकी शरण मे आया हूँ। मुझे तप के स्वरूप मे परिचित कराइए।"

स्वामी पन्द्रह मिनट तक मौनभाव से शास्त्री की ओर देखते रहे और फिर उन्होने उत्तर दिया, "अगर कोई यह निरीक्षण करे कि 'मैं' का विचार कहाँ-से उत्पन्न होता है, तो मन उसमे निमग्न हो जाता है, वही तप है। मन्त्रोच्चारण के समय अगर कोई उस स्रोत को देखता है, जहाँ से मन्त्र-ध्वनि उत्पन्न होती है, तो मन उसमे निमग्न हो जाता है, वही तप है।"

स्वामी के शब्दो से शास्त्री इतने आनन्दित नही हुए जितने उनकी अनुकम्पा से। उन्होने स्वामी के उपदेश के सम्वन्ध मे अपने मित्रो को ओजस्विनी भाषा मे लिखा और सस्कृत श्लोको मे उनकी प्रशस्ति की। उन्हे पलानी स्वामी से पता चला कि स्वामी का नाम वेंकटरमण है। उन्होने यह घोषणा की कि अव से उन्हे भगवान् श्रीरमण और महर्षि के नाम से पुकारा जायगा। रमण

नाम तत्काल ही प्रयोग मे आने लगा और इसी प्रकार महर्षि की उपाधि भी। भाषण और लेखन में बहुत अरसे तक उन्हें 'महर्षि' के नाम से सम्बोधित किया जाता रहा। धीरे-धीरे उनके भक्तजन उन्हे 'भगवान्' के नाम मे सम्बोधित करने ल जिसका अथ है 'दिव्य' या 'प्रभु'। वह स्वय प्राय अवैयक्तिक रूप से बात करते थे और 'मैं' के प्रयोग से बचते थे। उदाहरण के लिए, वह वस्तुत यह नही कहा करते थे, "मैं नही जानता कि कब सूय उदय हुआ या कब अस्त हुआ" जैसा कि पाँचवें अध्याय मे उद्धृत किया गया है, बल्कि वह यह कहा करते थे, "कौन जानता है कब सूय उदय हुआ या कब अस्त हुआ?" कभी-कभी वह अपने शरीर की ओर भी 'यह' कहकर निर्देश किया करते थे। केवल वह वक्तव्य देते समय जिसमे 'भगवान्' शब्द होता, वह 'भगवान्' कहा करते और प्रथम पुरुष मे बात करते। उदाहरण के लिए, जब मेरी पुत्री वापस स्कूल जा रही थी और उनसे यह कहा गया कि जब वह दूर रहे, तो उसे याद रखें, तब उनका उत्तर था, "अगर किट्टी भगवान् को याद रखेगी तो भगवान् भी किट्टी को याद रखेंगे।"

गणपति शास्त्री श्रीभगवान् को भगवान् सुब्रह्मण्यम् का अवतार समझते थे, परन्तु भगवान् के भक्तो ने यह मानने से इन्कार कर दिया, क्योकि उनका ऐसा अनुभव था कि श्रीभगवान् को किसी विशेष दिव्य रूप का अवतार समझना असीम को सीमा में बाँधना है। श्रीभगवान ने इस ऐकात्म्य का समथन नही किया। एक बार एक भक्त ने उनसे कहा, "अगर भगवान् सुब्रह्मण्यम् का अवतार हैं, जैसा कि कुछ लोग कहते हैं, तो वह हमारे अटकलबाजी लगाने के बजाय स्पष्ट रूप से इसकी घोषणा क्यो नही करते।"

उन्होने उत्तर दिया, "अवतार क्या है? अवतार भगवान् के एक पक्ष की अभिव्यक्ति है, जबकि ज्ञानी स्वय भगवान् है।"

श्रीभगवान् से मिलने के एक वर्ष बाद गणपति शास्त्री ने भगवान् की अपार अनुकम्पा का अनुभव किया। जब वह तिरुवोथियुर में गणपति के मन्दिर मे ध्यानावस्था मे बैठे थे, वह व्यग्र हो उठे। उनके मन मे श्रीभगवान् का सान्निध्य और मार्ग-दशन प्राप्त करने की उत्कट इच्छा पैदा हुई। उसी क्षण श्रीभगवान् ने मन्दिर मे प्रवेश किया। गणपति शास्त्री उनके सम्मुख दण्डवत् लेट गये और जैसे ही वह उठने लगे उन्होंने अपने सिर पर श्रीभगवान् के हाथ के स्पश का अनुभव किया। इस स्पर्श से उनके समस्त शरीर मे अजस्र शक्ति की धारा प्रवाहित होने लगी। इस प्रकार उन्होने गुरु से स्पर्श के माध्यम से अनुकम्पा का प्रसाद प्राप्त किया।

बाद के वर्षो में इस घटना की चर्चा करते हुए श्रीभगवान् ने कहा, "एक दिन, कुछ वर्ष पूव, मैं नीचे लेटा हुआ था और जाग रहा था। मैंने स्पष्ट रूप

से यह अनुभव किया कि मेरा शरीर ऊँचा उठ रहा है। मैं देख रहा था कि नीचे के भौतिक पदार्थ क्षुद्रतर होते जा रहे हैं, और अन्तत लुप्त हो गये हैं और मेरे चारो ओर चौंधियाने वाले प्रकाश का निस्सीम विस्तार है। कुछ देर बाद मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मेरा शरीर धीरे-धीरे नीचे उतर रहा है और नीचे के भौतिक पदार्थ प्रकट हो रहे हैं। मुझे यह घटना इतनी अच्छी तरह स्मरण है कि मैं अन्तत इस परिणाम पर पहुँचा कि इन्ही साधनो द्वारा सिद्ध लोग थोडे समय मे दूर-दूर की यात्राएँ किया करते होगे और रहस्यमय ढग मे कभी प्रकट और कभी तिरोहित हो जाते होगे। जब मेरा शरीर इस प्रकार भूमि पर उतरा, तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं तिरुवोथियुर मे था, हालांकि इस स्थान को मैंने पहले कभी नही देखा था। मैंने अपने को सडक पर पाया और उस पर चलने लगा। सडक से कुछ दूर गणपति का मन्दिर था और मैंने इसमे प्रवेश कर लिया।"

यह घटना श्रीभगवान् के जीवन की बडी विलक्षण घटना है। यह बडी विलक्षण बात है कि अपने भक्त की भक्ति या कष्ट मे द्रवित होकर वह तुरन्त रहस्यमय ढग से सहायता के लिए दौडते आयें और समस्त सिद्धियो के होते हुए भी भौतिक जगत् की अपेक्षा सूक्ष्म जगत् की शक्तियो के प्रयोग मे दिलचस्पी न रखें और भक्त की प्रार्थना पर अगर कोई अदभुत घटना घट जाय, तो बाल-सुलभ सरलता से कहे, "मेरा विचार है, यही सिद्ध लोग करते हैं।"

यही वह उदासीनता का भाव था, जिसका विकास गणपति शास्त्री नही कर सके। उन्होने एक बार भगवान् से पूछा था, "क्या मेरे सब ध्येयो की प्राप्ति के लिए 'मैं' के स्रोत की खोज करना पर्याप्त है या इसके लिए मन्त्राध्ययन की आवश्यकता है।" श्रीभगवान् सदा 'मैं' का निषेध करते हुए कहते उसके ध्येय, उसकी महत्वाकाक्षाएँ, देश का पुनरुत्थान और धर्म का पुनरभ्युदय।

श्रीभगवान् ने सक्षेप मे उत्तर दिया, "पहला साधन पर्याप्त होगा।" और जब शास्त्री ने अपने ध्येयो तथा आदर्शो के सम्बन्ध मे वक्तव्य जारी रखा तब उन्होंने कहा, "अच्छा यह होगा कि आप अपना समस्त भार भगवान् पर डाल दें। वह आपके समस्त दायित्व उठा लेगा और आप उनसे मुक्त हो जायँगे। वह अपना कार्य करेगा।"

सन् १९१७ मे गणपति शास्त्री तथा अन्य भक्तो ने श्रीभगवान् के सम्मुख कई प्रश्न रखे और ये प्रश्न तथा उत्तर श्री रमण गीता मे सग्रहीत किये गये है। उस पुस्तक मे उनकी अधिकाश पुस्तको की अपेक्षा अधिक विद्वत्ता और सैद्धान्तिक ज्ञान झलकता है। गणपति शास्त्री का एक विशेष प्रश्न यह था कि अगर किसी व्यक्ति को विशेष सिद्धियो की खोज मे ज्ञान लाभ हो जाय तो

क्या उसकी इच्छाएँ पूर्ण हो जायेंगी। श्रीभगवान् का तुरन्त तथा सूक्ष्म परिहास उनके इस उत्तर मे परिलक्षित होता है, "अगर योगी को अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए योग-साधन करते हुए, ज्ञान-लाभ हो जाय, तो वह अनुचित रूप से हर्षित नही होगा, भले ही उसकी इच्छाओ की पूर्ति हो जाय।"

सन् १९३६ के लगभग गणपति शास्त्री अपने अनुयायियो के साथ खड़गपुर के निकट नीमपुरा के गाँव मे बस गये। इसके दो वर्ष बाद से लेकर मृत्युपर्यन्त वे पूर्णत तपश्चर्या मे लीन रहे। शास्त्रीजी की मृत्यु के बाद, जब एक बार श्रीभगवान् से यह प्रश्न किया गया कि क्या शास्त्रीजी को अपने जीवन मे आत्म-साक्षात्कार हो गया था, तब उन्होंने उत्तर दिया, "उन्हे आत्मसाक्षात्कार कैसे हो सकता था ? उनके सकल्प अत्यन्त प्रबल थे।"

एफ० एच० हम्फ्रीज

श्रीभगवान के प्रथम पाश्चात्य भक्त सन् १९११ मे भारत आने से पूर्व रहस्यमयी सिद्धियो से परिचित थे। उनकी आयु उस समय केवल २१ वर्ष की थी। वे वैल्लोर मे पुलिस सेवा मे एक उच्च पद पर थे। उन्होने तेलुगु सीखने के लिए नरसिहैय्या नामक एक शिक्षक रखा। प्रथम पाठ के समय ही उन्होने अपने शिक्षक से यह प्रश्न किया कि क्या वे उनके लिए हिन्दू ज्योतिष पर अग्रेजी मे लिखी कोई पुस्तक ला सकेंगे। यह एक अग्रेज की बड़ी विचित्र प्रार्थना थी, परन्तु नरसिहैय्या ने इसे स्वीकार कर लिया और उन्हें पुस्तकालय से एक पुस्तक लाकर दे दी। अगले दिन हम्फ्रीज ने एक और आश्चर्यजनक प्रश्न पूछा, "क्या आप यहाँ किसी महात्मा को जानते हैं ?"

नरसिहैय्या ने सक्षेप मे निषेधात्मक उत्तर दिया। परन्तु इस निषेध के कारण नरसिहैय्या देर तक परेशानी से नही बचे रह सके क्योकि हम्फ्रीज ने अगले दिन कहा, "क्या आपने कल मुझसे कहा था कि आप किसी महात्मा को नही जानते ? परन्तु आज सवेरे जैसे ही मेरी आँख खुली मैंने आपके गुरु को देखा। वह मेरे निकट बैठ गये। उन्होने मुझसे कुछ कहा जो मैं नही समझ सका।"

चूंकि नरसिहैय्या को अब भी विश्वास नही हो रहा था, हम्फ्री ने अपना कथन जारी रखते हुए कहा, "वैल्लौर के लिए प्रथम व्यक्ति को मैं बम्बई में मिला, वह तुम ही थे।" नरसिहैय्या ने इस पर आपत्ति करते हुए कहा कि वह कभी बम्बई गया ही नही। परन्तु हम्फ्रीज ने उसे समझाते हुए कहा, "जैसे ही मैं बम्बई पहुँचा, मुझे उच्च ज्वर की अवस्था में अस्पताल ले जाया गया। पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए मैंने वैल्लोर का ध्यान किया। अगर मैं बीमार न पड़ता तो मुझे बम्बई मे उतरते ही तुरन्त वैल्लोर के लिए प्रस्थान करना था। मैंने अपने सूक्ष्म शरीर मे वैल्लोर की यात्रा की और वहाँ तुम्हे देखा।"

से यह अनुभव किया कि मेरा शरीर ऊँचा उठ रहा है। मैं देख रहा था कि नीचे के भौतिक पदार्थ क्षुद्रतर होते जा रहे हैं, और अन्तत लुप्त हो गये हैं और मेरे चारो ओर चौंधियाने वाले प्रकाश का निस्सीम विस्तार है। कुछ देर बाद मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि मेरा शरीर धीरे-धीरे नीचे उतर रहा है और नीचे के भौतिक पदाथ प्रकट हो रहे हैं। मुझे यह घटना इतनी अच्छी तरह स्मरण है कि मैं अन्तत इस परिणाम पर पहुँचा कि इन्ही साधनो द्वारा सिद्ध लोग थोडे समय मे दूर-दूर की यात्राएँ किया करते होगे और रहस्यमय ढग से कभी प्रकट और कभी तिरोहित हो जाते होगे। जब मेरा शरीर इस प्रकार भूमि पर उतरा, तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं तिरुवोथियुर मे था, हालाँकि इस स्थान को मैंने पहले कभी नहीं देखा था। मैंने अपने को सडक पर पाया और उस पर चलने लगा। सडक से कुछ दूर गणपति का मन्दिर था और मैंने इसमे प्रवेश कर लिया।"

यह घटना श्रीभगवान् के जीवन की बडी विलक्षण घटना है। यह बडी विलक्षण बात है कि अपने भक्त की भक्ति या कष्ट से द्रवित होकर वह तुरन्त रहस्यमय ढग स सहायता के लिए दौडते आयें और समस्त सिद्धियो के होते हुए भी भौतिक जगत् की अपेक्षा सूक्ष्म जगत् की शक्तियो के प्रयोग मे दिलचस्पी न रखें और भक्त की प्राथना पर अगर कोई अदभुत घटना घट जाय, तो बाल-सुलभ सरलता से कहे, "मेरा विचार है, यही सिद्ध लोग करते हैं।"

यही वह उदासीनता का भाव था, जिसका विकास गणपति शास्त्री नही कर सके। उन्होने एक बार भगवान् से पूछा था, "क्या मेरे सब ध्येयो की प्राप्ति के लिए 'मैं' के स्रोत की खोज करना पर्याप्त है या इसके लिए मन्त्राध्ययन की आवश्यकता है।" श्रीभगवान् सदा 'मैं' का निषेध करते हुए कहते उसके ध्येय, उसकी महत्वाकाक्षाएँ, देश का पुनरुत्थान और धम का पुनरभ्युदय।

श्रीभगवान् ने सक्षेप मे उत्तर दिया, "पहला साधन पर्याप्त होगा।" और जब शास्त्री ने अपने ध्येयो तथा आदर्शो के सम्बन्ध मे वक्तव्य जारी रखा तब उन्होंने कहा, "अच्छा यह होगा कि आप अपना समस्त भार भगवान् पर डाल दें। वह आपके समस्त दायित्व उठा लेगा और आप उनसे मुक्त हो जायेंगे। वह अपना काय करेगा।"

सन् १९१७ मे गणपति शास्त्री तथा अन्य भक्तो ने श्रीभगवान् के सम्मुख कई प्रश्न रखे और ये प्रश्न तथा उत्तर श्री रमण गीता मे सग्रहीत किये गये हैं। इस पुस्तक मे उनकी अधिकाश पुस्तको की अपेक्षा अधिक विद्वत्ता और सैद्धान्तिक ज्ञान झलकता है। गणपति शास्त्री का एक विशेष प्रश्न यह था कि अगर किसी व्यक्ति को विशेष सिद्धियो की खोज मे ज्ञान लाभ हो जाय तो

क्या उसकी इच्छाएँ पूर्ण हो जायेंगी। श्रीभगवान का तुरन्त तथा सूक्ष्म परिहास उनके इस उत्तर मे परिलक्षित होता है, "अगर योगी को अपनी इच्छाओ की पूर्ति के लिए योग-साधन करते हुए, ज्ञान-लाभ हो जाय, तो वह अनुचित रूप से हर्षित नही होगा, भले ही उसकी इच्छाओ की पूर्ति हो जाय।"

सन १९३६ के लगभग गणपति शास्त्री अपने अनुयायियो के साथ खडगपुर के निकट नीमपुरा के गाँव मे बस गये। इसके दो वर्ष बाद से लेकर मृत्युपर्यन्त वे पूर्णत तपश्चर्या में लीन रहे। शास्त्रीजी की मृत्यु के बाद, जब एक बार श्रीभगवान् से यह प्रश्न किया गया कि क्या शास्त्रीजी को अपने जीवन मे आत्म-साक्षात्कार हो गया था, तब उन्होने उत्तर दिया, "उन्हे आत्मसाक्षात्कार कैसे हो सकता था? उनके सकल्प अत्यन्त प्रबल थे।"

एफ० एच० हम्फ्रीज

श्रीभगवान् के प्रथम पाश्चात्य भक्त सन् १९११ मे भारत आने से पूर्व रहस्यमयी सिद्धियो से परिचित थे। उनकी आयु उस समय केवल २१ वर्ष की थी। वे वैल्लोर मे पुलिस सेवा मे एक उच्च पद पर थे। उन्होने तेलुगु सीखने के लिए नरसिंहैय्या नामक एक शिक्षक रखा। प्रथम पाठ के समय ही उन्होने अपने शिक्षक से यह प्रश्न किया कि क्या वे उनके लिए हिन्दू ज्योतिष पर अग्रेजी मे लिखी कोई पुस्तक ला सकेंगे। यह एक अग्रेज की बडी विचित्र प्रार्थना थी, परन्तु नरसिंहैय्या ने इसे स्वीकार कर लिया और उन्हें पुस्तकालय से एक पुस्तक लाकर दे दी। अगले दिन हम्फ्रीज ने एक और आश्चर्यजनक प्रश्न पूछा, "क्या आप यहाँ किसी महात्मा को जानते हैं?"

नरसिंहैय्या ने सक्षेप में निषेधात्मक उत्तर दिया। परन्तु इस निषेध के कारण नरसिंहैय्या देर तक परेशानी से नही बचे रह सके क्योकि हम्फ्रीज ने अगले दिन कहा, "क्या आपने कल मुझसे कहा था कि आप किसी महात्मा को नही जानते? परन्तु आज सवेरे जैसे ही मेरी आँख खुली मैंने आपके गुरु को देखा। वह मेरे निकट बैठ गये। उन्होने मुझसे कुछ कहा जो मैं नही समझ सका।"

चूँकि नरसिंहैय्या को अब भी विश्वास नही हो रहा था, हम्फ्री ने अपना कथन जारी रखते हुए कहा, "वैल्लोर के लिए प्रथम व्यक्ति को मैं बम्बई में मिला, वह तुम ही थे।" नरसिंहैय्या ने इस पर आपत्ति करते हुए कहा कि वह कभी बम्बई गया ही नही। परन्तु हम्फ्रीज ने उसे समझाते हुए कहा, "जैसे ही मैं बम्बई पहुँचा, मुझे उच्च ज्वर की अवस्था मे अस्पताल ले जाया गया। पीडा से छुटकारा पाने के लिए मैंने वैल्लोर का ध्यान किया। अगर मैं बीमार न पडता तो मुझे बम्बई मे उतरते ही तुरन्त वैल्लोर के लिए प्रस्थान करना था। मैंने अपने सूक्ष्म शरीर मे वैल्लोर की यात्रा की और वहाँ तुम्हे देखा।"

नरसिंहैय्या ने सीधा-साधा उत्तर दिया, "मैं नही जानता कि सूक्ष्म शरीर क्या होता है, मुझे इस भौतिक शरीर के अतिरिक्त अन्य किसी शरीर का ज्ञान नही।" फिर भी, स्वप्न के सत्य की परीक्षा करने के लिए उसने दूसरे पुलिस अफसर को पढाने के लिए जाने से पूर्व हम्फ्रीज की मेज पर कुछ फोटो रख दिये। हम्फ्रीज ने उन्हे देखा और तत्काल ही उनमे से गणपति शास्त्री का फोटो छाट लिया। हम्फ्रीज़ के शिक्षक नरसिंहैय्या वापस आये तब उन्होने कहा "ये रहे तुम्हारे गुरु।"

नरसिंहैय्या ने इसे स्वीकार कर लिया। इसके बाद हम्फ्रीज़ बीमार पड गये और उन्हे स्वास्थ्य-लाभ के लिए ऊटकमण्ड जाना पडा। कई महीने बाद वह वैल्लोर वापस लौटे। जब वे वापस आये तब उन्होने नरसिंहैय्या को फिर आश्चर्य मे डाल दिया। इस बार उन्होंने स्वप्न मे देखी एक पर्वतीय कन्दरा का चित्र खीचा। इसके सामने एक नदी वह रही थी और इसके प्रवेश द्वार पर एक ऋषि खडे हुए थे। यह विरूपाक्ष कन्दरा ही हो सकती थी। नरसिंहैय्या ने अब हम्फ्रीज़ को श्रीभगवान् के सम्बन्ध मे बताया। हम्फ्रीज का गणपति शास्त्री से परिचय कराया गया और उनके हृदय मे शास्त्रीजी के प्रति सम्मान की भावना पैदा हो गयी। इसी मास अर्थात् नवम्बर, १९११ को उन तीनो ने तिरुवन्नामलाई की यात्रा के लिए प्रस्थान कर दिया।

श्रीभगवान् के महामौन के सम्बन्ध मे हम्फ्रीज की प्रथम धारणा पहले ही एक प्रारम्भिक अध्याय मे उद्धृत की गयी है। उसी पत्र मे जहाँ से यह लिया गया है, उन्होंने यह भी लिखा, "सबसे अधिक प्रभावोत्पादक दृश्य वह है जब सात वर्ष की आयु तक के छोटे-छोटे बच्चे स्वय पहाडी पर चढते और महर्षि के निकट आकर बैठते हैं, भले ही वे कई दिनो तक मौन धारण किये रहें और उनकी ओर दृष्टिपात न करें। ये बच्चे वहाँ खेलते नही बल्कि शान्त भाव से बैठे रहते हैं।"

गणपति शास्त्री की तरह हम्फ्रीज़ भी ससार की सहायता करने के इच्छुक थे।

हम्फ्रीज़ स्वामिन्, मैं ससार की किस प्रकार सहायता कर सकता हूँ ?

भगवान् अपनी सहायता करो और इस प्रकार आप ससार की सहायता करेंगे।

हम्फ्रीज़ मैं ससार की सहायता करना चाहता हूँ ? क्या मैं इसमे सहायक न होऊँगा ?

भगवान् हाँ, अपनी सहायता द्वारा आप ससार की सहायता करेंगे। आप ससार मे हैं, आप ससार हैं। आप ससार से भिन्न नही हैं और न ही ससार आप से भिन्न है।

हम्फीज़ (थोडी देर रुक कर) स्वामिन्, क्या मैं श्रीकृष्ण और ईसा मसीह की तरह चमत्कार कर सकता हूँ ?

भगवान् क्या उनमे से किसी ने चमत्कार किये ? जब किसी ने चमत्कार किये तो ऐसा अनुभव करो कि यह वही था जो यह चमत्कार कर रहा था।

हम्फीज़ नही, स्वामिन् !

थोडे अरसे बाद हम्फीज़ ने फिर भगवान के दर्शन किये।

"मैं मोटर साइकिल से गया और कन्दरा तक चढ गया। संत ने जब मुझे देखा तो वे मुस्कराए परन्तु उन्हे तनिक भी आश्चर्य नही हुआ। हम अन्दर गये और बैठने से पूर्व उन्होने मुझ से एक व्यक्तिगत प्रश्न पूछा, जिसके सम्बन्ध मे वे जानते थे। प्रत्यक्षत, ज्योही उन्होने मुझे देखा त्योही वे मुझे पहचान गये थे। जो कोई उनके पास आता है, वह खुली पुस्तक के सदृश होता है और उनकी प्रथम दृष्टि से ही इसकी विषय-वस्तु उनके सम्मुख आ जाती है।

"उन्होने कहा, 'आपने अभी तक भोजन नही किया, आपको भूख लगी होगी।'

"मैंने स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया और उन्होने तत्काल ही अपने एक शिष्य से मेरे लिए भोजन—चावल, घी, फल आदि लाने के लिए कहा। मैंने उँगलियो से यह भोजन खाया क्योकि भारतीय चम्मचो का प्रयोग नही करते। यद्यपि मैंने इस प्रकार खाने का अभ्यास कर लिया था तथापि मैं अच्छी तरह नही खा पा रहा था। इसलिए उन्होने मुझे खाने के लिए नारियल का चम्मच दिया। वे मुस्कराते जाते थे और बीच-बीच में बातें करते जाते थे। उनकी मुस्कराहट से बढकर अधिक सुन्दर वस्तु की आप कल्पना नही कर सकते। उन्होने मुझे गाय के दूध की तरह शुभ्र और स्वादिष्ट नारियल का पानी पीने के लिए दिया, इसमे उन्होने थोडी-सी चीनी डाल दी थी।

"खाना खाने के बाद भी मेरी भूख नही मिटी थी और वे इसे जानते थे। उन्होंने और खाना लाने का आदेश दिया। वे सब कुछ जानते हैं। पूरा भोजन कर चुकने के बाद जब दूसरो ने मुझसे फल खाने का अनुरोध किया तब उन्होने उन्हे तत्काल रोक दिया।

"मुझे अपने पीने के तरीके के लिए क्षमा माँगनी पडी। उन्होने केवल इतना कहा, 'परवाह मत करो।' हिन्दू इसके सम्बन्ध मे बहुत सचेत होते हैं। वे अपने ओठो से बर्तन को कभी मुह नही लगाते बल्कि सीधे ही पेय द्रव को मुँह मे डालते हैं। इसलिए बिना छूत के भय के बहुत से लोग एक ही पात्र मे पी सकते हैं। जब मैं भोजन कर रहा

था तब वे दूसरो को मेरा परिचय ठीक-ठीक बता रहे थे। परन्तु पहले उन्होंने मुझे केवल एक बार देखा था और इस बीच उन्होंने सहस्रो व्यक्तियो को देखा था। उन्होने परोक्ष-ज्ञान का आश्रय लिया, जैसे हम विश्व-कोष की ओर निर्देश करते है। मैं लगभग तीन घण्टे तक उनका उपदेश सुनता रहा।

"बाद मे मुझे प्यास लगी। क्योकि चढाई बडी कठिन थी, परन्तु मैंने मुंह से कुछ नही कहा। फिर भी उन्हे पता चल गया और उन्होंने एक शिष्य से लैमनेड लाने के लिए कहा।

"अन्त मे मैंने उनके सम्मुख नत मस्तक होकर विदाई ली और अपने बूट पहनने के लिए मैं कन्दरा मे बाहर गया। वे भी बाहर आये और उन्होने मुझसे फिर आने के लिए कहा।

"यह बडी विचित्र बात है कि उनकी उपस्थिति मे व्यक्ति मे कितना महान् परिवर्तन हो जाता है।"

इसमे कोई सन्देह नही कि जो भी व्यक्ति श्रीभगवान् के सम्मुख बैठता था, उनके लिए खुली पुस्तक के समान था, फिर भी हम्फ्रीज़ की परोक्षज्ञान सम्बन्धी धारणा गलत थी। यद्यपि लोगो की सहायता और उनका मार्ग दर्शन करने के लिए श्रीभगवान् उन्हे बडी गहराई से देखते थे तथापि वह मानवीय धरातल पर इस प्रकार की शक्तियो का प्रयोग नही करते थे। चेहरो की उनकी स्मृति इतनी चमत्कारिक थी जितनी कि पुस्तको की। उनके दर्शनो के लिए सहस्रो लोग आते थे, परन्तु जो भक्त एक बार उनके दर्शन कर गया वह उसे कभी भी नही भूलते थे। अगर कोई व्यक्ति वर्षो बाद वापस आता, वह फिर भी उसे पहचान लेते। न ही वह किसी भक्त की जीवनगाथा को कभी भूलते थे। नरसिंहैय्या ने उनमे हम्फ्रीज़ के सम्बन्ध मे अवश्य चर्चा की होगी। जब किसी विषय के सम्बन्ध मे सर्वोत्तम रीति से बात न होती वह अत्यन्त विवेक का परिचय देते परन्तु उनमे सामान्यत बाल-सुलभ सरलता थी और वह बालक की तरह किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में उसके सामने ही बात करते, न तो स्वय ही व्यग्रता का परिचय देते और न दूसरे को व्यग्र करते। खाने-पीने के सम्बन्ध मे वह न केवल सावधान रहते थे बल्कि इस बात की पूरी देखभाल करते थे कि अतिथि की तृप्ति हुई है या नही।

हम्फ्रीज़ महोदय मे चमत्कारिक सिद्धियो का आविर्भाव होने लगा, परन्तु श्रीभगवान् ने उन्हे चेतावनी दी कि वह उनमे आसक्त न हो। हम्फ्रीज़ ने अपनी प्रबल इच्छा शक्ति के बल पर इस प्रलोभन पर विजय भी पायी। वस्तुत श्रीभगवान् के प्रभाव के कारण तान्त्रिक शक्तियो मे उसकी दिलचस्पी बिलकुल समाप्त हो गयी।

इसके अतिरिक्त हम्फ्रीज महोदय को, पश्चिम मे प्राय सवत्र और आधुनिक पूव मे अनेक स्थानो पर व्याप्त इस भ्रान्ति से कि केवल वाह्य गतिविधि द्वारा मानव-जाति की सहायता सम्भव है, छुटकारा मिल गया। उन्हें यह आदेश दिया गया था कि अपनी सहायता आप करने से व्यक्ति ससार की सहायता करता है। यह सिद्धान्त जिसे यथेच्छकारिता के मानने वाले गलत रूप मे अर्थशास्त्र मे सत्य समझते हैं, वस्तुत आध्यात्मिक दृष्टि से सत्य है, चूँकि आध्यात्मिक दृष्टि से एक व्यक्ति का धन दूसरे व्यक्ति के धन को कम नही करता वल्कि इसमे वृद्धि करता है। जैसे कि हम्फ्रीज ने अपनी प्रथम भेंट मे श्रीभगवान् को निश्चेष्ट शव के रूप मे देखा था जिसमे से दैवी प्रकाश निस्सृप्त हो रहा है, वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुरूप अदृश्य प्रभावो का प्रसारण केन्द्र है। जहाँ तक कोई व्यक्ति समस्वरता की स्थिति में है और अहभाव से स्वतन्त्र है, वह अनिवाय और अनैच्छिक रूप से समस्वरता का प्रसार कर रहा है, भले ही वह वाह्य रूप से सक्रिय हो या न हो, और जहाँ तक उसकी अपनी प्रकृति विक्षुब्ध है, वह अशान्ति का प्रसार कर रहा है, भले ही वह वाह्य रूप से सेवा कर रहा हो।

यद्यपि हम्फ्रीज महोदय श्रीभगवान् के साथ कभी नही रहे और उन्होने केवल कुछ वार ही उनके दशन किये, तथापि उन्होने उनकी शिक्षाओ को आत्मसात् कर लिया और वे उनकी अनुकम्पा के भाजन वने। उन्होने अपने एक मित्र को अग्रेजी मे एक सक्षिप्त विवरण भेजा था, जो वाद मे **इण्टरनेशनल साइकिक गजट** मे प्रकाशित हुआ। इसमे श्रीभगवान् की शिक्षा का सार निहित है।

> "शिक्षक वही है, जिसने एक मात्र भगवान् का चितन किया है, अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को भगवान् के समुद्र मे फेंक दिया है और डुवो दिया है, और इसे वहीं भुला दिया है, वह मात्र भगवान का साधन वन कर रह गया है और जव उसका मुख खुलता है, उसमे मे विना प्रयास और पूव-विचार के भगवान् की वाणी निकलती है, और जव वह अपना हाथ उठाता है, चमत्कार करने के लिए उसमे मे भगवान् की शक्ति प्रवाहित होती है।
>
> "मानसिक शक्तियों के मम्वन्ध मे वहुत अधिक मत सोचो। उनकी सख्या अनन्त है और जव एक वार अन्वेषक के हृदय मे मानसिक शक्तियो के विषय म आस्था दृढ हो जाती है इस प्रकार की चमत्कारी घटनाएँ अवश्य घटित होती हैं। परोक्षदशन और अतिश्रवण तथा इस प्रकार की अन्य शक्तियो की सिद्धि व्यथ है क्योकि इनके विना भी महान्

था तब वे दूसरो को मेरा परिचय ठीक-ठीक बता रहे थे। परन्तु पहले उन्होने मुझे केवल एक बार देखा था और इस बीच उन्होने सहस्रो व्यक्तियो को देखा था। उन्होने परोक्ष-ज्ञान का आश्रय लिया, जैसे हम विश्व-कोष की ओर निर्देश करते है। मैं लगभग तीन घण्टे तक उनका उपदेश सुनता रहा।

"बाद मे मुझे प्यास लगी। क्योकि चढाई बडी कठिन थी, परन्तु मैंने मुंह से कुछ नही कहा। फिर भी उन्हे पता चल गया और उन्होने एक शिष्य से लैमनेड लाने के लिए कहा।

"अन्त मे मैंने उनके सम्मुख नत मस्तक होकर विदाई ली और अपने बूट पहनने के लिए मैं कन्दरा से बाहर गया। वे भी बाहर आये और उन्होने मुझसे फिर आने के लिए कहा।

"यह बडी विचित्र बात है कि उनकी उपस्थिति मे व्यक्ति मे कितना महान् परिवर्तन हो जाता है।"

इसमे कोई सन्देह नही कि जो भी व्यक्ति श्रीभगवान् के सम्मुख बैठता था, उनके लिए खुली पुस्तक के समान था, फिर भी हम्फ्रीज़ की परोक्षज्ञान सम्बन्धी धारणा गलत थी। यद्यपि लोगो की सहायता और उनका मार्ग दर्शन करने के लिए श्रीभगवान् उन्हे बडी गहराई से देखते थे तथापि वह मानवीय धरातल पर इस प्रकार की शक्तियो का प्रयोग नही करते थे। चेहरो की उनकी स्मृति इतनी चमत्कारिक थी जितनी कि पुस्तको की। उनके दर्शनो के लिए सहस्रो लोग आते थे, परन्तु जो भक्त एक बार उनके दर्शन कर गया वह उसे कभी भी नही भूलते थे। अगर कोई व्यक्ति वर्षो बाद वापस आता, वह फिर भी उसे पहचान लेते। न ही वह किसी भक्त की जीवनगाथा को कभी भूलते थे। नरसिंहैय्या ने उनसे हम्फ्रीज़ के सम्बन्ध मे अवश्य चर्चा की होगी। जब किसी विषय के सम्बन्ध मे सर्वोत्तम रीति से बात न होती वह अत्यन्त विवेक का परिचय देते परन्तु उनमे सामान्यत बाल-सुलभ सरलता थी और वह बालक की तरह किसी व्यक्ति के सम्बन्ध मे उसके सामने ही बात करते, न तो स्वय ही व्यग्रता का परिचय देते और न दूसरे को व्यग्र करते। खाने-पीने के सम्बन्ध मे वह न केवल सावधान रहते थे बल्कि इस बात की पूरी देखभाल करते थे कि अतिथि की तृप्ति हुई है या नही।

हम्फ्रीज़ महोदय में चमत्कारिक सिद्धियो का आविर्भाव होने लगा, परन्तु श्रीभगवान् ने उन्हे चेतावनी दी कि वह उनमे आसक्त न हो। हम्फ्रीज़ ने अपनी प्रबल इच्छा शक्ति के बल पर इस प्रलोभन पर विजय भी पायी। वस्तुत श्रीभगवान् के प्रभाव के कारण तान्त्रिक शक्तियो मे उसकी दिलचस्पी बिलकुल समाप्त हो गयी।

इसके अतिरिक्त हम्फ्रीज महोदय को, पश्चिम मे प्राय सर्वत्र और आधुनिक पूर्व मे अनेक स्थानो पर व्याप्त इस भ्रान्ति से कि केवल वाह्य गतिविधि द्वारा मानव-जाति की सहायता सम्भव है, छुटकारा मिल गया। उन्हें यह आदेश दिया गया था कि अपनी सहायता आप करने से व्यक्ति ससार की सहायता करता है। यह सिद्धान्त जिसे यथेच्छकारिता के मानने वाले गलत रूप मे अर्थशास्त्र मे सत्य समझते हैं, वस्तुत आध्यात्मिक दृष्टि से सत्य है, चूंकि आध्यात्मिक दृष्टि से एक व्यक्ति का धन दूसरे व्यक्ति के धन को कम नही करता वल्कि इसमे वृद्धि करता है। जैसे कि हम्फ्रीज ने अपनी प्रथम भेंट मे श्रीभगवान् को निश्चेष्ट शव के रूप मे देखा था जिसमे से दैवी प्रकाश निस्सृप्त हो रहा है, वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुरूप अदृश्य प्रभावो का प्रसारण केन्द्र है। जहाँ तक कोई व्यक्ति समस्वरता की स्थिति में है और अहभाव से स्वतन्त्र है, वह अनिवार्य और अनैच्छिक रूप से समस्वरता का प्रसार कर रहा है, भले ही वह वाह्य रूप से सक्रिय हो या न हो, और जहाँ तक उसकी अपनी प्रकृति विक्षुब्ध है, वह अशान्ति का प्रसार कर रहा है, भले ही वह वाह्य रूप मे सेवा कर रहा हो।

यद्यपि हम्फ्रीज महोदय श्रीभगवान् के साथ कभी नही रहे और उन्होने केवल कुछ वार ही उनके दर्शन किये, तथापि उन्होंने उनकी शिक्षाओ को आत्मसात कर लिया और वे उनकी अनुकम्पा के भाजन वने। उन्होंने अपने एक मित्र को अग्रेजी मे एक सक्षिप्त विवरण भेजा था, जो वाद मे **इण्टरनेशनल साइकिक गजट** मे प्रकाशित हुआ। इसमे श्रीभगवान् की शिक्षा का सार निहित है।

"शिक्षक वही है, जिसने एक मात्र भगवान् का चिंतन किया है, अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को भगवान् के समुद्र मे फेंक दिया है और डुवो दिया है, और इसे वहीं भुला दिया है, वह मात्र भगवान् का साधन वन कर रह गया है और जव उसका मुख खुलता है, उसमे से विना प्रयास और पूर्व-विचार के भगवान् की वाणी निकलती है, और जव वह अपना हाथ उठाता है, चमत्कार करने के लिए उसमे से भगवान् की शक्ति प्रवाहित होती है।

"मानसिक शक्तियो के सम्वन्ध मे वहुत अधिक मत सोचो। उनकी सख्या अनन्त है और जव एक वार अन्वेषक के हृदय मे मानसिक शक्तियों के विषय मे आस्था दृढ हो जाती है इस प्रकार की चमत्कारी घटनाएँ अवश्य घटित होती हैं। परोक्षदर्शन और अतिश्रवण तथा इस प्रकार की अन्य शक्तियों की सिद्धि व्यर्थ है क्योकि इनके विना भी महान्

प्रकाश और शान्ति की प्राप्ति सम्भव है। शिक्षक इन शक्तियों को आत्म बलिदान का एक रूप समझता है।

"यह विचार कि वह शिक्षक नहीं है जिसने विभिन्न रहस्यमयी शक्तियों को निरन्तर अभ्यास और प्रार्थना द्वारा सिद्ध कर लिया है, बिलकुल गलत है। किसी भी शिक्षक ने रहस्यमयी शक्तियों की तनिक भी चिन्ता नहीं की, क्योंकि अपने दैनिक जीवन में उसे इनकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

"जो चमत्कारिक घटनाएँ हम देखते हैं वे अद्भुत और आश्चर्यमयी होती हैं परन्तु सबसे अधिक आश्चर्यमयी, जिसे कि हम अनुभव नहीं करते एकमात्र वह असीम शक्ति है जो (क) उन सब घटनाओं के लिए उत्तरदायी है जिन्हें हम देखते हैं, और (ख) उन घटनाओं को देखने के कार्य के लिए उत्तरदायी है।

"जीवन, मृत्यु और चमत्कारों की इन सब परिवर्तित होती हुई वस्तुओं पर अपना ध्यान केन्द्रित मत करो। उन्हें देखने या निरीक्षण करने के वास्तविक कार्य के सम्बन्ध में भी मत सोचो, परन्तु केवल उसी का विचार करो जो इन सब वस्तुओं को देखता है, जो इन सब के लिए उत्तरदायी है। पहले यह लगभग असम्भव प्रतीत होगा परन्तु धीरे-धीरे आप इसका परिणाम अनुभव करने लगेंगे। इसके लिए वर्षों तक निरन्तर दैनिक साधना की आवश्यकता है और इस प्रकार ही एक शिक्षक का निर्माण होता है। प्रतिदिन इस अभ्यास के लिए पन्द्रह मिनट दें। अपने मन को द्रष्टा पर स्थिर रखें। यह आपके अन्दर है। उसकी खोज के लिए हम्फ्रीज की अपेक्षा न करें।" श्रीभगवान् ने उन्हें अपनी नौकरी की ओर ध्यान देने और साथ ही चिन्ता करने का परामर्श दिया। कुछ वर्ष तक उन्होंने ऐसा किया, फिर वह सेवा-निवृत्त हो गये। हम्फ्रीज महोदय पहले ही कैथोलिक थे और सभी धर्मों की एकता में विश्वास रखते थे, इसलिए उन्होंने धर्म-परिवर्तन की कोई आवश्यकता न समझी, बल्कि इंगलैण्ड वापस लौट गये। यहाँ आकर उन्होंने एक मठ में प्रवेश ले लिया।

थियोसाफिस्ट

श्रीभगवान् की सहिष्णुता और दयालुता से सभी प्रभावित होते थे। वह केवल सभी धर्मों के सत्य को स्वीकार नहीं करते थे, क्योंकि प्रत्येक आध्यात्मिक पुरुष से ऐसी अपेक्षा की जाती है, परन्तु अगर कोई स्कूल या समूह या आश्रम आध्यात्मिकता के प्रसार करने का प्रयत्न कर रहा होता तो वह उसके शुभ कार्य की प्रशंसा करते, भले ही उसके तरीके उनके

तरीको मे भिन्न न हो या उनकी शिक्षाए पुरातन विचार-धारा के अनुरूप न हो।

तिरुवन्नामलाई के सरकारी अधिकारी श्री राघवाचारियर कभी-कभी श्रीभगवान के दर्शन करने जाया करते थे। वह थियोसाफिकल सोसाइटी के सम्बन्ध मे श्रीभगवान् की सम्मति जानना चाहते थे। परन्तु जब कभी वह वहाँ आते उन्हे वहाँ भक्तो की भीड दिखायी देती। उन्हे सबके सामने श्रीभगवान् से प्रश्न करने में सकोच होता। एक दिन वह तीन प्रश्न पूछने का दृढ़ निश्चय कर उनके सामने गये। उन्होने घटना का इस प्रकार वर्णन किया है

"प्रश्न इस प्रकार थे

"१ क्या आप मुझे व्यक्तिगत वार्तालाप के लिए एकान्त मे कुछ मिनट दे सकते हैं ?

"२ मैं थियोसाफिकल सोसाइटी का सदस्य हूँ। इस सोसाइटी के सम्बन्ध मे मैं आपकी सम्मति जानना चाहता हूँ।

"३ अगर आप मुझे अपने वास्तविक स्वरूप दर्शन का पात्र समझे तो क्या उसे प्रकट करने का अनुग्रह करेंगे ?

"जब मैं महर्षि के पास गया, मैंने उन्हे दण्डवत् प्रणाम किया और उनके सम्मुख बैठ गया। उस समय ३० व्यक्तियो से कम नही थे, परन्तु शीघ्र ही सब लोग चले गये। इस प्रकार केवल मैं ही वहाँ अकेला रह गया और मेरे बिना बताये मेरे प्रथम प्रश्न का उत्तर मिल गया। इससे मैं आश्चर्य मे पड गया।

"तब उन्होंने मुझसे स्वय पूछा कि क्या मेरे हाथ मे गीता है और क्या मैं थियोसाफिकल सोसाइटी का सदस्य हूँ और मेरे प्रश्नो का उत्तर देने से पहले उन्होने कहा, 'यह सोसाइटी अच्छा कार्य कर रही है।' मैंने उनके प्रश्नो का उत्तर हाँ मे दिया।

"मेरे दूसरे प्रश्न का पूर्वाभास होने के बाद, मैंने बडी उत्सुकता से तीसरे प्रश्न की प्रतीक्षा की। आधा घण्टे बाद मैंने अपना मुँह खोला और कहा, 'जिस प्रकार अर्जुन श्रीकृष्ण का रूप देखना चाहता था और उसने उनके दर्शन के लिए प्रार्थना की थी, मैं आपके वास्तविक रूप का दर्शन करना चाहता हूँ, क्या मैं इसका पात्र हूँ ?' वह उस समय चबूतरे पर बैठे हुए थे। उनके सामने की दीवार पर दक्षिणामूर्ति का चित्र अकित था। हमेशा की तरह, वह मौन भाव मे देख रहे थे और मैं उनकी आँखो की ओर देख रहा था। उनका शरीर और दक्षिणामूर्ति का चित्र मेरी आँखो से ओझल हो गये। वहाँ केवल खाली स्थान था, मेरी आँखो के सम्मुख दीवार भी नही थी। फिर मेरी आँखो क

आग धवल जलद के रूप में महर्षि और दक्षिणामूर्ति का आकार प्रकट हुआ। धीरे-धीरे इन आकृतियों की रूपरेखा प्रकट हुई। फिर विद्युत् की सी रेखाओं में आंखें, नाक तथा अन्य अंगों का निर्माण हुआ। धीरे-धीरे इनका विस्तार होता गया और संत तथा दक्षिणामूर्ति की समस्त आकृति प्रचण्ड और असह्य प्रकाश से चमकने लगी। परिणामतः मैंने अपनी आँखें बन्द कर ली। मैंने कुछ क्षण प्रतीक्षा की और फिर उन्हे तथा दक्षिणामूर्ति को अपने स्वाभाविक रूप में देखा। मैंने उन्हे दण्डवत् प्रणाम किया और वापस आ गया। इस अनुभव का मुझ पर इतना प्रबल प्रभाव पड़ा कि इसके बाद एक महीने तक मेरा श्रीभगवान् के निकट जाने का साहस नहीं हुआ। एक महीने बाद मैं गया और मैंने उन्हे स्कन्दाश्रम के सम्मुख खड़े हुए देखा। मैंने उनसे कहा, 'मैंने एक महीना पहले आपके सम्मुख एक प्रश्न रखा था और मुझे उपर्युक्त अनुभव हुआ।' मैंने उनसे इस अनुभव की चर्चा की। मैंने उनसे इसकी व्याख्या करने के लिए कहा। तब कुछ देर रुकने के बाद उन्होंने कहा, 'आप मेरे रूप के दर्शन करना चाहते थे, आपने मेरा लुप्त होना देखा, मैं निराकार हूँ। इसलिए वह अनुभव वास्तविक सत्य है। आगामी दर्शन भगवत् गीता के अध्ययन के आधार पर निर्मित आपके अपने विचारों के अनुरूप है। परन्तु गणपति शास्त्री को भी ऐसा ही अनुभव हुआ था, आप उनसे परामर्श कर सकते हैं।' मैंने वस्तुतः शास्त्रीजी से परामर्श नहीं किया। इसके बाद महर्षि ने कहा, 'इस बात का पता लगा कि यह द्रष्टा या विचारक "मैं" कौन है और उसका निवास कहाँ है'।"

एक अज्ञात भक्त

विरूपाक्ष में एक दर्शनार्थी आये थे। यद्यपि वह केवल पांच दिन वहाँ रहे तथापि श्रीभगवान् की अपार अनुकम्पा का प्रसाद उन्हे प्राप्त हुआ। श्रीभगवान् की जीवनी 'सैल्फ रियलाईजेशन' (वर्तमान पुस्तक का अधिकाश भाग उसी पर आधारित है) के लिए सामग्री एकत्रित करने वाले नरसिंह स्वामी ने उस दर्शनार्थी भक्त का नाम और पता जानने का निश्चय किया। अपूर्व उल्लास और शान्ति उसके चेहरे पर झलकती थी और श्रीभगवान् की करुण दृष्टि का प्रसाद उसे प्राप्त हुआ। प्रतिदिन वह दर्शनार्थी श्रीभगवान् की प्रशस्ति में एक तमिल गीत की रचना करता था। इन गीतों में अपूर्व उल्लास, स्फूर्ति और भक्ति-भावना भरी थी। भगवान् की प्रशस्ति में रचित गीतों में से कुछ गीत ऐसे भी हैं जो आज तक गाये जाते हैं। बाद में नरसिंह स्वामी दर्शनार्थी के सम्बन्ध में और अधिक विवरण ज्ञात करने के लिए, उसके बताये सत्यमंगलम नगर में गये, परन्तु वहाँ इस प्रकार का कोई व्यक्ति नहीं मिला। सत्यमंगलम का अर्थ है 'आनन्द धाम' और ऐसा कहा जाता है कि दर्शनार्थी शायद किसी

गुप्त 'आनन्द धाम' का दूत हो और युग के सद्गुरु के प्रति अपनी श्रद्धा के पुष्प समर्पित करने आया हो।

उपर्युक्त दर्शनार्थी के एक गीत मे श्रीभगवान् को 'रमण सद्गुरु' कहा गया है। जब एक बार इस गीत का गान हो रहा था, श्रीभगवान् स्वय इसमे सम्मिलित हुए। इस गीत के गायक भक्त को हँसी आ गयी और उसने कहा, "मैंने पहली बार किसी को अपनी प्रशस्ति गाते हुए सुना है।"

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया, "आप रमण को छ फुट तक ही क्यो सीमित रखते हैं? रमण तो विश्वव्यापी है।"

पाँच गीतो मे से एक गीत मे उषा और जागरण का इतना अलौकिक और सुन्दर वर्णन है कि यह विश्वास करना सहज है कि इस गीत के गीतकार के जीवन मे वस्तुत उषा का उदय हुआ है

पहाडी पर अरुणोदय हो रहा है,
मधुर रमण, आओ!

भगवान् अरुणाचल, आओ!

झाडी म कोयल गीत गाती है,
प्रिय स्वामिन, रमण आओ!
ज्ञान के आगार, आओ!

शख बज रहा है, तारों का प्रकाश मद्धिम पड गया है,
मधुर रमण, आओ!
देवाधिदेव, आओ!

मुर्गे बाँग देते हैं, पक्षी चहचहा रहे हैं,
समय हो गया है, आओ
रात्रि विदा ले चुकी है, आओ!

सूर्यनाद हो रहा है, ढोल बज रहे हैं,
देदीप्यमान रमण, आओ!
ज्ञान के भण्डार, आओ!

कौए काँ-काँ करते हैं, सवेरा हो गया है
सर्प-माल स्वामिन्, आओ!
नील-कण्ठ स्वामिन्, आओ!

अज्ञान दूर हो गया है, हृदय-कमल खिल रहे है,
प्रज्ञावान् रमण, आओ!
वेदो के किरीट, आओ!

मुक्ति के दाता, निर्लेप रमण आओ,
करुणा-पुंज रमण, आओ !
शान्ति पुंज, आओ !

ऋषि तथा प्रजापति,
सच्चिदानन्द
हर्षोल्लास के आगार, आओ !

ज्ञान और प्रेम-पुंज,
शोक हर्षातीत देव, आओ !
आनन्दमय मौन, आओ !

ग्यारहवाँ अध्याय

पशु

हिन्दुओ का ऐसा विश्वास है (जैसा कि शकराचार्य ने भगवद्गीता सम्बन्धी अपनी टीका के पाँचवें अध्याय मे पृष्ठ ४०-४४ पर विस्तार से व्याख्या की है) कि मृत्यु के बाद जिस जीव ने आत्मा के साथ एकरूपता अनुभव करते हुए पृथक व्यक्तित्व की भ्रान्ति से छुटकारा नहीं पाया, उसे सासारिक जीवन मे सचित अपने शुभ या अशुभ कर्मों के अनुसार स्वर्ग या नरक की प्राप्ति होती है और इस कर्मफल-अवधि के पूरा होने के बाद, वह अपने कर्मों के अनुरूप, प्रारब्ध का फल भोगने के लिए पृथ्वी पर उच्च या नीच कुल मे जन्म लेता है। पुन पृथ्वी पर जन्म लेने के बाद वह फिर नये कर्मों का सग्रह करता है और यह उसके सचित कर्मों का अश बन जाता है।

प्राय ऐसा विश्वास किया जाता है कि मानव प्रगति सम्भव है और कर्मों को केवल मानव जीवन मे ही नि शेष किया जा सकता है। श्रीभगवान् ने सकेत किया है कि पशुओ के लिए भी अपने कर्मों को नि शेष करना सम्भव है। इसी अध्याय मे उद्धृत एक वार्तालाप मे उन्होंने कहा, "हम नही जानते कि इन शरीरो मे कौन-सी आत्माएँ निवास कर रही हैं और अपने असमाप्त कर्म का कौन-सा भाग पूरा करने के लिए उन्होंने इनका आश्रय लिया है।" शकराचार्य का भी मत था कि पशु मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त एक पुराण मे भी कथा आती है कि ऋषि जादभरत को मरते समय अपने पालतू हरिण का खयाल आ गया और इस अन्तिम अवशिष्ट आसक्ति से मुक्ति पाने के लिए उन्हे पुन हरिण का जन्म धारण करना पड़ा।

श्रीभगवान अपने सान्निध्य मे आने वाले पशुओ के साथ भी मनुष्यो जैसा व्यवहार करते थे और पशु भी मनुष्यो की अपेक्षा उनके प्रति कम आकर्षित नहीं थे। गुरूमूतम मे पक्षी और गिलहरियाँ उनके इर्द-गिर्द अपने घोसले बनाया करते थे। उन दिनो भक्तो का ऐसा विचार था कि वह ससार के प्रति अनासक्ति के कारण इसकी ओर से बिलकुल पराड्मुख थे, परन्तु तथ्य तो यह है कि उनकी दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म थी और वह एक गिलहरी परिवार की चर्चा किया करते थे, जिसने कुछ पक्षियो द्वारा परित्यक्त घोसले पर अधिकार कर लिया था।

वह सामान्य तमिल शैली मे पशुओ को नपुसक लिग मे सम्बोधित न कर, पुल्लिग या स्त्रीलिग मे सम्बोधित किया करते थे । "क्या बच्चो को खाना दे दिया गया है"—जब वह यह कहते तो उनका अभिप्राय आश्रम के कुत्तो से होता । "लक्ष्मी को तुरन्त उसके चावल दे दें"—और यहाँ उनका अभिप्राय गौ लक्ष्मी से था । आश्रम का यह नियम था कि भोजन के समय सबसे पहले कुत्तो को खाना खिलाया जाता, फिर उसके बाद अगर कोई भिखारी आश्रम मे आते तो उन्हे खाना दिया जाता और अन्त मे भक्तो को । मैं यह जानता था कि श्रीभगवान् वह वस्तु स्वीकार नही करते जो सब मे समान रूप से वितरित न की जाय । एक दिन उन्ह मध्याह्न के समय आम खाते हुए देखकर मुझे आश्चर्य हुआ । मुझे इसका कारण भी पता चल गया । आम की ऋतु निकट आ रही थी । वह यह जानना चाहते थे कि यह उस सफेद मोर के लिए, जिसे बडौदा की महारानी ने उन्हे उपहार मे दिया था और जो उनके सरक्षण मे था, पूरी तरह से पका है या नही । आश्रम मे और मोर भी थे । वह उनकी ध्वनि का अनुकरण कर उन्ह अपने पास बुलाते और उन्हे मटर के दाने, चावल तथा आम खाने के लिए देते । मृत्यु से एक दिन पूर्व, जब डॉक्टरो ने यह घोषणा कर दी कि उनकी पीडा भयकर रूप धारण कर लेगी उन्होने एक मोर को निकट के वृक्ष पर शोर मचाते हुए सुना और यह पूछा कि क्या मोरो को उनका भोजन दे दिया गया है ।

गिलहरियाँ खिडकी से कूद कर उनके बिस्तर पर आ जाती और वह उनके लिए मटर के दानो से भरा हुआ एक डिब्बा हमेशा अपने पास रखते थे । कभी-कभी वे गिलहरी के आगे डिब्बा रख देते और वह स्वय इसमे मे दाने निकाल-निकाल कर खाती रहती और कभी-कभी वह अपने हाथ मे मटर का दाना ले लेते और गिलहरी उनके हाथ से ले-लेकर खाती । एक दिन जब वह वृद्धावस्था और गठिए के कारण डण्डे का सहारा लेकर, पहाडी से आश्रम की ओर जा रहे थे, उन्होने एक कुत्ते को एक गिलहरी का पीछा करते हुए देखा । उन्होने कुत्ते को नाम लेकर पुकारा और अपना डण्डा कुत्ते और गिलहरी के बीच मे फेक दिया । इस प्रकार वह फिसल पडे और उनकी गर्दन की हड्डी टूट गयी । परन्तु कुत्ता परे हट गया और गिलहरी की जान बच गयी ।

पशु भी श्रीभगवान् की अनुकम्पा को अनुभव करते थे । अगर लोग किसी जगली पशु की देखभाल करते हैं, तो जब यह वापस अपने साथियो के पास लौटता है तो वह उसका बहिष्कार कर देते ह । परन्तु अगर वह श्रीभगवान् के पास से आता था तो वह उसका बहिष्कार नही करते थे, बल्कि उसका सम्मान करते थे । वह यह जानते थे कि श्रीभगवान् मे भय और क्रोध का

नितान्त अभाव है। एक बार वह पहाड़ी पर बैठे हुए थे कि एक साँप उनकी टाँगो पर से रेंगता हुआ गुज़र गया। वे न ही हिले-डुले और न उन्होने किसी प्रकार का भय प्रदर्शित किया। एक बार एक भक्त ने उनसे पूछा कि जब साँप उनकी टाँगो पर रेंगता हुआ साँप गया तो उन्हे कैसा अनुभव हुआ। उन्होने हँसते हुए उत्तर दिया, "ठण्डा और कोमल।"

जहाँ श्रीभगवान् रहते वहाँ वह साँपो को नही मारने देते थे। "हम उनके घर मे आये हैं और हमे कोई अधिकार नही कि हम उन्हे सताये या विक्षुब्ध करें। वह हमे तग नही करते।" और वह तग भी नही करते थे। एक बार जब एक काला साँप उनकी माँ के निकट आया तो वह डर गयी। श्रीभगवान् उस साँप की ओर गये, उसने अपनी दिशा बदल ली और दूर चला गया। यह दो शिलाओ के बीच मे से गुज़रा और उन्होने उसका पीछा किया, एक पत्थर की दीवार के पास जाकर रास्ता खत्म हो गया, और आगे जाने का रास्ता न देख वह वापस मुडा, कुण्डली मार कर बैठ गया और श्रीभगवान् की ओर देखने लगा। श्रीभगवान् ने भी उसकी ओर देखा। कुछ क्षण तक यह सब जारी रहा और फिर काले साँप ने कुण्डली छोड दी और निर्भय होकर, शान्त भाव से रेंगता हुआ, उनके पैर के पास से निकल गया।

एक बार जब श्रीभगवान् कुछ भक्तो के साथ स्कन्दाश्रम मे बैठे हुए थे, एक नेवला दौडता हुआ आया और थोडी देर उनकी गोद मे बैठा रहा। उन्होने कहा, "कौन जानता है, यह क्यो आया? यह कोई साधारण नेवला नही है।" एक अन्य असाधारण नेवले का वर्णन प्रो० वेंकटरमैया ने अपनी डायरी मे दिया है। श्री ग्राण्ट डफ के एक प्रश्न के उत्तर मे श्रीभगवान ने कहा था

> "रुद्र दर्शन के समारोह की बात है। उस समय मैं पहाडी पर स्थित स्कन्दाश्रम मे रह रहा था। नगर से भक्तो का ताँता पहाडी की ओर बँधा हुआ था। एक नेवला जो असाधारण रूप से बडा था, जिसका सामान्य धूसर रग न होकर सुनहरा रग था और जिसकी पूँछ पर सामान्य काला धब्बा भी नही था, भीड मे से निर्भय होकर जा रहा था। लोगो ने सोचा कि यह पालतू नेवला है और इसका मालिक कही भीड मे होगा। यह नेवला सीधा पलानी-स्वामी के पास चला गया जो विरूपाक्ष कन्दरा के निकट चश्मे मे स्नान कर रहे थे। उन्होने इसे प्यार से थपथपाया। यह उनके पीछे-पीछे कन्दरा मे चला गया। इसने कन्दरा के हर कोने का निरीक्षण किया और फिर स्कन्दाश्रम जाने वाली भीड में सम्मिलित हो गया। प्रत्येक व्यक्ति इसके आकर्षक रूप और निर्भय चाल से प्रभावित हुआ। यह मेरे निकट आया, मेरी गोद मे चढ़ गया और वहाँ कुछ देर बैठा रहा। तब यह उठा, इसने चारो ओर एक नज़र

वह सामान्य तमिल शैली मे पशुओ को नपुसक लिग मे सम्बोधित न कर, पुल्लिग या स्त्रीलिग मे सम्बोधित किया करते थे। "क्या बच्चो को खाना दे दिया गया है"—जब वह यह कहते तो उनका अभिप्राय आश्रम के कुत्तो से होता। "लक्ष्मी को तुरन्त उसके चावल दे दे"—और यहाँ उनका अभिप्राय गौ लक्ष्मी से था। आश्रम का यह नियम था कि भोजन के समय सबसे पहले कुत्तो को खाना खिलाया जाता, फिर उसके बाद अगर कोई भिखारी आश्रम मे आते तो उन्हे खाना दिया जाता और अन्त मे भक्तो को। मैं यह जानता था कि श्रीभगवान् वह वस्तु स्वीकार नही करते जो सब मे समान रूप से वितरित न की जाय। एक दिन उन्हे मध्याह्न के समय आम खाते हुए देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। मुझे इसका कारण भी पता चल गया। आम की ऋतु निकट आ रही थी। वह यह जानना चाहते थे कि यह उस सफेद मोर के लिए, जिसे बडौदा की महारानी ने उन्हे उपहार मे दिया था और जो उनके सरक्षण मे था, पूरी तरह से पका है या नही। आश्रम मे और मोर भी थे। वह उनकी ध्वनि का अनुकरण कर उन्हे अपने पास बुलाते और उन्हे मटर के दाने, चावल तथा आम खाने के लिए देते। मृत्यु से एक दिन पूर्व, जब डॉक्टरो ने यह घोषणा कर दी कि उनकी पीडा भयकर रूप धारण कर लेगी उन्होंने एक मोर को निकट के वृक्ष पर शोर मचाते हुए सुना और यह पूछा कि क्या मोरो को उनका भोजन दे दिया गया है।

गिलहरियाँ खिडकी से कूद कर उनके बिस्तर पर आ जाती और वह उनके लिए मटर के दानो से भरा हुआ एक डिब्बा हमेशा अपने पास रखते थे। कभी-कभी वे गिलहरी के आगे डिब्बा रख देते और वह स्वय इसमे से दाने निकाल-निकाल कर खाती रहती और कभी-कभी वह अपने हाथ मे मटर का दाना ले लेते और गिलहरी उनके हाथ से ले-लेकर खाती। एक दिन जब वह वृद्धावस्था और गठिए के कारण डण्डे का सहारा लेकर, पहाडी से आश्रम की ओर जा रहे थे, उन्होने एक कुत्ते को एक गिलहरी का पीछा करते हुए देखा। उन्होंने कुत्ते को नाम लेकर पुकारा और अपना डण्डा कुत्ते और गिलहरी के बीच मे फेक दिया। इस प्रकार वह फिसल पडे और उनकी गर्दन की हड्डी टूट गयी। परन्तु कुत्ता परे हट गया और गिलहरी की जान बच गयी।

पशु भी श्रीभगवान् की अनुकम्पा को अनुभव करते थे। अगर लोग किसी जगली पशु की देखभाल करते हैं, तो जब यह वापस अपने साथियो के पास लौटता है तो वह उसका बहिष्कार कर देते हैं। परन्तु अगर वह श्रीभगवान् के पास से आता था तो वह उसका बहिष्कार नही करते थे, बल्कि उसका सम्मान करते थे। वह यह जानते थे कि श्रीभगवान् मे भय और क्रोध का

दौडाई और नीचे चला गया। यह सवत्र घूमता रहा और मैं इसका अनुसरण करता रहा ताकि लापरवाह दर्शक या मोर इसे कोई नुकसान न पहुँचाएँ। दो मोरो ने इसकी ओर बडे कुतूहल से देखा, परन्तु यह शान्त भाव से एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरता रहा और अन्त मे आश्रम के दक्षिण-पूव मे चट्टानो मे छिप गया।"

एक दिन श्रीभगवान् सूर्योदय से पूव दो भक्तो के साथ आश्रम-पाकशाला के लिए सब्जी काट रहे थे। इनमे से एक भक्त लक्ष्मण शर्मा अपने साथ अपना कुत्ता लाये थे। यह कुत्ता अत्यन्त सुन्दर और श्वेत रग का था और हर्षोन्मत्त हो उछल-कूद मचा रहा था। इसने भोजन लेने से इन्कार कर दिया। श्रीभगवान् ने कहा, "देखो, यह कुत्ता कितना आनन्दमग्न है। यह कोई ऊँची आत्मा है जिसने कुत्ते का रूप धारण किया है।"

प्रो० वेंकटरमैया ने अपनी डायरी मे आश्रम के कुत्तो की अद्भुत भक्ति का वर्णन किया है

"सन् १९२४ मे आश्रम मे चार कुत्ते थे। श्रीभगवान् कहते थे कि जब तक वह स्वय भोजन नही कर लेते थे कुत्ते भी भोजन नही करते थे। पण्डित ने परीक्षा लेने के लिए कुत्तो के सामने भोजन रखा, परन्तु उन्होंने इसका स्पश तक नही किया। कुछ देर बाद श्रीभगवान् ने एक ग्रास खाया और तत्काल ही कुत्ते भोजन पर टूट पडे और इसे चट कर गये।"

आश्रम के अधिकाश कुत्तो को कमला कुतिया ने जन्म दिया था। जब वह स्कन्दाश्रम मे आई थी वह बहुत छोटी थी। भक्तो ने इस कुतिया को दूर भगाने का यत्न किया क्योंकि उन्हे यह भय था कि प्रतिवर्ष पिल्लो को जन्म देने के कारण आश्रम उनसे भर जायगा। परन्तु वह वहाँ से गई नही। इस प्रकार कुत्तो का एक बडा परिवार बन गया। इन सब के साथ अत्यन्त स्नेहमय बर्ताव किया जाता था। जब कमला ने पहले पहल पिल्लो को जन्म दिया, उसे नहलाया गया, हल्दी मली गयी, उसके माथे पर सिन्दूर लगाया गया और आश्रम मे उसे स्वच्छ स्थान दिया गया, जहाँ वह अपने पिल्लो के साथ दस दिन तक रही। दसवें दिन नियमित सहभोज के साथ उसका शुद्धि-सस्कार किया गया। वह बडी समझदार और उपयोगी कुतिया थी। श्रीभगवान् प्राय उसे नवागतुको को पहाडी के चारो ओर घुमाने का कार्य सौंपते और कहा करते, "कमला, इस आगतुक को घुमा लाओ" और वह उसे पहाडी के चारो ओर प्रत्येक प्रतिमा, तालाब और मन्दिर के पास ले जाती।

आश्रम मे एक अत्यन्त अद्भुत कुत्ता, हालाँकि यह कमला की सन्तान नही था, चिन्ना करुप्पन (लिटल ब्लैकी) था। श्रीभगवान् ने स्वय उसके

सम्बन्ध मे लिखा है, "चिन्ना करुप्पन का रंग बिलकुल काला था, इसलिए उसे इस नाम से पुकारते थे। यह एक आदर्श कुत्ता था। जब हम विरूपाक्ष कन्दरा मे थे, कुछ दूरी पर कोई काली काली चीज जाती हुई नज़र आती थी। कई बार हमे झाडियो के ऊपर उसका सिर दिखायी देता था। उसे प्रबल वैराग्य था। वह किसी के साथ मेल-जोल नही करता था और तथ्य तो यह है कि वह उससे कतराता था। हम उसकी स्वतन्त्रता और वैराग्य का सम्मान करते थे। उसके स्थान के निकट भोज्य पदार्थ रख कर दूर चले जाते। एक दिन जब हम ऊपर जा रहे थे, करुप्पन एकाएक कूद कर मेरे पास धमाचौकडी मचाने लगा और खुशी मे पूँछ हिलाने लगा। मुझे इस बात का आश्चर्य हो रहा था कि कैसे उसने समूह मे से मुझे पहचान लिया और मेरे प्रति प्रेम प्रदर्शित करने लगा। इसके बाद वह हमारे साथ आश्रम मे रहा। करुप्पन अत्यन्त समझदार, सेवापरायण और उदार था। उसने अपनी पूर्व उदासीनता का सर्वथा परित्याग कर दिया और हमारा प्रेम-भाजन बन गया। यह सर्वभूत मैत्री का एक अनुपम उदाहरण था। वह प्रत्येक आगतुक और आवासी के साथ मित्रता करता, उसकी गोद मे चढ़ जाता और उसके साथ लाड करता। उसका सामान्यत अच्छा स्वागत होता। कुछ व्यक्तियो ने उसे दूर रखने का प्रयत्न किया परन्तु वह कहाँ हार मानने वाला था। पर अगर उसे दूर रहने का आदेश दिया जाता तो वह सन्यासी की तरह आदेश का पालन करता। एक बार वह एक कट्टर ब्राह्मण के पास पहुँच गया जो हमारी कन्दरा के पास बेल वृक्ष के नीचे मन्त्र जाप कर रहा था। ब्राह्मण कुत्तो को अपवित्र समझता था और उन्हे अपने निकट नही फटकने देता था। परन्तु करुप्पन तो समता का प्राकृतिक नियम समझता था और इसका पालन करता था, इसलिए वह ब्राह्मण के निकट जाने मे नही चूका। ब्राह्मण के भावो के प्रति आदर-भावना के कारण आश्रम के एक आवासी ने डण्डा उठा लिया और करुप्पन को मारना शुरू कर दिया। करुप्पन क्रदन करने लगा और दूर चला गया। फिर कभी वह आश्रम मे वापस नही आया और न उसे वहाँ देखा गया। वह इतना सवेदनशील था कि उस स्थान पर, जहाँ उसके साथ दुर्व्यवहार किया गया हो फिर कभी नहीं जाता था।

"जिस व्यक्ति ने यह गलती की उसने कुत्ते के सिद्धान्तो और सवेदनशीलता को कम करके आँका। परन्तु पहले ही चेतावनी मिल गयी थी। घटना इस प्रकार है। एक बार पलानीस्वामी ने चिन्ना करुप्पन को झिडका और उसके साथ बडा अभद्र व्यवहार किया। उस रात पानी बरस रहा था और जोर की ठण्ड पड रही थी। चिन्ना करुप्पन ने भवन छोड दिया और सारी रात कोपलों की एक बोरी पर बिता दी। सवेरा होने पर ही उसे वापस आश्रम

मे लाया गया। एक अन्य कुत्ते के व्यवहार से भी इस सम्बन्ध मे चेतावनी मिली थी। कुछ वर्ष पूर्व पलानीस्वामी ने विरूपाक्ष कन्दरा मे हमारे साथ रहने वाले एक छोटे कुत्ते को झिडक दिया था। वह कुत्ता दौड कर सीधे सखतीर्थम् सरोवर की ओर चला गया और शीघ्र ही तालाब मे उसका मृत शरीर तैरता दिखायी दिया। पलानीस्वामी तथा आश्रम के अन्य सब आवासियो से कहा गया कि आश्रम के कुत्ते तथा अन्य पशु समझदार है और उनके अपने सिद्धान्त हैं, उनके साथ रुक्षतापूर्वक व्यवहार नही किया जाना चाहिए। हम नही जानते कि इन शरीरो मे कौन-सी आत्माएँ निवास कर रही हैं और अपने अपूर्ण कर्म का कौन-सा अश पूरा करने के लिए उन्हे हमारी सगति की अपेक्षा है।"

आश्रम मे अन्य कुत्ते भी थे जिन्होंने समझदारी और उच्च सिद्धान्तो का परिचय दिया। स्कन्दाश्रम मे जब किसी कुत्ते की मृत्यु होती, तो श्रीभगवान् उसके निकट विद्यमान रहते, उसके मृत शरीर को समारोह के साथ दफनाया जाता और उस पर प्रस्तर का स्मारक खडा किया जाता। बाद के वर्षों मे जब आश्रम के भवन बन कर तैयार हो गये और विशेषरूप से श्रीभगवान् की शारीरिक शक्ति का ह्रास होने लगा तो मानव-भक्त अपनी मनमानी करने लगे और आश्रम मे पशु-भक्तो का प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया।

अन्तिम कुछ वर्षो तक बन्दर श्रीभगवान् की शय्या के पास खिडकी मे आते रहे और सलाखो के बीच से झाँकते रहे। कई बार बन्दरियाँ अपने बच्चो को छाती से चिपकाये हुए श्रीभगवान् के निकट आती थी मानो वे उन्हे अन्य मानवीय माताओ की तरह अपने बच्चे दिखाना चाहती हो। एक प्रकार के समझौते के रूप मे, सेवको को बन्दरो को दूर भगाने की आज्ञा तो दे दी गयी, परन्तु उनसे यह कहा गया कि वे उन्हें हटाने से पहले उनके सामने केला फेंके।

जब तक श्रीभगवान् अत्यन्त दुर्बल नही हो गये, वह प्रतिदिन प्रात काल सात बजे के बाद और सायकाल पाँच बजे के लगभग पहाडी पर सैर करने जाते थे। एक सायकाल वह घूमने न जाकर स्कन्दाश्रम चले गये। जब वह निर्धारित समय पर वापस नही आये, कुछ भक्त उनके पीछे पहाडी की ओर गये, दूसरे झुड बना कर खडे हो गये और आपस मे एक दूसरे से कहने लगे, आखिर श्रीभगवान् कहाँ चले गये, इसका अभिप्राय क्या है, और अब क्या करना चाहिए। कई भक्त सभा-कक्ष मे उनकी प्रतीक्षा करने लगे। बन्दरो का एक जोडा सभा-कक्ष के द्वार पर आया और निर्भय होकर अन्दर चला गया और श्रीभगवान् की खाली शय्या को चिन्तित होकर देखने लगा।

श्रीभगवान् के इस ससार से प्रयाण करने से कुछ वर्ष पूर्व, बन्दरो का आश्रम मे प्रवेश निषिद्ध हो गया था। सभा-कक्ष के बाहर ताड के पत्तो की

छतो को वढा दिया गया था। इमसे वन्दरो का आश्रम मे प्रवेश कठिन हो गया था। वहुत से वन्दरो को पकड कर जगल मे छोड दिया गया था या उन्हे नगरपालिका द्वारा पकड कर, उन पर प्रयोग करने के लिए अमेरिका भेज दिया गया था।

सन् १९०० से लेकर, जव श्रीभगवान् सर्वप्रथम पहाडी पर रहने के लिए गये, सन् १९२२ तक, जव वह उसकी तलहटी मे स्थित आश्रम मे रहने के लिए आये, वह वन्दरो से वहुत घुल मिल गये थे। वह वन्दरो को, ज्ञानी की सी स्नेह और सहानुभूतिपूर्ण तथा अपनी स्वभावत तीक्ष्ण दृष्टि से देखा करते थे। उन्होंने उनके क्रन्दन का अर्थ समझ लिया था और वह उनकी व्यवहार संहिता तथा सत्कार की पद्धति से परिचित हो गये थे। उन्होंने यह पता लगाया था कि वन्दरो की प्रत्येक टोली का अपना राजा और स्वीकृत क्षेत्र होता है। अगर कोई दूसरी टोली इस क्षेत्र का अतिक्रमण करती है तो दोनो टोलियो मे युद्ध छिड जाता है। परन्तु युद्ध या शान्ति चर्चा करने से पूर्व एक टोली अपना राजदूत दूसरी टोली के पास भेजती है। वह आगतुको मे कहा करते थे कि वन्दर उन्हे अपनी जाति का समझते हैं और अपने झगडो मे मध्यस्थ वनाते हैं।

"साधारणत वन्दर पालतू वन्दर का वहिष्कार कर देते हैं परन्तु इस सम्वन्ध मे मैं अपवाद था। जव कभी वन्दरो मे कोई गलतफहमी पैदा हो जाती है या लडाई-झगडा उठ खडा होता है, वह मेरे पास आते हैं और मैं उन्हे पृथक् करके उन्हे शान्त कर देता हूँ। इस प्रकार उनका झगडा वन्द करा देता हूँ। एक वार एक छोटे वन्दर को उसकी टोली के एक वडे वन्दर ने काट लिया और उसे आश्रम के पास निस्सहाय अवस्था मे छोड दिया। वह छोटा वन्दर लँगडाता हुआ विरूपाक्ष कन्दरा स्थित आश्रम मे आया, इसलिए हमने उसका नाम नोंदी (लँगडदीन) रख दिया। जव पाँच दिन वाद उसकी टोली के वन्दर आये, तो उन्होंने देखा कि उसकी देखभाल भली भाँति की जा रही है, फिर भी वह उसे अपने साथ ले गये। इसके वाद से, आश्रमवासियों की वची-खुची खाने की चीजो के लिए वन्दर आश्रम के वाहर आया करते परन्तु नोन्दी सीधा ही मेरी गोद मे आ जाता। वह वडी सफाई से खाता था। जव चावलो की पत्तल उसके सामने रखी जाती, वह एक भी चावल पत्तल के वाहर नही फेंकता था। अगर पत्तल के वाहर चावल चले भी जाते तो वह इन्हे इकट्ठे कर लेता और जाने मे पहले पत्तल विलकुल साफ कर जाता।

"वह वडा सवेदनशील भी था। एक वार, किसी कारणवश, उसने कुछ भोजन वाहर फेंक दिया और मैंने उसे झिडक दिया—'क्या वात है! खाना क्या खराव कर रहे हो?' उसने एकाएक मेरी आँख पर प्रहार किया और

मुझे हलकी सी चोट आई। दण्डस्वरूप, उसे कुछ दिन तक मेरे पास आने और मेरी गोद में चढने की आज्ञा नही दी गयी, परन्तु उसने नम्रता और क्षमा-याचना का भाव प्रदर्शित किया और फिर अपने प्रिय स्थान पर आ बैठा। यह उसका दूसरा अपराध था। प्रथम अवसर पर, मैंने उसका गरम दूध का प्याला अपने होठों के पास रखा था और उसे ठण्डा करने के लिए उसमे फूक मार रहा था। वह इस बात से चिढ गया। उसने मेरी आँख पर प्रहार किया, परन्तु मुझे कोई गभीर चोट नही आई। वह तत्काल ही मेरी गोद मे आ गया और दीनता भरे शब्दो मे चिल्लाने लगा, भूल जाओ और क्षमा कर दो। इसलिए उसे क्षमा कर दिया गया।"

बाद मे नोदी अपनी टोली का राजा बन गया। श्रीभगवान् एक अन्य बन्दर राजा की भी चर्चा किया करते थे। उसने अपनी टोली के दो उद्दण्ड बन्दरो को टोली से बाहर निकालने का बहादुराना कदम उठाया था। इस पर टोली ने विद्रोह कर दिया। राजा ने उसे छोड दिया और वह अकेला जगल मे चला गया। वहाँ वह दो सप्ताह तक रहा। जब वह वापस लौटा उसने अपने आलोचक और विद्रोही बन्दरो को चुनौती दी। दो सप्ताह की तपस्या के कारण वह इतना बलवान हो गया था कि किसी ने भी उसकी चुनौती का जवाब देने का साहस नही किया।

एक दिन प्रातःकाल यह समाचार मिला कि आश्रम के निकट एक बन्दर दम तोड रहा है। श्रीभगवान् उसे देखने गये। यह राजा बन्दर था। इसे आश्रम मे लाया गया और यह श्रीभगवान् का सहारा लेकर बैठ गया। दोनो निष्कासित बन्दर निकट ही एक वृक्ष पर बैठे हुए यह सब देख रहे थे, श्रीभगवान् आसन-परिवर्तन के लिए हिले और मरणोन्मुख बन्दर ने सहज वृत्ति मे उसकी टाँग को काट लिया। उन्होने अपनी टाँग की ओर इशारा करते हुए एक बार कहा था, "बन्दर राजाओ की कृपालुता के ऐसे चार चिह्न मेरी टाँग पर है।" तब बन्दर राजा ने इस ससार से विदा होते हुए आखिरी कराह भरी। दोनो बन्दर जो वृक्ष पर चढे हुए यह देख रहे थे, ऊपर-नीचे कूदने लगे और शोक से आर्त्तनाद करने लगे। मृत बन्दर के शरीर को सन्यासी के से सम्मान के साथ दफना दिया गया इसे पहले दूध और फिर पानी से नहलाया गया, इस पर पवित्र राख मली गयी, इसे एक नया वस्त्र ओढाया गया, इसका मुंह खुला रखा गया और इसके सामने कपूर जलाया गया। इसे आश्रम के निकट दफनाया गया और इसकी कब्र पर एक प्रस्तर का स्मारक खडा किया गया।

बन्दरो की कृतज्ञता की एक विचित्र कहानी श्रीभगवान् सुनाया करते थे। एक बार श्रीभगवान् पहाडी की तलहटी मे अपने भक्तो के साथ सैर कर रहे थे। जब वह पचैयाम्मान कोयल के निकट पहुँचे उन्हे भूख और प्यास सताने

लगी। तत्काल ही वन्दरो की एक टोली सडक के किनारे के जगली अजीरो के वृक्षो पर चढ गयी और उनकी शाखाओ को ज़ोर-ज़ोर से हिलाने लगी। सडक पके हुए अजीर के फलो से भर गयी और वन्दर भाग गये, उन्होने स्वय एक भी अजीर नही खायी। उसी समय महिलाओ का एक दल पानी से भरे हुए घडे लेकर वहाँ उपस्थित हो गया।

श्रीभगवान् का सबसे प्रिय पशु-भक्त गाय लक्ष्मी थी। गुडियाथम के निकट कुमारमगलम के निवासी अरुणाचल पिल्लई सन् १९२६ मे इस वछिया को उसकी माँ के साथ आश्रम मे लाये थे और उन्होने इन्हें श्रीभगवान् को भेंट रूप मे दिया था। वह इस भेंट को स्वीकार करने के लिए अनिच्छुक थे क्योंकि उस समय आश्रम मे गायो के लिए स्थान नही था। परन्तु अरुणाचल पिल्लई ने उन्हें वापस ले जाने से बिलकुल इन्कार कर दिया। एक भक्त रामनाथ दीक्षितार ने इनकी देखभाल करने का वचन दिया इसलिए इन्हे आश्रम मे रख लिया गया। दीक्षितार ने लगभग तीन महीने तक इनकी देखभाल की और फिर इन्हें नगर मे किसी गोपालक के पास छोड दिया गया। उसने इन्हे लगभग एक वप तक अपने पास रखा और जव वह एक दिन श्रीभगवान् का दशन करने आया तो इन्हें अपने साथ लेता आया। ऐसा लगता है कि श्रीभगवान् के प्रति वछिया को सहज आकषण हो गया था। उसने आश्रम जाने वाले माग को पहचान लिया था। अगले दिन वह अकेली लगभग दो मील की दूरी तय करके वापस आ गयी। इसके बाद वह प्रतिदिन प्रात काल आश्रम आती और सायकाल नगर को वापस लौट जाती। बाद मे, जब वह आश्रम मे रहने लगी, वह सीधे ही, बिना किसी और की तरफ ध्यान दिये श्रीभगवान् के पास जाती। वह हमेशा उसे केला या अन्य कोई पदाथ खाने के लिए देते। वहुत अरसे तक वह प्रतिदिन मध्याह्न भोजन के समय सभा-कक्ष मे आती और श्रीभगवान् के साथ खाने के कक्ष तक जाती। वह समय की इतनी पावन्द थी कि अगर श्रीभगवान् किसी काम मे व्यस्त होने के कारण निर्धारित समय से अधिक वैठते, तो उसके आने पर जव वह घडी देखते तो उन्हें पता चलता कि खाने का समय हो गया है।

लक्ष्मी ने कई वछडो को जन्म दिया, कम से कम तीन वछडे तो भगवान् की जयन्ती (जन्मदिन) के दिन पैदा हुए थे। जव आश्रम मे एक पक्की गोशाला वनायी गयी तव यह निणय किया गया कि उद्घाटन के दिन लक्ष्मी ही सवसे पहले इसमे प्रवेश करे। परन्तु जव उद्घाटन का समय आया, उसका कही पता नही चला। वह श्रीभगवान् के पास चली गयी थी, और जव तक वह नही आये, वह भी वहाँ से नहीं हिली। इसलिए पहले श्रीभगवान् ने गोशाला मे प्रवेश किया और वाद मे उनके पीछे लक्ष्मी ने। न

केवल उसका श्रीभगवान् के प्रति असाधारण अनुराग था वल्कि उसके प्रति उनकी अनुकम्पा और दयालुता विलकुल अपवाद स्वरूप थीं। वाद के वर्षो मे आश्रम मे कई गाय और बैल आये परन्तु किसी का भी भगवान् के प्रति इतना अनुराग नही था और न किसी ने श्रीभगवान् की इतनी अनुकम्पा प्राप्त की। लक्ष्मी के वशज अव भी वहाँ हैं।

१७ जून, १९४८ को लक्ष्मी बीमार हो गयी और १८ जून की प्रात काल ऐसा प्रतीत हुआ कि उसका अत निकट है। १० वजे श्रीभगवान् उसके निकट गये। उन्होने कहा, "माता लो मैं आ गया।" वह उसके पास बैठ गये और उन्होंने उसका सिर अपनी गोद मे रख लिया। उन्होने उसकी आँखो मे झाँका और अपना हाथ उसके सिर तथा हृदय पर रखा मानो उसे दीक्षा दे रहे हो। उसकी गालो को अपनी गालो से लगाते हुए उन्होने उसे पुचकारा। जव उन्हे यह सतोप हो गया कि उसका हृदय पविश्र है और सव वासनाओ से मुक्त है तथा भगवान् पर केन्द्रित है, उन्होने उससे विदा ली। वह भोजन के लिए खाने के कमरे की ओर चले गये। लक्ष्मी अत तक सचेत थी, उसकी आँखें शान्त थी। साढे ग्यारह वजे शान्त भाव से उसकी इहलीला समाप्त हुई। आश्रम के अहाते मे एक हरिण, एक कौए, और एक कुत्ते की कबरो के पास, जो कि श्रीभगवान् के आदेश से वहाँ दबाये गये थे, उसे अत्येष्टि सस्कार के साथ दफनाया गया। एक चौकोर पत्थर उसकी कब्र पर लगाया गया। पत्थर पर श्रीभगवान् का यह मृत्युलेख उत्कीर्ण किया गया कि उसने मुक्ति प्राप्त कर ली है। देवराज मुदालियर ने श्रीभगवान् से पूछा था कि क्या यह रस्मी तौर पर उत्कीण किया गया है, जैसे कि किसी व्यक्ति के देहावसान पर हम कहते हैं कि उसने समाधि प्राप्त कर ली है, या इसका यह अर्थ है कि उसने वस्तुत मुक्ति प्राप्त कर ली है। इस पर श्रीगवान् ने उत्तर दिया कि उसने वस्तुत मुक्ति प्राप्त कर ली है।

बारहवाँ अध्याय

श्रीरमणाश्रम

जब भक्तगण दिसम्बर १९२२ मे पहाड़ी की तलहटी मे माता के स्मारक की ओर श्रीभगवान् के साथ गये, उस समय आश्रम के नाम पर फूस की एक झोपड़ी थी। आगामी वर्षों मे भक्तो की सख्या बढ़ती गयी, दान आने लगा और आश्रम के भवनो का निर्माण हुआ—सभा-कक्ष जहाँ श्रीभगवान् बैठा करते थे, कार्यालय और पुस्तको की दूकान, खाने का कमरा और रसोई, गोशाला, डाकघर, डिस्पेंसरी, पुरुष-आगतुको के लिए अतिथि-गृह (वस्तुत यह एक कमरा नही बल्कि उन लोगो के लिए जो आश्रम मे कुछ दिन ठहरना चाहते थे, एक विशाल कक्ष था), लम्बी अवधि तक ठहरने वाले अतिथियो के लिए दो छोटे बगले—ये सब एक मजिले भवन थे और इन पर बाहर सफेदी की गयी थी।

आश्रम के पश्चिम मे, उसके निकट ही एक विशाल चौकोर तालाब है, जिसमे चारो दिशाओ से पत्थर की सीढ़ियाँ पानी तक पहुँचती हैं। आश्रम के दक्षिण मे बस की सड़क तिरुवण्णामलाई से बगलौर तक पूर्व और पश्चिम मे जाती है। यह सड़क आगे पश्चिम में दो शाखाओ में बँट जाती है और पहाड़ी के चारो ओर जाती है। सड़क पर उत्तर की ओर मुँह करके खड़ा होने पर, पुलिया के पार, एक काले लकड़ी के पट्ट पर स्वर्णाक्षरो में 'श्रीरमणाश्रम' लिखा है। आश्रम का कोई द्वार नही है, यह बिलकुल खुला है। नारियल के पत्ते आश्रम के भवनों को छिपाये हुए हैं और उनसे परे भव्य पहाड़ी है।

केवल आश्रम के भवनो का ही निर्माण नही किया गया था। सड़क के पार मोरवी के राजा ने आगतुक राजाओ के लिए एक अतिथि-गृह का निर्माण कराया था। गृहस्थी भक्तो द्वारा कुटियो और बगलों के निर्माण से एक बस्ती वहाँ बस गयी। आश्रम के ठीक पश्चिम मे, पेलाकोट्टु में कन्दराओ या कुटियों मे रहने वाले साधुओ की एक बस्ती थी। इन कुटियो का निर्माण स्वय साधुओ ने किया था। इन साधुओ में से अनेक युवक थे, कई तो बड़े धनी परिवारो के थे। उन्होंने सम्पत्ति तथा परिवार का त्याग कर बड़ी तलाश में अपना जीवन अर्पित करने के लिए साधु जीवन का वरण किया था।

आश्रम में आने वाले या वहाँ बस जाने वाले सभी व्यक्ति हिन्दू नहीं

थे। यूरोपीय, अमेरिकी, पारसी, यहूदी और मुस्लिम भी उनमे थे। हिन्दू भी विभिन्न जातियो के थे, केवल ब्राह्मण नही थे और विभिन्न राज्यो के थे।

आश्रम का विशाल भोजन-कक्ष और इसके साथ सलग्न पाकशाला एक पृथक् भवन मे थे। इसमे किसी प्रकार का फरनीचर नही था। पत्तलें और वाद के वर्षों मे केले के पत्ते दो पक्तियो मे भोजन-कक्ष मे बिछा दिये जाते थे और उनके आगे लाल टाइलो वाले फर्श पर भक्तगण पालथी मार कर बैठ जाते थे। भवन के बीच मे चौडाई की ओर तीन-चौथाई हिस्से मे विभाजन कर दिया गया था। इसके एक ओर वह कट्टरपथी ब्राह्मण बैठते थे जो दूसरी जाति के लोगो के साथ मिल कर नही खाते थे। दूसरी ओर अ-ब्राह्मण, विदेशी तथा वह ब्राह्मण बैठते थे जो अन्य सब के साथ मिल कर खाना पसन्द करते थे। भगवान् न तो कट्टर पथी नियमो के पालन के लिए कहते थे और न इनका निषेध करते थे। वह स्वय बीच मे दीवार का सहारा लेकर बैठते थे, जहाँ वह दोनो दलो को दिखायी देते थे।

भोजन-कक्ष के अतिरिक्त अन्यत्र जाति-भेद की सर्वथा उपेक्षा कर दी गयी थी। सभा-कक्ष मे भगवान् के आगे सभी—ब्राह्मण, विदेशी तथा निम्न जाति के लोग एक-दूसरे के साथ बैठते थे। भगवान् की उपस्थिति का प्रभाव इतना व्यापक, इतना शक्तिशाली और इतना तीव्र था कि सभी भेद-भाव लुप्त हो जाते थे। प्रात काल और सायकाल वेद मत्रो के पाठ के समय सभी इकट्ठे बैठते थे हालाँकि कट्टर पथी लोगो के अनुसार, केवल ब्राह्मणो को ही वेद-मत्रो के सुनने का अधिकार है। एक वार उत्तर भारत के एक आगतुक ने इस पर आक्षेप किया। भगवान् ने उसे टका-सा जवाब दे दिया कि वह अपनी साधना मे लीन रहें और उन वातो की चिन्ता न करें जिनका उनसे सम्बन्ध नही है।

आश्रम मे विदेशी आगन्तुको पर धर्म-परिवतन के लिए कोई दवाव नही डाला जाता था। इसकी आवश्यकता भी नही थी क्योकि अद्वैत सामान्यत धर्म का सार है और अन्तिम सत्य है। ताओवाद, बौद्ध धम और हिन्दू धम मे स्पष्टत इसे इस रूप मे स्वीकृति प्रदान की जाती है। पश्चिमी धर्मों मे यह अधिक प्रच्छन्न है। इस्लाम के सूफी सन्तो ने शाह्द का वास्तविक अर्थ यही स्वीकार किया है भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई देवता नही है, आत्मा के अतिरिक्त कोई आत्मा नही है, सत्ता के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नही है। भगवान् अक्सर ओल्ड टेस्टामेण्ट से, मूसा को दिये गये भगवान् का नाम उद्धृत किया करते थे 'मैं वह हूँ,' वह इसे सर्वाधिक उपयुक्त नाम समझते थे, केवल 'मैं हूँ' आत्मा, सत्ता। वह यह पद भी उद्धृत किया करते थे "शान्त हो जाओ और यह सोचो कि मैं भगवान् हूँ।" इसकी व्याख्या करते हुए वह कहा

करते थे कि हमे केवल यही करना है मन को शान्त रखो और जानो कि 'मैं हूँ' भगवान् है, यही सार है। ईसाइयत में कुछ उच्च कोटि के रहस्यवादी ही हैं जिन्होंने अद्वैत के दर्शन और उसकी घोषणा की है, जैसे कि मीस्टर एकहार्ट कहता है, "भगवान् की सत्ता मेरी सत्ता है।"

सभा-भवन मे प्रतिदिन वेदमन्त्रो का पाठ होता था परन्तु भगवान् ने स्पष्टत कह दिया था कि वेदमन्त्रों का अर्थ जानने की कोई आवश्यकता नही है। मन्त्रोच्चारण मन की शान्ति और चिन्तन मे सहायक है। यही पर्याप्त था। वेदमन्त्रो के अर्थ के सम्बन्ध मे किसी विचार की अपेक्षा यह अधिक महत्त्वपूर्ण था। आध्यात्मिक शिक्षा सिद्धान्त नही है बल्कि एक तकनीक है, एक मार्ग है, आन्तरिक रस-सिद्धि है।

आश्रम मे भी जो भक्तजन चिन्तन की अपेक्षा क्रियाशील जीवन को अधिक पसन्द करते थे, वह कार्यालय, उद्यान, पुस्तको की दूकान, पाकशाला, या किसी अन्य विभाग में सेवा कार्य करते, अपने को भगवान् के निकट समझते और उसके लिए कार्य करते थे। अत्यन्त सौभाग्यशाली भक्तो मे ब्राह्मण विधवाएँ थी जो पाकशाला मे कार्य करती थी। जीवन के अन्तिम वर्षों मे भी, जब तक वृद्धावस्था के कारण श्रीभगवान् का स्वास्थ्य बिलकुल क्षीण नही हो गया, वह उनके साथ कार्य किया करते थे। वह प्रात काल ३-४ बजे जाते और एक-दो घण्टे सब्जी काटने तथा पत्तलें बनाने मे लगाते (केलो के पत्तो के प्रयोग से पूर्व)। वह प्रतिदिन रसोई का निरीक्षण करते और भोजन तैयार करने मे हाथ बँटाते। कोई भी चीज व्यर्थ नही फेंकी जाती थी। एक बार जब एक भक्त पहाड से पैशन-फ्रूट की एक टोकरी भर कर लाया तो उन्होंने खोलो को उबालने का भी आग्रह किया ताकि शोरबे के जल मे वृद्धि हो सके। जो लोग श्रीभगवान् के साथ पाकशाला मे काम करते थे वह क्रियाशीलता के मार्ग का अनुसरण करते थे। श्रीभगवान् कर्म-मार्ग के अनुरूप उन्हे कार्य के सम्बन्ध मे विस्तृत निर्देश देते थे और उनसे बिना ननुनच के आदेश के पालन की अपेक्षा करते थे। वह निरन्तर उनका निरीक्षण किया करते थे, उनके दोषो के लिए उन्हे झिडकते और उनके प्रयासो की सराहना करते थे। वह परमानन्द की स्थिति में रहते थे, परन्तु उस गलत कदम के प्रति सदैव सचेत रहते थे, जिससे उन्हे श्रीभगवान् का कोप-भाजन न बनना पडे।

खाना बनाना आश्रमवासियो के लिए एक कला थी और भगवान इस कला मे पारगत थे। यह साधना का भी साधन थी और भगवान् उन्हे उनके विभिन्न कार्यों के प्रतीकवाद की ओर निर्देश करते थे। प्रत्येक कार्य सुचारु रूपेण सम्पन्न किया जाता था। वह परोसने से पूर्व प्रत्येक खाने की चीज का निरीक्षण करते थे और इसे स्वयं चखते थे। कोई यह सोच सकता है कि यह

खाने-पीने की चीजो मे बहुत रस लेते होगे, परन्तु इस सब देख-भाल के बावजूद वह भोजन के प्रति बिलकुल उदासीन थे। कभी-कभी जब वह देखते कि उनके अपने भोजन की ओर बहुत अधिक ध्यान दिया जा रहा है तो वह मीठे-खट्टे और नमकीन सभी खाद्य-पदार्थों को मिला देते और यह कहते हुए खाते "आपको विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है परन्तु ज्ञानी के लिए केवल एकता है।" अगर उन्हें दूसरो की अपेक्षा अधिक मात्रा मे या कोई अच्छी चीज दी जाती तो वह इसके लिए उत्तरदायी व्यक्ति के प्रति क्रुद्ध होते।

भोज्य पदार्थों को व्यथ न करने के लिए वह पहले दिन के बचे हुए भोजन को गरम करते, इसमे कोई सुगन्ध मिलाते या इसे कोई अन्य रूप देने का यत्न करते। यह ब्राह्मणो के कट्टर नियमो के विरुद्ध है और इसलिए रसोई के महायक इसका पता लगाने के लिए प्रात काल भगवान् से भी पहले आने लगे। भगवान् उनसे भी पहले उठ जाते और रसोई मे उनसे पहले पहुँच जाते। फिर ये मूर्ख लोग, यह न जानते हुए कि भगवान् का स्पश सर्वोच्च शुद्धि है, इस प्रकार के भोजन की शुद्धि के लिए शुद्धि-सस्कार करते थे। यह भी एक कारण था, जिसने भगवान् को रसोई मे जाने से बिलकुल रोक दिया। इस बीच एक और भी घटना घटी। उन्होने आदेश दिया था कि सब्जियो के छिलके फेंके न जाएँ बल्कि पशुओ को दिये जाएँ और उनके आदेश के बावजूद ये फेंक दिये गये। जो भी कारण हो, उन्होने रसोई के काम से अपना हाथ खीच लिया था क्योकि वे वृद्ध और दुर्बल होते जा रहे थे। इसके अतिरिक्त इतने अधिक आगन्तुक और भक्त उनके निकट आते थे कि रसोई मे समय देने का अभिप्राय उनकी उपेक्षा होता।

निर्माण तथा आयोजन और अथ-व्यवस्था के काय के लिए आश्रम को एक प्रबन्धक की आवश्यकता थी क्योकि श्रीभगवान् इनमे से कोई भी कार्य स्वय नही करते थे। आश्रम के सगठन की दिशा मे कई प्रयास किये गये परन्तु यह सब असफल रहे। अन्त मे श्रीभगवान् से अपने भाई निरजनानन्द स्वामी को आश्रम का सर्वाधिकारी बनाने के लिए कहा गया। उन्होने इसकी स्वीकृति प्रदान कर दी। भगवान् के जीवन-पयन्त यह प्रबन्ध जारी रहा। आश्रम के प्रबन्ध मे बहुत-सी त्रुटियाँ थी, और इसके सम्बन्ध मे अनेक शिकायतें भी की गयी। परन्तु इसके बावजूद आश्रम समृद्धि के पथ पर था और यह नितान्त स्वच्छ, नियमित तथा सुसचालित था। आश्रम-जीवन को सुव्यवस्थित करने के लिए नियम बनाये गये। कुछ नियम भक्तो के लिए कष्ट साध्य थे। अगर कोई भक्त इन नियमो का विरोध या इनके विरुद्ध विद्रोह करना चाहता तो श्रीभगवान् का आदर्श उदाहरण उन्हे ऐसा करने से रोकता। वह स्वय प्रत्येक नियम का पालन करते और सत्ता का आदर करते थे। उनका यह दृढ़ मत

था कि हर अवस्था मे नियमो का पालन किया ही जाना चाहिए। उनके प्रत्येक कार्य की तरह यह काय भी साभिप्राय था।

वह एक ऐसे माग पर चल रहे थे, जिस पर व्यक्ति को आध्यात्मिक दृष्टि से तिमिराच्छन्न कलियुग की परिस्थितियो मे चलना ही चाहिए। अगर वह अपने अनुयायियो से प्रतिकूल परिस्थितियो मे आत्म तत्त्व को स्मरण रखने के लिए कहते थे, तो वह आश्रम के सभी नियमो के पालन द्वारा उनके सम्मुख उदाहरण भी प्रस्तुत करते थे। इसके अतिरिक्त वह उन लोगो से सहमत नही थे, जो अपने उद्देश्य से विरत होकर आश्रम के प्रबन्ध सम्बन्धी झगडो मे उलझे रहते थे। वह कहा करते थे, "लोग मोक्ष की तलाश मे आश्रम मे आते हैं और फिर आश्रम की राजनीति में फँस जाते हैं। जिस उद्देश्य के लिए वह यहाँ आये थे उसे सवथा भूल जाते हैं।" अगर उन्हें इन्ही कामो मे दिलचस्पी लेनी थी तो फिर इसके लिए उन्हें तिरुवन्नामलाई आने की क्या आवश्यकता थी।

कभी-कभी लोग आश्रम के सम्बन्ध मे विरोध और असन्तोष भी व्यक्त करते थे। ऐसा नही कहा जा सकता कि वह बिलकुल निराधार थे, परन्तु श्रीभगवान् इनकी ओर ध्यान नही देते थे। एक बार मद्रास से भक्तो, व्यापारियो तथा व्यावसायिक कमचारियो का एक दल एक विशेष बस द्वारा आश्रम के वतमान प्रबन्धको के पदत्याग और नये प्रबन्धको की नियुक्ति की माँग लेकर आया। वह सभा-कक्ष मे चले गये और श्रीभगवान् के सम्मुख बैठ गये। उन्हें उनके आगमन के प्रयोजन के सम्बन्ध मे नही बताया गया था परन्तु उन्होंने उनका रुख भाँप लिया था। वह शान्त भाव से बैठ गये, उनका चेहरा कठोर, उदासीन और शिला के समान अपरिवतनीय था। वह उनके सामने अस्थिर हो उठे, एक-दूसरे की ओर देखने लगे, डाँवाडोल होने लगे, परन्तु किसी को भी बोलने का साहस न हुआ। अन्त मे वह सभा-भवन से उठ खडे हुए और जैसे आये थे वैसे ही वापस मद्रास लौट गये। फिर श्रीभगवान को उनके आने का प्रयोजन बताया गया। उन्होंने कहा, "मैं नही जानता कि वह यहाँ किस लिए आये थे। वह यहाँ अपना सुधार करने के लिए आते हैं या आश्रम का।"

श्रीभगवान् को अगर कोई नियम केवल कष्टसाध्य ही नही बल्कि अनुचित प्रतीत होता था तो वह इसका पालन किसी अवस्था मे नही करते थे। उन्होंने विरूपाक्ष कन्दरा पर टैक्स लगाने को स्वीकार नही किया था। उस समय भी उनका तरीका विरोध का नही बल्कि अपने व्यवहार द्वारा इस अन्याय की ओर ध्यान आकर्षित करने का था। एक समय ऐसा था जब आश्रम के भोजन कक्ष म पहले ही सब के लिए भोजन परोस दिया जाता था, परन्तु सबके लिए समुचित कॉफ़ी की व्यवस्था करना सम्भव नही था। इसलिए साधारण व्यक्तियो

को जो कि कक्ष के अन्त मे दूर खाने के लिए बैठते थे, कॉफी के स्थान पर पानी दिया जाता था। श्रीभगवान् ने इसे देख लिया—उनकी पैनी दृष्टि से कोई भी चीज नही बचती थी—और उन्होने कहा, "मुझे भी पानी दीजिए।" इसके बाद से वह पानी पीने लगे और उन्होने कॉफी कभी भी स्वीकार नही की। पहले भी कई बार ऐसा हुआ था जब श्रीभगवान् ने कॉफी छोड दी थी, परन्तु रसोइए और सेवक यह सोच कर कि शायद ऐसा वह उनकी भर्त्सना के लिए कर रहे है, उन्हे कॉफी पीने के लिए राजी कर लेते थे।

श्रीभगवान् को दोपहर के भोजन के बाद पान खाने की भी आदत थी। एक दिन उनका सेवक उनके लिए पान लगाना भूल गया। इस बात का पता चल गया और जल्दी ही पान तैयार किया गया और उनके सामने रखा गया, परन्तु उन्होने इसे लेने से सर्वथा इन्कार कर दिया, शायद यह इस बात का सकेत था, "यह अनावश्यक आदत है। मैं पान क्यो लूं?"

उनसे प्रार्थना की गयी कि वह कम से कम यही प्रदर्शित करने के लिए कि उन्होने सेवक को क्षमा कर दिया है, पान स्वीकार कर लें परन्तु उन्होने कहा, "अगर पान खाना बुरी आदत है, तो मैं इसे एक बार भी क्यो खाऊँ?" और उन्होने फिर कभी पान नही खाया।

एक बार, जब वह काफी वृद्ध हो गये थे और गठिये के कारण उनके घुटने कठोर और विकृत हो गये थे, यूरोपियनो का एक दल आश्रम मे आया। इस दल मे एक महिला भी थी जिसे पालथी मार कर बैठने का अभ्यास नही था। वह दीवार का सहारा लेकर बैठ गयी और उसने अपनी टाँगे फैला ली। एक सेवक ने, जो शायद यह अनुभव नही कर सकता था कि उस व्यक्ति के लिए जो पालथी मार कर बैठने का अभ्यस्त नही है, यह काय कितना कठिन है, उससे टाँगें न फैलाकर बैठने के लिए कहा। घबराहट के कारण उस महिला का चेहरा लाल हो उठा और उसने अपनी टाँगें सिकोड ली। तत्काल ही श्रीभगवान् भी सीधे और पालथी मार कर बैठ गये। घुटनो मे दद होने के बावजूद, वह पालथी मार कर बैठे रहे। जब भक्तो ने उनसे वैसा न करने के लिए कहा तो उन्होने उत्तर दिया, "अगर आश्रम का यही नियम है तो अन्य व्यक्तियो के समान मुझे भी इसका पालन करना होगा। अगर पैर फैला कर बैठना दूसरो का अनादर करना है तो मैं सभा-भवन मे बैठे प्रत्येक व्यक्ति का अनादर कर रहा हूँ।" सेवक सभा-कक्ष से जा चुका था, परन्तु उसे वापस बुलाया गया और उसने भद्र महिला से कहा कि वह जैसे भी चाहे सुविधा-पूर्वक बैठे। तब भी श्रीभगवान् को टाँगें फैला कर बैठने के लिए मनाना बहुत कठिन था।

प्रारम्भिक वर्षो मे कभी-कभी श्रीभगवान् को आलोचना का भी सामना

करना पडता था। विशेष रूप से पाश्चात्य भक्तो को ईसाई मिशनरियो की आलोचना का सामना करना पडता था। एक बार का जिक्र है, एक मिशनरी सभा-भवन मे चला आया और श्रीभगवान् की जोर-शोर से आलोचना करने लगा। परन्तु सभा-भवन के पीछे से मेजर चैडविक ने वक्ता द्वारा ईसाइयत की व्याख्या को चुनौती दी और उसे इतना अप्रतिभ कर दिया कि वह भाग खडा हुआ। बाद के वर्षो मे भी कैथोलिक पादरी आया करते थे। पहले तो वह श्रीभगवान के प्रति दिलचस्पी और सम्मान की भावना अभिव्यक्त करते और फिर इस तरीके से अपना सन्देह प्रकट करते थे कि व्यक्ति आश्चय मे पड जाता था और यह सोचने लगता था कि क्या इनका हृदय वस्तुत उदार है या उनका प्रयोजन केवल अपने धम मे दीक्षित करना और तथ्यो को तोड मरोड कर रखना नही था।

अगर कोई प्रश्न ईमानदारी से न पूछा जाता तो भगवान् प्राय मौन और स्थिर होकर बैठ जाते। एक बार एक धूत और वचक साधु, आश्रम मे आया और भगवान् की मिथ्या स्तुति करते हुए उनसे पूछने लगा कि क्या वह ज्ञानी हैं या जीवन्मुक्त। यह सब स्वीकृत सिद्धान्त है कि कोई भी व्यक्ति यह नही कहगा कि "मैं ज्ञानी हूँ" क्योकि साक्षात्कार का अथ ही है अह का लोप। वह धूत, भगवान् द्वारा हाँ कहने पर इस सिद्धान्त को उनके विरुद्ध प्रयुक्त करना चाहता था और अगर वह कहते 'नही' तो वह यह व्यग्य करता "फिर आप शिष्यो को इसकी शिक्षा क्यो देते है ?" भगवान् बिलकुल मौन धारण करके बैठे रहे और उन्होंने उसकी बिलकुल उपेक्षा कर दी।

एक बार एक मुसलमान श्रीभगवान् से तर्क करने आया। उसकी चुनौती को स्वीकार करते हुए श्रीभगवान् ने अत्यन्त धैयपूवक उनके प्रश्नो का उत्तर दिया।

उसका पहला प्रश्न था, "क्या भगवान् का रूप है ?"

श्रीभगवान् ने व्यग्य मे उत्तर दिया, "कौन कहता है भगवान् का रूप होता है ?"

प्रश्नकर्ता का कहना था, "अगर भगवान् निराकार है तो क्या उसे मूर्ति का रूप देना और इस रूप मे उसकी पूजा करना गलत नही है ?"

उन्होंने उसका व्यग्याथ समझ लिया था, "कोई भी नही कहता कि भगवान् का रूप है।" इसका अथ ठीक वही था जो कहा गया था। अब श्रीभगवान् ने इसकी व्याख्या करते हुए उस मुसलमान से पूछा, "भगवान् को एक ओर रहने दे, पहले आप मुझे यह बताएँ कि क्या आपका रूप है ?"

"निस्सन्देह, जैसा कि आप देख सकते है, मेरा रूप है, परन्तु मैं भगवान् नही हूँ।"

"तव क्या आप हाड-मास, रक्त के वने और सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए यह भौतिक शरीर ही हैं ?"

"हाँ, ऐसा ही है, मैं इस भौतिक रूप मे अपनी सत्ता से परिचित हूँ।"

"आप अपने को शरीर कहते हैं क्योकि अब आपको अपने शरीर का ज्ञान है, परन्तु क्या आप यह शरीर हैं ? क्या गाढ निद्रा मे जव आपको अपने शरीर की सत्ता का ज्ञान नही होता, आप शरीर रूप हो सकते हैं ?"

"हाँ, गाढ निद्रा मे भी मैं इसी शारीरिक रूप मे विद्यमान रहता हूँ, क्योकि जब तक मुझे नीद नही आती मुझे इस शरीर का ज्ञान रहता है परन्तु ज्योही मेरी नीद खुलती है मैं देखता हूँ कि मैं ठीक वही हूँ जो सोने से पहले था।"

"और जब मृत्यु हो जाती है ?"

प्रश्नकर्त्ता थोडी देर रुका और उसने एक क्षण सोच कर कहा, "हाँ, तब मुझे मृत समझ लिया जाता है और शरीर को दफना दिया जाता है।"

"परन्तु आपने कहा था कि आपका शरीर आप है। जब इसे दफनाने के लिए ले जाया जाता है तो यह विरोध क्यो नही करता और कहता 'नही, नही, मुझे मत ले जाओ ! यह सम्पत्ति जो मैंने इकट्ठी की है, यह वस्त्र जो मैं पहने हुए हूँ, यह वच्चे जिन्हे मैंने जन्म दिया है, यह सव मेरे हैं, मुझे इनके साथ रहना है।'"

तव आगन्तुक ने यह स्वीकार किया कि उसने गलती से अपने को शरीर समझ लिया था और कहा, "मैं शरीर मे जीवन हूँ, स्वय शरीर नही हूँ।"

तव श्रीभगवान् ने उसे समझाते हुए कहा, "अव तक आप अपने को गम्भीरतापूर्वक शरीर समझते थे और यह सोचते थे कि मेरा रूप है। यही मूल अज्ञान है जो सारे कष्ट की जड है। जव तक इस अज्ञान से छुटकारा नही पा लिया जाता और जव तक आप अपनी निराकार प्रकृति को नही पहचान लेते तव तक भगवान् के सम्वन्ध मे यह तर्क करना कि वह साकार है या निराकार या जव वह वस्तुत निराकार है तव मूर्ति के रूप मे भगवान् की पूजा करना उचित है या नही—यह सव वातें कोरा पाण्डित्य प्रदर्शन मात्र है। जव तक व्यक्ति निराकार आत्मा के दर्शन नही कर लेता, वह सच्चे अर्थो मे निराकार भगवान् की पूजा नही कर सकता।"

कई वार श्रीभगवान् के उत्तर सक्षिप्त और गूढ होते थे, कई वार पूर्ण और व्याख्यात्मक होते थे, परन्तु हमेशा वह प्रश्नकर्त्ता की प्रकृति के अनुसार होते थे और सदा ही आश्चर्यजनक रूप से ठीक होते थे। एक वार एक नगा फकीर आया और लगभग एक सप्ताह तक आश्रम मे रहा, वैठते समय वह अपनी दाहिनी भुजा को हमेशा ऊपर उठाये रहता था। उसने स्वय सभा-भवन मे प्रवेश नही किया वल्कि अन्दर यह प्रश्न भेजा, "मेरा भविष्य क्या होगा ?"

उत्तर था, "उससे कह दें कि उसका भविष्य भी वही होगा जो उसका वतमान है।" इस उत्तर द्वारा न केवल उस व्यक्ति की भविष्य के प्रति दिलचस्पी की भत्सना की गयी थी बल्कि उसे यह स्मरण कराया गया था कि उसके वतमान अच्छे या बुरे काय उसके भविष्य का निर्माण कर रहे थे।

एक आगन्तुक ने विभिन्न शिक्षको द्वारा निर्धारित मार्गों की चर्चा करते हुए और पाश्चात्य दाशनिको के उद्धरण देते हुए पाण्डित्य-प्रदशन किया। अन्त मे उसने कहा, "एक एक बात कहता है, दूसरा दूसरी। कौन-सा माग ठीक है, मुझे किसका अनुसरण करना चाहिए।"

श्रीभगवान मौन बैठे रहे परन्तु आगन्तुक ने अपना प्रश्न आग्रहपूवक जारी रखते हुए कहा, "कृपया मुझे बताएँ कि मैं कौन से माग का अनुसरण करूँ?"

फिर भी भगवान् ने कोई उत्तर न दिया और जब एक घण्टे बाद वह सभा-कक्ष से जाने के लिए उठ खडे हुए, वह उसकी ओर मुडे और उन्होने सक्षिप्त-सा उत्तर दिया, "जिस माग से आप आये थे, उससे चले जाएँ।"

आगन्तुक ने भक्तो से शिकायत की कि ऐसे उत्तर का क्या लाभ, परन्तु भक्तो ने इसके गम्भीर अथ की ओर सकेत करते हुए कहा, कि इसका अभिप्राय है एक मात्र माग अपने स्रोत की ओर वापस लौटना है, जहाँ से व्यक्ति आया था। साथ ही, आगन्तुक के अभिमान-मिश्रित प्रश्न का यही उपयुक्त उत्तर था।

सुन्दरेश ऐय्यर नामक एक व्यक्ति, जिनका पहले भी जिक्र आया है, श्रीभगवान् के परम भक्त थे। जब उन्होंने यह सुना कि उनका दूसरे नगर मे तबादला होने वाला है, तो उन्होंने अत्यन्त शोक भरे शब्दो मे श्रीभगवान् से शिकायत करते हुए कहा, "गत ४० वर्षों से भगवान् के साथ रह रहा हूँ और अब मैं दूर चला जाऊँगा। भगवान् के बिना मैं कैसे रहूँगा।"

श्रीभगवान् ने उनसे पूछा, "आप कितने अरसे से भगवान् के साथ रह रहे हैं?"

उत्तर था, "चालीस वष।"

तब भक्ता को सम्बोधित करते हुए श्रीभगवान् ने कहा, "यहाँ एक ऐसे महानुभाव हैं जो पिछले ४० वर्षों से मेरा उपदेश सुन रहे है और अब वह कहते हैं कि वह भगवान् से दूर जा रहे है।" इस प्रकार श्रीभगवान् ने अपनी सावलौकिक उपस्थिति की ओर ध्यान खीचा। सुन्दरेश ऐय्यर का तबादला रद्द हो गया था।

आश्रम का भवन भक्ता तथा विश्व भर मे फैले हुए उन व्यक्तियो का जो वहाँ शारीरिक रूप से उपस्थित नही हो सकते थे, केन्द्र बना रहा। ऊपर

से देखने वाले दशक को ऐसा लगता था कि बहुत थोडा कार्य हो रहा है परन्तु वस्तुत वहाँ महान् कार्य सम्पन्न हो रहा था।

आयु के बढने के साथ-साथ श्रीभगवान् के दैनिक जीवन मे परिवतन आ गया। ज्यो-ज्यो भगवान् का शरीर दुबल होता जाता था त्यो-त्यो दैनिक चर्या और प्रतिबन्ध कठोर होते जाते थे। जब श्रीभगवान् अत्यन्त दुबल हो गये, उनसे मिलने के लिए कोई निर्धारित समय नही था। दिन हो चाहे रात, हर समय उनसे मिला जा सकता था। सोते समय भी वह भवन के दरवाजे बन्द नही करवाते थे ताकि कोई दर्शनार्थी उनसे मिलने से वचित न रह जाये। प्राय वह रात को बहुत देर तक भक्तो से बातें करते रहते थे। इन भक्तो मे से कई, सुदरेश ऐय्यर की तरह गृहस्थी थे, जिन्हे अगले दिन काम पर जाना होता था। इन भक्तो का ऐसा अनुभव था कि आश्रम मे श्रीभगवान् के साथ एक रात रहने के उपरान्त, निद्रा के अभाव मे उन्हे अगले दिन किसी प्रकार की कोई थकावट अनुभव नही होती थी।

आश्रम का दैनिक जीवन सुव्यवस्थित और नियमित था। व्यवस्था और नियमितता श्रीभगवान् के जीवन के आदश थे, जिन्हे उन्होने अपने जीवन मे ढाला था और जिनके पालन के लिए वह दूसरो से कहा करते थे। इस प्रकार आश्रम की प्रत्येक वस्तु स्वच्छ और अपने उचित स्थान पर थी। आश्रम के भवनो की सफेदी की हुई बाहर की दीवारें सूय के प्रकाश मे चमकती थी, फर्श इतने स्वच्छ थे कि श्वेत वस्त्रधारी भक्तजन अपने कपडो के मैले होने की चिन्ता किये बिना निस्सकोच वहाँ बैठ सकते थे। भगवान् की शय्या पर बिछी हुई कशीदाकारी की हुई चादरे प्रति दिन बदली जाती थी और हमेशा साफ सुथरी रहती थी और उन्हे ठीक ढग से तह किया जाता था।

सन् १९२६ मे ही भगवान् ने पहाडी की प्रदक्षिणा करना छोड दिया था। आश्रम मे आने वाले लोगो की सख्या प्रति दिन बढ रही थी। उस पर नियत्रण करना सम्भव नही था। जब श्रीभगवान् बाहर जाते तो कोई भी व्यक्ति आश्रम मे रहना पसन्द नही करता था। हर कोई उनके साथ जाना चाहता था। इसके अतिरिक्त, यह भी आशका थी कि श्रीभगवान् के आश्रम मे उपस्थित न होने की स्थिति मे, भक्तगण दशनो के लिए आये और उन्हे वहाँ न पाकर निराश होकर वापस न चले जायँ। अनेक अवसरो पर उन्होने इस ओर सकेत किया था कि जो भी व्यक्ति उनके दशनो के लिए आये उसे रोका न जाये। श्रीभगवान् कहा करते थे कि वह इसीलिए पहाडी की तलहटी मे रहते हैं और स्कन्दाश्रम नही जाते क्योकि वहाँ भक्तजन सरलता से नही पहुँच सकते। श्रीभगवान् ने न केवल पहाडी का चक्कर लगाना छोड दिया बल्कि चाहे जो भी कारण हो, वह सिवाय प्रात और साय भ्रमण के आश्रम

से कभी भी अनुपस्थित नही रहते थे। रसोई मे काय करना भी मुख्यत उन्होने इसीलिए बन्द कर दिया था ताकि सभी भक्त उनके दशन कर सकें। जब उनसे भारत के पवित्र तीर्थ-स्थानो की यात्रा करने के लिए कहा गया तो उनके इन्कार करने का एक कारण यह भी था कि उनकी अनुपस्थिति मे भक्तजन आश्रम मे आयेंगे और उन्हे निराश होना पडेगा। अपनी अन्तिम बीमारी मे वह अन्त तक इस बात पर बल देते रहे कि उनके दशनो के लिए आने वाले सभी भक्तो को उनसे मिलने दिया जाय।

इन वर्षों मे भक्तो को जो अनुभव हुए, श्रीभगवान् ने उन्हे जो उपदेश दिये और उनकी शकाओ का जो समाधान किया, उस सब को यदि सग्रहीत किया जाय तो कई ग्रन्थ लिखे जा सकते है। परन्तु इस पुस्तक का उद्देश्य विस्तृत वणन प्रस्तुत करना नही बल्कि श्रीभगवान् के जीवन और उनकी शिक्षाओ का सामान्य चित्र प्रस्तुत करना है।

से देखने वाले दर्शक को ऐसा लगता था कि बहुत थोडा कार्य हो रहा है परन्तु वस्तुत वहाँ महान् कार्य सम्पन्न हो रहा था।

आयु के बढने के साथ-साथ श्रीभगवान् के दैनिक जीवन मे परिवर्तन आ गया। ज्यो-ज्यो भगवान् का शरीर दुर्बल होता जाता था त्यो-त्यो दैनिक चर्या और प्रतिबन्ध कठोर होते जाते थे। जब श्रीभगवान् अत्यन्त दुर्बल हो गये, उनसे मिलने के लिए कोई निर्धारित समय नही था। दिन हो चाहे रात, हर समय उनसे मिला जा सकता था। सोते समय भी वह भवन के दरवाजे बन्द नही करवाते थे ताकि कोई दर्शनार्थी उनसे मिलने से वंचित न रह जाये। प्राय वह रात को बहुत देर तक भक्तो से बाते करते रहते थे। इन भक्तो मे से कई, सुन्दरेश ऐय्यर की तरह गृहस्थी थे, जिन्हे अगले दिन काम पर जाना होता था। इन भक्तो का ऐसा अनुभव था कि आश्रम मे श्रीभगवान् के साथ एक रात रहने के उपरान्त, निद्रा के अभाव मे उन्हे अगले दिन किसी प्रकार की कोई थकावट अनुभव नही होती थी।

आश्रम का दैनिक जीवन सुव्यवस्थित और नियमित था। व्यवस्था और नियमितता श्रीभगवान् के जीवन के आदर्श थे, जिन्हे उन्होने अपने जीवन मे ढाला था और जिनके पालन के लिए वह दूसरो से कहा करते थे। इस प्रकार आश्रम की प्रत्येक वस्तु स्वच्छ और अपने उचित स्थान पर थी। आश्रम के भवनो की सफेदी की हुई बाहर की दीवारे सूर्य के प्रकाश मे चमकती थी, फर्श इतने स्वच्छ थे कि श्वेत वस्त्रधारी भक्तजन अपने कपडो के मैले होने की चिन्ता किये बिना निस्सकोच वहाँ बैठ सकते थे। भगवान् की शय्या पर बिछी हुई कशीदाकारी की हुई चादरें प्रति दिन बदली जाती थी और हमेशा साफ सुथरी रहती थी और उन्हे ठीक ढग से तह किया जाता था।

सन् १९२६ मे ही भगवान् ने पहाडी की प्रदक्षिणा करना छोड दिया था। आश्रम मे आने वाले लोगो की सख्या प्रति दिन बढ रही थी। उस पर नियत्रण करना सम्भव नही था। जब श्रीभगवान् बाहर जाते तो कोई भी व्यक्ति आश्रम मे रहना पसन्द नही करता था। हर कोई उनके साथ जाना चाहता था। इसके अतिरिक्त, यह भी आशका थी कि श्रीभगवान् के आश्रम मे उपस्थित न होने की स्थिति मे, भक्तगण दर्शनो के लिए आयें और उन्हे वहाँ न पाकर निराश होकर वापस न चले जायं। अनेक अवसरो पर उन्होने इस ओर सकेत किया था कि जो भी व्यक्ति उनके दर्शनो के लिए आये उसे रोका न जाये। श्रीभगवान् कहा करते थे कि वह इसीलिए पहाडी की तलहटी मे रहते हैं और स्कन्दाश्रम नही जाते क्योंकि वहाँ भक्तजन सरलता से नहीं पहुँच सकते। श्रीभगवान् ने न केवल पहाडी का चक्कर लगाना छोड दिया बल्कि चाहे जो भी कारण हो, वह सिवाय प्रात और साय भ्रमण के आश्रम

से कभी भी अनुपस्थित नही रहते थे। रसोई मे कार्य करना भी मुख्यत उन्होने इसीलिए बन्द कर दिया था ताकि सभी भक्त उनके दर्शन कर सके। जब उनसे भारत के पवित्र तीर्थ-स्थानो की यात्रा करने के लिए कहा गया तो उनके इन्कार करने का एक कारण यह भी था कि उनकी अनुपस्थिति मे भक्तजन आश्रम मे आयेंगे और उन्हे निराश होना पडेगा। अपनी अन्तिम बीमारी मे वह अन्त तक इस बात पर बल देते रहे कि उनके दर्शनो के लिए आने वाले सभी भक्तो को उनसे मिलने दिया जाय।

इन वर्षो मे भक्तो को जो अनुभव हुए, श्रीभगवान् ने उन्हे जो उपदेश दिये और उनकी शकाओ का जो समाधान किया, उन सब को यदि सग्रहीत किया जाय तो कई ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। परन्तु इस पुस्तक का उद्देश्य विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करना नही बल्कि श्रीभगवान् के जीवन और उनकी शिक्षाओ का सामान्य चित्र प्रस्तुत करना है।

तेरहवाँ अध्याय

श्रीभगवान् का दैनिक जीवन

दिव्य पुरुषो के चमत्कार या रूपान्तरण की उपेक्षा उनकी दैनिक जीवन-चर्या मे दिव्यत्व के दर्शन करना कही अधिक कठिन है, इसलिए भगवान् और उनके भक्तो की जीवन-पद्धति का वर्णन हमारे लिए अत्यन्त सहायक होगा। यह श्रीभगवान् के जीवन के अन्तिम वर्षो की घटनाओ पर जिनका लेखक ने निकट से निरीक्षण किया है, आधारित है। इसमे वर्णित घटनाएँ अन्य घटनाओ की अपेक्षा अधिक विशिष्ट नही हैं, जिस प्रकार कि इसमे वर्णित भक्त उन भक्तो से श्रेष्ठ नही हैं, जिनका यहाँ वणन नही किया गया।

सन् १९४७ का वप है। भगवान् को तिरुवन्नामलाई मे रहते ५० वर्ष हो गये हैं। वृद्धावस्था के आगमन और स्वास्थ्य क्षीण होने के साथ, प्रतिवन्ध लगा दिये गये हैं और अव श्रीभगवान् से निजी रूप मे तथा हर समय नही मिला जा सकता। रात को वह तख्त पर सोते हैं, जहाँ वह दिन के समय दर्शन देते हैं परन्तु अब दरवाज़े वन्द रखे जाते हैं। प्रारम्भिक वर्षो मे, दिन हो चाहे रात, सभी दर्शनार्थी उनके दर्शन कर सकते थे। पाँच वजे द्वार खुल जाते हैं और प्रात काल दर्शनो के लिए आने वाले भक्त, शान्त भाव से अन्दर प्रवेश करते हैं, श्रीभगवान् के सम्मुख दण्डवत् प्रणाम करते हैं और काले पत्थर के फश पर, जो नित्यप्रति के उपयोग से चिकना और चमकदार हो गया है, वैठ जाते हैं। बहुत-से भक्तजन अपने साथ लाये हुए आसनो पर वैठ जाते हैं। श्रीभगवान ने, जो इतने विनम्र थे, जो तुच्छातितुच्छ व्यक्ति के साथ भी समता के व्यवहार पर वल देते थे, अपने सम्मुख दण्डवत् प्रणाम की कैसे आज्ञा दे दी ? यद्यपि मानवीय दृष्टि से वह सब प्रकार के विशेषाधिकारो के विरोधी थे तथापि वह यह स्वीकार करते थे कि साधना और आध्यात्मिक प्रगति के लिए पार्थिव देहधारी गुरु की पूजा अत्यन्त सहायक है। केवल समर्पण की वाह्य क्रिया ही पर्याप्त नही। एक वार उन्होंने स्पष्टत कहा था, "मनुष्य मेरे आगे दण्डवत् प्रणाम करते हैं, परन्तु मैं जानता हूँ कि हार्दिक समपंण वृत्ति किसमें है।"

आश्रमवासी ब्राह्मणो का एक छोटा-सा दल तख्त के समीप वैठता है और

वेद-मन्त्रो का उच्चारण करता है। एक या दो अन्य ब्राह्मण जो डेढ मील दूर नगर से वहाँ आये हैं, उनके साथ मन्त्र पाठ मे सम्मिलित होते हैं। तख्त के पास अगरबत्तियाँ जल रही हैं, उनकी भीनी-भीनी सुगन्धि सारे वायुमण्डल मे फैल रही है। सर्दियो मे तख्त के पास अँगीठी जलती रहती है, जो हमे उनकी दिनो-दिन क्षीण होती हुई जीवनी-शक्ति का स्मरण कराती है। कभी-कभी वह अपने अत्यन्त सुन्दर क्षीण हाथो और पतली शुण्डाकार अगुलियो को आग पर तापते हैं और अगो मे गरमी पैदा करने के लिए गरम हाथो से शरीर को धीरे धीरे रगडते हैं। सभी भक्तजन शान्त भाव से, प्राय चिन्तन मे आँखें वन्द किये हुए वैठे हुए हैं।

छ बजने से कुछ क्षण पहले मन्त्र-पाठ समाप्त हो जाता है। जैसे ही श्रीभगवान् कोशिश करके तख्त से उठ खडे होते हैं, डण्डे के लिए हाथ वढाते हैं। उनका सेवक उनके हाथ मे डण्डा थमा देता है और वह धीमे-धीमे दरवाजे की ओर पग बढ़ाते हैं सव भक्तजन उठ खडे होते हैं। दुवलता या गिर पडने के भय के कारण श्रीभगवान् नीचे दृष्टि करके नही चलते, सभी जानते हैं कि यह उनकी सहज नम्रता है। वह पहाडी की तरफ, भवन के उत्तरी द्वार से वाहर निकलते हैं और धीरे-धीरे झुक कर डण्डे का सहारा लिये हुए, सफेद दीवारो वाले भोजन-कक्ष और कार्यालय-भवन के वीच के मार्ग से होते हुए, पुरुषो के अतिथि-गृह का चक्कर लगाते हुए, आश्रम भवनो के सुदूर पूर्व मे स्थित गोशाला के पास स्नानगृह की ओर चले जाते हैं। हृष्टपुष्ट, छोटे कद और कृष्ण वर्ण के, घुटनो तक सफेद धोतियाँ धारण किये हुए दो सेवक लम्बे पतले, गेहुँए रग के और केवल सफेद लगोटी धारण किये हुए श्रीभगवान् के पीछे चलते हैं। कभी-कभी किसी भक्त के निकट आने पर या किसी वालक को देखकर हँसने के लिए, वह ऊपर दृष्टि उठाते हैं।

श्रीभगवान् की हास्य छटा अवर्णनीय है। कोई कठोर-हृदय व्यापारी भी जब तिरुवन्नामलाई से प्रस्थान करेगा, उसका हृदय इस हास्य से आन्दोलित हो चुका होगा। एक बार एक सीधी-सादी महिला ने कहा था, "मैं दर्शन का अर्थ नही समझती, परन्तु जब वह मुझे देख कर मुस्कराते हैं, मैं अपने को ऐसे ही सुरक्षित अनुभव करती हूँ जैसे कोई वालक अपने को माँ की गोद मे।" जब मुझे अपनी पाँच साल की पुत्री ने निम्न पत्र भेजा, मैंने श्रीभगवान के दर्शन भी नहीं किये थे, "आपके हृदय में भगवान् के प्रति प्रेम की स्रोतस्विनी बढ़ेगी, जब वह हँसते होंगे प्रत्येक व्यक्ति प्रफुल्लता का अनुभव करता होगा।"

सात वजे नाश्ता होता है। नाश्ते के वाद श्रीभगवान् सैर के लिए जाते हैं और फिर भवन मे वापस आ जाते हैं। इस वीच भवन की सफाई कर ली जाती है और तख्त पर साफ चादरें विछा दी जाती हैं। कई चादरो पर तो

बहुत बढिया कशीदाकारी का काम किया हुआ होता है। यह चादरे भक्तो से भेंट मे मिली होती हैं। सभी चादरें अत्यन्त स्वच्छ होती है और उन्हे बडी सावधानी से बिछाया जाता है क्योकि सेवक जानते हैं कि उनकी दृष्टि बडी तीक्ष्ण है और वह हर चीज को बडी बारीकी से देखते है, चाहे वह इसके सम्बन्ध मे कुछ कहे या न कहे।

आठ बजे तक श्रीभगवान् सभा-भवन मे वापस आ जाते हैं और भक्तो का आना शुरू हो जाता है। नौ बजे तक सभा-भवन भर जाता है। अगर आप नवागन्तुक हैं, आप सम्भवत अनुभव करते हैं कि सभा-भवन जाना पहचाना है। आप स्वय को श्रीभगवान् के अत्यन्त निकट अनुभव करते हैं। सभा-भवन का सम्पूर्ण क्षेत्र ४० फुट × १५ फुट है। यह पूर्व और पश्चिम मे फैला हुआ है, लम्बाई की ओर हर तरफ दरवाजा है। उत्तर की ओर का दरवाजा जिस तरफ पहाडी है, वृक्षाच्छादित वर्गाकार स्थान की ओर खुलता है, जिसके पूर्व की ओर भोजन-कक्ष है और जिसके पश्चिम की ओर वाटिका तथा डिसपेंसरी हैं। दक्षिण की ओर के दरवाजे से मन्दिर को जाते हैं और इससे परे सडक है, जिस तरफ से भक्त जन आते हैं। तख्त सभा-भवन के पूर्वोत्तर मे है। इसके पास एक घूमने वाली पुस्तको की अलमारी है, जिसमे वह पुस्तकें हैं जिनकी अक्सर माँग रहती है और इस पर एक घडी रखी है, दूसरी घडी तख्त के पास दीवार पर टँगी है, दोनो घडियाँ बिलकुल ठीक समय देती हैं।

अगर निर्देश के लिए किसी पुस्तक की आवश्यकता होती है तो श्रीभगवान् को तुरन्त पता चल जाता है कि यह कौन से खाने मे है। उन्हे प्राय निर्देशित पैरे का पृष्ठ भी ज्ञात होता है। दक्षिणी दीवार के सहारे बडी-बडी पुस्तकें रखने की शीशे की अलमारियाँ हैं।

अधिकाश भक्त श्रीभगवान् की ओर अर्थात् पूव की ओर मुंह करके सभा-भवन के बीच में बैठते हैं। सभा-भवन के उत्तरी आधे भाग मे महिलाएँ उनके सामने बैठती हैं, पुरुप उनके बाईं ओर बैठते हैं। कुछ थोडे से पुरुप तख्त के निकट बैठते हैं, उनकी पीठ दक्षिणी दीवार की ओर होती है और वह दूसरो की अपेक्षा श्रीभगवान् के अधिक निकट होते हैं। कुछ वर्प पूव महिलाओ को यह विशेपाधिकार प्राप्त था, फिर किसी कारणवश स्थान-परिवर्तन कर दिया गया। हिन्दू-परम्परा के अनुसार पुरुपो और महिलाओ को पृथक्-पृथक् बैठना चाहिए। श्रीभगवान् इसे स्वीकार करते हैं, क्योकि उनका विचार है कि स्त्री-पुरुपो के पारस्परिक आकर्पण से महान् आध्यात्मिक आकर्पण विक्षुब्ध हो सकता है। सभा-भवन को छोड कर अन्यत्र स्त्री-पुरुप एक दूसरे मे स्वतन्त्रतापूवक मिल सकते हैं।

सभा-भवन मे अगरबत्तियाँ जल रही हैं। कई भक्तजन आँखें बन्द करके चिन्तन में बैठे हुए हैं, दूसरे विश्राम कर रहे हैं और श्रीभगवान् की ओर देख रहे हैं। एक दर्शक श्रीभगवान् की प्रशसा मे स्वरचित गीत गाता है। सुदूर यात्रा से वापस आने वाला एक भक्त श्रीभगवान् के चरणो में फलों की भेंट चढाता है और फिर उनके सामने बैठ जाता है। एक सेवक श्रीभगवान् के प्रसाद के रूप मे भेंट का कुछ हिस्सा भक्त को वापस दे देता है, कुछ प्रसाद सभा-भवन मे आने वाले बच्चो मे बाँट दिया जाता है। तख्त के पास खिडकी में बैठे हुए या दरवाजे के पास ताक-झाँक करने वाले बन्दरों, मोरो या अगर लक्ष्मी गौ वहाँ उपस्थित हो तो उसे भी प्रसाद दे दिया जाता है। शेष प्रसाद भोजन-कक्ष में बैठे भक्तो में बाँट दिया जाता है।

श्रीभगवान् अपने लिये कुछ स्वीकार नही करते। उनकी दृष्टि में अवर्णनीय कोमलता है। उनके हृदय में न केवल भक्तों के तात्कालिक कष्टों के प्रति अपितु समस्त ससार के प्रति सहानुभूति है। परन्तु इस कोमलता के बावजूद उनके चेहरे की रेखाओं से उस व्यक्ति की कठोरता द्योतित होती है जिसने हमेशा विजयश्री प्राप्त की है और कभी समझौता नही किया। उनकी यह कठोरता प्राय सफेद बालो मे छिप जाती है, क्योकि सन्यासी हर पूणमासी को चेहरे और सिर की हजामत करवाते हैं। बहुत से भक्त उनकी हजामत को पसन्द नही करते क्योकि चेहरे और सिर पर सफेद बालो की वृद्धि से भगवान् की कोमलता और आकषण में बहुत अधिक वृद्धि होती है, परन्तु कोई श्रीभगवान् से इसका जिक्र नही करता।

उनका चेहरा, जल के सदृश है, सदा परिवर्तनशील परन्तु सदा एक-रस। यह बडे आश्चय का विषय है कि किस प्रकार शीघ्रता से श्रीभगवान् में कोमलता के स्थान पर चट्टान की सी दृढ़ता और हँसी के स्थान पर करुणा के भाव का आविर्भाव हो जाता है। कोमलता और कठोरता का प्रत्येक पक्ष इतना पूर्ण होता है कि व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है कि यह एक व्यक्ति का नही बल्कि समस्त मानव जाति का चेहरा है। तकनीकी दृष्टि से श्रीभगवान् भले ही सुन्दर प्रतीत न हो क्योकि उनकी मुखाकृति सुघड नहीं है परन्तु सर्वाधिक सुन्दर चेहरा भी उनके सामने फीका पड जाता है। उनके चेहरे मे ऐसी वास्तविकता है कि इसकी छाप स्मृति-पटल पर गहरी पडती है जब कि अन्य स्मृतियाँ धुँधली पड जाती हैं। जिन लोगो ने उन्हें केवल थोडी देर के लिए या केवल फोटो में देखा है, उनके मनश्चक्षुओं के आगे भी, उन व्यक्तियो की अपेक्षा जिन्हें वह अच्छी तरह जानते हैं, श्रीभगवान् का चित्र अधिक स्पष्टता से उभर कर आता है। वस्तुत इसका कारण यह हो सकता है कि उनके मुखमण्डल पर प्रेम, कृपालुता, प्रज्ञा, सद्भावना और बाल-सुलभ सरलता

के जो भाव अंकित हैं, उनसे चिन्तन के लिए शब्दो की अपेक्षा अधिक प्रेरणा मिलती है।

तख्त के चारो ओर, इससे कुछ फीट की दूरी पर लगभग १८ इंच ऊँचा जंगला है जिसे इधर-उधर हटाया जा सकता है। पहले इसके सम्बन्ध मे कुछ विवाद भी हुआ था। आश्रम के प्रबन्धको का ऐसा अनुभव था कि श्रीभगवान् सामान्यत चरण-स्पर्श किया जाना पसन्द नही करते। अगर कोई ऐसा करने की चेष्टा करता है तो वह पीछे हट जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक बार एक मार्गभ्रष्ट भक्त ने श्रीभगवान् की उपस्थिति मे एक नारियल तोडा और वह इसका जल उनके सिर पर डाल कर उनका सम्मान करना चाहते थे। इसलिए आश्रम के प्रबन्धको ने जंगला लगाने का निर्णय किया। दूसरी ओर अनेक भक्तो ने ऐसा अनुभव किया कि यह भक्तो और भगवान् के मध्य व्यवधान उपस्थित करना है। श्रीभगवान् के सम्मुख ही यह विवाद होने लगा कि क्या उन्होने इस बात की स्वीकृति दी है। परन्तु किसी को भी उनसे इसके निर्णय के लिए कहने का साहस न हुआ। भगवान् स्थिर भाव से बैठे रहे।

कुछ भक्त अपने स्थानो से बिना उठे, भगवान् से अपने या अपने मित्रो के सम्बन्ध मे बातचीत करते हैं, अनुपस्थित भक्तो की उन्हे सूचना देते हैं और सैद्धान्तिक प्रश्न पूछते हैं। प्रत्येक को ऐसा अनुभव होता है जैसे वह एक विशाल परिवार का सदस्य हो। यदि किसी को उनसे व्यक्तिगत बात करनी है, वह उठ कर भगवान् के तख्त के पास जाता है और धीमे-धीमे उनसे बात करता है या उन्हे कागज का वह पुर्जा देता है, जिस पर उसने कुछ लिख रखा है। शायद वह अपने प्रश्न का उत्तर चाहता है, या केवल भगवान् को सूचित करना चाहता है और उसे विश्वास है कि सब शुभ होगा।

एक माँ अपने छोटे बच्चे को भगवान् के पास ले आती है। वह इसे देखते ही माँ की अपेक्षा अधिक कृपालु भाव से मुस्करा देते हैं। एक छोटी लडकी अपनी गुडिया लेकर आती है, इसे तख्त के सामने लिटा कर रख देती है और फिर भगवान् को दिखाती है, वह इसे हाथ मे ले लेते हैं और देखते हैं। एक बन्दर दरवाजे मे चुपके मे आ जाता है और केला छीन ले जाने की कोशिश करता है। सेवक बन्दर का पीछा करता है, परन्तु वहाँ एक सेवक होने के कारण, बन्दर दौड कर सभा भवन के दूसरे कोने पर पहुँच जाता है और फिर दूसरे दरवाजे से अन्दर आ जाता है। श्रीभगवान् धीमे से उससे कहते हैं "जल्दी करो, जल्दी करो! वह फिर वापस आ जायेगा।" एक गेरुआ वस्त्र धारी जटाधारी साधु जो शकल से असभ्य लगता है, हाथ ऊपर उठाये हुए तख्त के सामने खडा हुआ है। सूट धारी एक समृद्ध नागरिक श्रीभगवान् के सम्मुख सुन्दर ढंग से दण्डवत् प्रणाम करता है और आगे बैठ जाता है।

उसका साथी, जिसे उसकी भक्ति मे विश्वास नही है, साष्टाग प्रणाम नही करता।

पण्डितो का एक दल तख्त के समीप बैठा हुआ एक सस्कृत ग्रन्थ का अनुवाद कर रहा है और किसी बात का स्पष्टीकरण करने के लिए बार-बार उठ कर श्रीभगवान् के पास जाता है। एक तीन साल का बच्चा दूसरो से पीछे नही रहना चाहता, वह अपनी कहानियो की पुस्तक लेकर श्रीभगवान् के पास पहुँच जाता है। श्रीभगवान् उसके हाथ से अनुग्रहपूर्वक पुस्तक ले लेते हैं और दिलचस्पी के साथ इसके पन्ने पलटते जाते हैं। परन्तु यह पुस्तक तो फटी हुई है, वह इसे जिल्द बन्दी के लिए एक सेवक को दे देते हैं। अगले दिन बालक को जिल्द बँधी पुस्तक मिल जाती है।

सेवक भी अत्यन्त परिश्रमी है। उसे परिश्रमी होना भी चाहिए क्योकि श्रीभगवान् की दृष्टि स्वय बडी पैनी है, वह हर काम बडी सफाई से करते हैं और किसी काम मे ढील सहन नही करते। सेवक ऐसा अनुभव करते हैं कि उन्हें भगवान् का विशेष अनुग्रह प्राप्त है। पण्डित भी इसी प्रकार अनुभव करते हैं। तीन वर्ष का बालक भी ऐसा अनुभव करता है। भिन्न-भिन्न विचारो और चरित्रों के सभी भक्तजन श्रीभगवान् द्वारा तुरन्त प्रत्युत्तर के कारण ऐसा अनुभव करते हैं कि उन्हे भगवान् का विशेष सान्निध्य और अनुग्रह प्राप्त है।

धीरे-धीरे व्यक्ति को श्रीभगवान् के मार्गदर्शन की सूक्ष्मता, दक्षता तथा मानवीय सस्पर्श का बोध होता है। उनका मार्गदर्शन अदृश्य होता है। उनके लिए सब खुली पुस्तकें हैं। वह किसी शिष्य की ओर, यह जानने के लिए कि चिन्तन में वह कैसी प्रगति कर रहा है, भेदक-दृष्टि डालते हैं। कई बार किसी भक्त पर उनकी आँखें गडी रहती हैं मानो वह अपनी दयालुता की प्रत्यक्ष शक्ति की धारा उसमे प्रवाहित कर रहे हो। यह सब बातें यथासम्भव सामान्य रूप मे होती हैं ध्यानापकर्षण के लिए, श्रीभगवान् एक तरफ देखने लगते हैं, समाचार पत्र पढने के दौरान श्रीभगवान् किसी भक्त की ओर स्थिर दृष्टि से देखने लगते हैं या जब भक्त स्वय आँखें बन्द किये हुए चिन्तन कर रहा हो और उसे कुछ ज्ञात न हो, वह स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देखने लगते हैं। शायद इसका कारण यह हो कि वह इस प्रकार दोहरे खतरे से बचना चाहते हो अर्थात् दूसरे भक्तो मे ईर्ष्या भाव और भगवान् के कृपा-भाजन में अभिमान की भावना पैदा न हो।

नवागन्तुक का विशेष ध्यान रखा जाता है, भक्त भी इसके अभ्यस्त हो चुके हैं। जब भी वह सभा-भवन मे प्रवेश करता है, हर बार उसका मुस्कराकर स्वागत किया जाता है, चिन्तन के समय उसका ध्यान से निरीक्षण किया जाता है और मैत्रीपूर्ण बातों से उसे प्रोत्साहन दिया जाता है। यह प्रक्रिया

कुछ दिनो, सप्ताहो या महीनो तक जारी रह सकती है जब तक कि उसमे चिन्तन की ज्योति प्रज्वलित नही हो जाती या वह भगवान् के स्नेह-बन्धन मे नही बँध जाता। परन्तु मानवीय प्रकृति इस प्रकार की है कि सम्भवत अधिक ध्यान दिये जाने के कारण उस नवागन्तुक मे अहभाव पैदा हो जाता है और वह अपने को अन्य भक्तो से श्रेष्ठ समझने लगता है। इसे केवल वह नवागन्तुक और भगवान् ही जानते हैं। और फिर थोडे समय के लिए उसकी उपेक्षा कर दी जाती है, जब तक कि उसमे गहन चिन्तन की प्रवृत्ति उत्पन्न नही हो जाती। दुर्भाग्यवश सदा ऐसा नही होता, कभी-कभी नवागन्तुक मे यह अभिमान बना रहता है कि उसे श्रीभगवान् का विशेष अनुग्रह प्राप्त है।

साढ आठ बजे के लगभग श्रीभगवान् के पास समाचार-पत्र लाये जाते हैं। जब उनसे प्रश्न नहीं पूछे जा रहे होते, वह कुछ समाचार-पत्र खोलते और उन्हें देखते हैं, किसी दिलचस्प विषय पर अपनी सम्मति देते हैं, परन्तु राजनीतिक दृष्टि से नही। कई समाचार-पत्र सीधे आश्रम के नाम से भेजे जाते हैं। कई पत्र भक्तजन मँगाते हैं। परन्तु श्रीभगवान् द्वारा स्पर्श किये गये समाचार-पत्र को पढने के कारण प्राप्त आनन्द के लिए वह पहले उनके पास भेजे जाते हैं। जब समाचार-पत्र किसी का निजी होता है तो वह बडी दक्षता से इसे आवरण मे से निकालते हैं और पढने के बाद फिर उसी प्रकार इसमे रख देते हैं।

नौ पचास से लेकर लगभग साढे दस बजे तक श्रीभगवान् पहाडी पर सैर किया करते थे, परन्तु इन कुछ अन्तिम वर्षों में उनका शरीर अत्यन्त क्षीण हो चुका है और वह आश्रम की भूमि मे चहलकदमी कर लेते हैं। जब वह सभाभवन छोडते हैं तब गहन चिन्तन मे लीन व्यक्तियो को छोडकर सभी उठ खडे होते हैं। इस अवकाश के समय वह इकट्ठे होते हैं और छोटे-छोटे दलो में वार्तालाप करते हैं—पुरुष और महिलाएँ परस्पर मिलते हैं, क्योकि वह केवल सभा-भवन मे ही एक दूसरे से पृथक् होकर बैठते हैं। कई भक्त समाचार-पत्र पढते हैं, दूसरे डाक बाबू राजा से जो छोटे कद का अत्यन्त कार्य कुशल व्यक्ति है और प्रत्येक के सम्बन्ध मे अच्छी जानकारी रखता है, अपनी डाक लेते हैं।

श्रीभगवान् सभा-भवन मे पुन प्रवेश करते हैं और अगर वहाँ बैठे हुए व्यक्ति उठने लगते हैं तो वह उन्हे बैठे रहने का सकेत करते हैं। "अगर आप सभा-भवन मे मेरे प्रवेश करने पर उठ खडे होते हैं तो आपको प्रत्येक व्यक्ति के प्रवेश पर खडा होना चाहिए।" यह केवल परम्परागत लोकतत्र ही नही है इससे कुछ अधिक है। मूर्तिमान भगवान् श्रीभगवान् सबमे भगवान् के दर्शन करते हैं। एक बार गर्मी के महीनो मे, उनके पास खिडकी मे बिजली

का पखा रखा गया। उन्होने सेवक से पखा वन्द करने के लिए कहा और जब वह नही माना तो वह स्वय पखे के पास पहुँचे और उन्होने प्लग वाहर खीच लिया। भक्तजन भी विक्षुब्ध थे, अकेले उन्हें ही पखा क्यो दिया जाये ! वाद मे छत के पखे लगाये गये और सबको समान रूप से लाभ पहुँचा।

अब श्रीभगवान् के आगे डाक रखी जाती है। एक पत्र पर केवल इतना पता लिखा है, 'महर्षि, इण्डिया।' एक भक्त ने अमरीका से आश्रम के बगीचे के लिए फूलो के वीज भेजे हैं। ससार के सभी भागो से भक्तो के पत्र आते रहते हैं। श्रीभगवान् हर पत्र को ध्यान से पढ़ते हैं, उसके पते और डाक मुहर पर टिप्पणी करते हैं। अगर किसी भक्त ने, जिसके मित्र सभा-भवन मे उपस्थित हैं, कोई समाचार भेजा है, तो वह सबको समाचार पढ कर सुनाते हैं। वह स्वय पत्रो का उत्तर नहीं देते। इससे ज्ञानी के दृष्टिकोण का पता चलता है, उसके कोई सम्बन्ध नहीं होते, हस्ताक्षर करने के लिए कोई नाम भी नही होता। पत्रों के उत्तर आश्रम के कार्यालय मे लिखे जाते हैं और मध्याह्नोत्तर श्रीभगवान् के पास भेज दिये जाते हैं। अगर पत्रो मे कोई अनुपयुक्त वात होती है तो वह उसकी ओर सकेत कर देते हैं। अगर उत्तर मे किसी विशेष या वैयक्तिक वात का उल्लेख आवश्यक होता है, तो वह इसकी ओर निर्देश कर देते हैं परन्तु उनकी समस्त शिक्षा इतनी स्पष्ट है कि भक्त इसे सरलता-पूवक शब्दश दोहरा सकता है—शब्दों के पीछे निहित अनुग्रह ही श्रीभगवान् दे सकते हैं।

पत्रो के उत्तर के वाद, सभी लोग शान्तिपूर्वक वैठ जाते हैं, परन्तु इस मौन मे तनाव नही होता, यह शान्ति से ओत-प्रोत होता है। शायद कोई भक्त उनसे विदा लेने आया है, आश्रम परित्याग के विचार से अश्रुपूरित-लोचना कोई महिला उनके समीप खडी है और भगवान् के प्रकाशमान नेत्र शक्ति और प्रेम की वर्षा कर रहे हैं। उन नेत्रो का वणन हमारी शक्ति से परे है। उनकी ओर देखने से व्यक्ति को ऐसा अनुभव होता है, जैसे ससार का समस्त दु ख, व्यक्ति के सभी गत सघर्ष, मन की सभी समस्याएँ दूर हो जाती हैं और व्यक्ति परम शान्ति का अनुभव करने लगता है। शब्दो की कोई आवश्यकता नही, उनका अनुग्रह व्यक्ति के हृदय को आन्दोलित कर देता है और इस प्रकार वाह्य गुरु व्यक्ति को अन्तर गुरु के ज्ञान की ओर प्रेरित करता है।

ग्यारह वजे मध्याह्न भोजन के लिए आश्रम का शख वजता है। सब लोग उठ खडे होते हैं और श्रीभगवान् सभा-भवन छोड कर चले जाते हैं। अगर कोई साधारण दिन होता है तो भक्तजन अपने घरो को चले जाते हैं। शायद यह कोई त्यौहार या किसी भक्त द्वारा भेंट या धन्यवाद के रूप मे

दी हुई भिक्षा का अवसर है और सभी को भोजन के लिए निमन्त्रित किया गया है।

सेवक और ब्राह्मण महिलाएँ पक्तियो मे बैठे हुए भक्तो को पत्तलो पर चावल, चटनी और सब्जी परोसते हैं। सभी व्यक्ति श्रीभगवान् द्वारा भोजन प्रारम्भ करने की प्रतीक्षा कर रहे है। जब तक सबको भोजन नही परोस दिया जाता श्रीभगवान् भोजन शुरू नही करते। सभी लोग दत्तचित्त होकर भोजन करते हैं, पश्चिम की तरह, भोजन के समय वार्तालाप नही होता। एक अमरीकी महिला, जिनके लिए भारतीय रीति-रिवाजो का पालन करना कठिन है, अपने साथ एक चम्मच लायी है। एक सेवक इन महिला की पत्तल पर कुछ सब्जियाँ रखता है और उनसे कहता है कि श्रीभगवान् के आदेशानुसार, यह विशेष रूप से तैयार की गयी हैं और इनमे गरम मसाले नहीं डाले गये जैसे कि सामान्यत डाले जाते हैं। शेष सब लोग हाथो से भोजन खाने मे निमग्न है। सेवक पक्तियो के बीच मे चलते हैं और पानी, छाछ, फल या मिठाई बाँटते हैं। श्रीभगवान् बडे क्रोध से एक सेवक को वापस अपने पास बुलाते है। जब कोई व्यक्ति असावधानी बरतता है तो उन्हे क्रोध आ जाता है। सेवक हर पत्तल पर चौथाई आम रख रहा है और उनकी पत्तल पर उसने आधा आम रख दिया है। वह इसे वापस रख देते हैं और सबसे छोटा टुकडा उठा लेते हैं।

एक-एक करके सब लोग खाना समाप्त कर लेते है। जैसे-जैसे कोई खाना समाप्त करता जाता है वैसे-वैसे वह उठता जाता है और घर जाने से पहले बाहर टोटी पर हाथ धोने के लिए रुकता है।

दो बजे तक श्रीभगवान् विश्राम करते हैं और सभा-भवन भक्तो के लिए बन्द कर दिया जाता है। आश्रम के प्रबन्धको ने निणय किया था कि उनके क्षीण स्वास्थ्य के कारण मध्याह्न विश्राम आवश्यक है, परन्तु यह कैसे हो। अगर उनसे कोई ऐसी सुविधा स्वीकार करने के लिए कहा जाता जिससे भक्तो को असुविधा होती तो वह सम्भवत इसका विरोध कर देते। यह खतरा मोल न लेकर उन्होने अनधिकृत रूप से यह परिवर्तन करने का निणय किया और भक्तो से निजी रूप से प्रार्थना की कि वह उस समय सभा-भवन मे प्रवेश न किया करें। कुछ दिन तक तो यह प्रबन्ध ठीक से चलता रहा। एक दिन का जिक्र है नवागन्तुक जो इस नियम से परिचित नही था, मध्याह्न भोजन के बाद अन्दर चला गया। एक सेवक ने उससे बाहर आने का सकेत किया परन्तु श्रीभगवान् ने उसे वापस बुला लिया और पूछा क्या बात है। अगले दिन मध्याह्न भोजन के बाद श्रीभगवान् को सभा-भवन के बाहर सीढियो पर बैठे हुए देखा गया और जब सेवक ने उनसे इस सम्बन्ध मे पूछा तो उन्होंने कहा,

"ऐसा लगता है कि दो बजे तक किसी को सभा-भवन मे नही आने दिया जाता।" बडी कठिनाई से श्रीभगवान् को विश्राम के लिए मनाया गया।

मध्याह्नोत्तर सभा-भवन मे नये चेहरे दिखायी देते हैं क्योकि बहुत कम भक्त सारा दिन वहाँ बैठते हैं। जो लोग आश्रम के निकट रहते हैं। उन्हें भी प्राय गृहस्थी के या अन्य काय सम्पन्न करने होते हैं और कइयो को कुछ निश्चित समय के लिए काय पर जाना पडता है।

श्रीभगवान्, प्रश्नो का उत्तर देने के अतिरिक्त, कभी भी सिद्धान्त के सम्बन्ध मे बात नही करते या बहुत कम बात करते हैं। और जब वह प्रश्नो का उत्तर देते हैं तो वह धर्माध्यक्षो की सी गम्भीरता मे नही, अपितु वार्तालाप के रूप मे प्राय हास-परिहास के साथ उत्तर देते हैं। चूकि वह ऐसा कहते हैं, इसलिए यह जरूरी नहीं कि प्रश्नकर्त्ता उसे स्वीकार कर ले, जब तक वह पूरी तरह आश्वस्त न हो जाये, वह उनसे विचार-विमश कर सकता है। एक थियोसोफिस्ट श्रीभगवान् से प्रश्न करता है कि क्या वह अदृश्य शिक्षको की खोज को स्वीकृति प्रदान करते हैं। वह व्यग्य करते हुए कहते हैं, "अगर वह अदृश्य हैं तो आप कैसे उन्हें देख सकते हैं ?" थियोसोफिस्ट का उत्तर है, "चेतनता मे।" इस पर श्रीभगवान् कहते है, "चेतनता मे कोई भेद-भाव नहीं होता।"

एक दूसरे आश्रम का व्यक्ति प्रश्न करता है, "क्या मेरा यह कथन ठीक है कि अन्तर केवल यह है कि आप ससार को वास्तविक नही समझते जब कि हम इसे वास्तविक समझते हैं।"

श्रीभगवान् विवाद से बचने के लिए परिहास करते हुए कहते हैं, "इसके विरुद्ध, चूँकि हम कहते हैं सत्ता एक है, हम ससार को पूर्ण वास्तविकता प्रदान करते है, और सबसे बडी बात यह है कि हम भगवान् को पूण वास्तविकता प्रदान करते हैं, परन्तु यह कहकर कि सत्ताएँ तीन हैं, आप ससार को केवल एक-तिहाई वास्तविकता प्रदान करते हैं और भगवान् को भी एक-तिहाई।"

हर काई इस हँसी मे सम्मिलित होता है परन्तु इसके बावजूद कई भक्त आगन्तुक के साथ विवाद करने लगते हैं और फिर श्रीभगवान् कहते हैं, "इस प्रकार के वाद-विवादो से कोई बहुत लाभ नहीं होता।"

सिद्धान्तवादी और तार्किक दाशनिक इस प्रकार के वाद-विवाद पसन्द करते हैं और लोगो को इस गलत विश्वास की ओर ले जाते हैं कि वह एक शिक्षक की शिक्षा का दूसरे शिक्षक की शिक्षा के साथ विरोध प्रकट कर रहे हैं, परन्तु वस्तुत ऐसा नही है। सिद्धान्त शिक्षा नही है बल्कि वह मानसिक आधार है जहाँ से आध्यात्मिक शिक्षा का व्यावहारिक काय सचालित होता है और इसीलिए भिन्न तथा प्रत्यक्षत सघर्षरत सिद्धान्त आध्यात्मिक मार्ग के

विभिन्न रूपो के आधार बन सकते हैं। परन्तु यह सब एक ही लक्ष्य की ओर ले जाते हैं, उस लक्ष्य की ओर जो विचारातीत है और जिसका वर्णन शब्दो की शक्ति से परे है। आध्यात्मिक शिक्षक सैद्धान्तिक वाद-विवाद को प्रोत्साहन नही देता और इसकी सर्वथा उपेक्षा कर देता है। बुद्ध ने व्यर्थ के सैद्धान्तिक प्रश्नो का उत्तर देने से इन्कार कर दिया और कुरान व्यर्थ की मगजपच्ची के विरुद्ध चेतावनी देता है। बाद की पीढियो मे जब आध्यात्मिक अग्नि की ज्वाला मन्द पड जाती है, व्याख्याताओ को सिद्धान्त का मार्ग सरल दिखायी देता है। सिद्धान्त को वास्तविक शिक्षा बता कर वह बहुत हानि पहुँचाते हैं।

भगवान् के पुराने शिष्य बहुत कम प्रश्न पूछते हैं, कई तो बिलकुल ही नही पूछते। प्राय नवागन्तुक ही प्रश्न करते हैं और उन्हे उनके उत्तर दिये जाते हैं। ये उत्तर शिक्षा नही हैं, ये तो केवल शिक्षा का साइनबोर्ड हैं।

अगर श्रीभगवान् से प्रश्न अग्रेजी मे किये जाते हैं तो वह एक दुभाषिये के माध्यम से उत्तर देते हैं। यद्यपि वह धाराप्रवाह अग्रेजी नही बोल सकते वह सब कुछ समझते हैं। अगर कही-थोडी सी भी अशुद्धि होती है तो वह दुभाषिये को टोकते हैं।

यद्यपि श्रीभगवान् के उत्तर सैद्धान्तिक दृष्टि से एक जैसे होते हैं परन्तु प्रश्नकर्ता को दृष्टि मे रखते हुए उनमे बहुत भेद होता है। एक ईसाई मिशनरी ने पूछा, "क्या भगवान् वैयक्तिक है ?" और श्रीभगवान् ने अद्वैत के सिद्धान्त के साथ समझौता किये बिना, उसके लिए उत्तर को सरल बनाने का प्रयास किया "हाँ, वह सदा उत्तम पुरुष होता है, 'मैं' तुम से हमेशा पहले आता है। अगर आप सासारिक वस्तुओ को महत्त्व देंगे, तो भगवान् पृष्ठभूमि मे चला जायेगा, अगर आप अन्य सब का परित्याग कर देंगे और केवल उसी की खोज करेंगे, वही केवल मैं, आत्मा के रूप मे विराजमान रहेगा।"

क्या मिशनरी को यह याद आया होगा कि यही नाम है जिसकी घोषणा भगवान् ने मूसा के माध्यम से की। श्रीभगवान् कभी-कभी 'मैं हूँ' की श्रेष्ठता का दिव्य नाम के रूप मे प्रतिपादन किया करते थे।

पौने पाँच बजे हैं। श्रीभगवान् अपने कठोर घुटनो और टाँगो की मालिश करते हैं और डण्डे के लिए हाथ बढाते हैं। कई बार उन्हे इसके लिए तख्त से दो या तीन बार उठना पडता है परन्तु वह किसी की सहायता स्वीकार नही करते। उनकी बीस मिनट की अनुपस्थिति के दौरान सभा-भवन मे फिर सफाई की जाती है और तख्त पर चादरो को ठीक ढग से रख दिया जाता है।

सभा-भवन मे श्रीभगवान् के लौटने के दस या पन्द्रह मिनट बाद वेदमन्त्रो का पाठ शुरू हो जाता है। उसके बाद उपदेश सारम्—श्रीभगवान् की 'तीस

पदो मे शिक्षा'—का पाठ प्रारम्भ होता है। वेद मन्त्री का पाठ लगभग पैंतीस मिनट तक चलता है। वेद मन्त्री के पाठ के समय प्राय ऐसा होता है कि श्रीभगवान् शान्त होकर बैठ जाते हैं, उनका चेहरा शाश्वत, स्थिर और आभामय दृष्टिगोचर होता है मानो कोई प्रस्तर प्रतिमा हो। इसके बाद साढे छ बजे तक सब लोग बैठते हैं और इस समय महिलाओ का आश्रम से जाने का समय हो जाता है। कई पुरुष एक घण्टा और आश्रम मे रुक जाते हैं, प्राय वह मौन धारण किये रहते हैं, कभी-कभी बातें भी करते हैं, तमिल गीत भी गाते हैं। इसके बाद सायकाल का भोजन होता है और भक्तजन विदा हो जाते हैं।

आश्रम का भी सायकालीन सत्र विशेष महत्त्वपूण होता है क्योकि इसमे प्रात कालीन मन्त्र पाठ की गम्भीरता के साथ-साथ मैत्रीपूण वार्तालाप भी सम्मिलित होता है। परन्तु जो ज्ञानी हैं, उनके लिए सदैव गम्भीरता विद्यमान है, उस समय भी जब कि श्रीभगवान् हँस रहे होते हैं और हास-परिहास कर रहे होते हैं।

सेवक प्रलेप लेकर श्रीभगवान् की टाँगो की मालिश करने के लिए आता है परन्तु वह इसे उसके हाथ से ले लेते हैं। लोग बहुत उत्तेजित हो उठते है। परन्तु वह अपने निषेध को भी हास मे परिवर्तित कर देते हैं, "आपने दशन और भाषण से अनुग्रह प्राप्त किया और अब आप स्पश द्वारा अनुग्रह प्राप्त करना चाहते हैं? मुझे स्वय स्पश द्वारा कुछ अनुग्रह प्राप्त कर लेने दीजिये।"

यह उनके परिहास की तुच्छ-सी प्रतिछवि है जिसे कागज पर अकित किया जा सकता है। हास-परिहास और व्यग्य में भी वह अपने विचार प्रकट करते हैं। अत्यन्त आकषक ढग से जब वह कोई कहानी कहते थे, वह पूरे अभिनेता बन जाते थे और उसके पाट को इस प्रकार प्रस्तुत करते थे मानो वह स्वय अभिनेता हो। जो लोग उनकी भाषा नही समझते थे, वह भी उनके इस अभिनय को देख कर अत्यन्त विस्मित हो उठते थे। वास्तविक जीवन का भी वह अभिनय करते थे और वास्तविक जीवन मे भी हास-परिहास से गहन सहानुभूति की ओर परिवर्तन इतना ही शीघ्र होता था।

प्रारम्भिक दिनों मे भी, जब उनके सम्बन्ध में ऐसा खयाल किया जाता था कि वह प्रत्येक वस्तु के प्रति उदासीन हैं, उनमें हास-परिहास की प्रबल भावना विद्यमान थी। उन्होंने कई परिहासो के सम्बन्ध में तो बाद के वर्षो मे बताया। एक बार का जिक्र है कि उनकी माँ और अन्य भक्तजन पवजहाकुनरू मे श्रीभगवान् के दशनो के लिए आये। जब यह लोग नगर मे भोजन के लिए जाने लगे तो उन्होंने इस डर से कि कही वह भाग न जाएँ, बाहर से दरवाजे की चटखनी लगा दी। श्रीभगवान् यह जानते थे कि दरवाजे की चटखनी लगी

होने के बावजूद, इसे उसके कब्जो से अलग करके खोला जा सकता है। इसलिए भीड और शोर से बचने के लिए जब सब लोग बाहर गये हुए थे, वह खिसक गये। वापस लौटने पर लोगो ने देखा कि दरवाजा बन्द है और चटखनी लगी है, परन्तु कमरा खाली है। बाद मे, जब कोई वहाँ नही था, वह अन्दर आ गये। वह लोग श्रीभगवान् के सामने एक दूसरे से इस बात की चर्चा करने लगे कि किस प्रकार वह बन्द दरवाजे से बाहर निकल गये और फिर सिद्धि के बल पर अन्दर आ गये। परन्तु उनके चेहरे पर जरा भी स्पन्दन नही हुआ। कुछ वर्षो बाद जब उन्होंने लोगो को यह कहानी सुनाई तो सारा सभा-भवन हँसी से गूँजने लगा।

बडे वार्षिक त्यौहारो के सम्बन्ध मे भी मैं यहाँ कुछ चर्चा कर दूं। अधिकाश भक्त स्थायी रूप से तिरुवण्णामलाई मे नही रह सकते थे और कभी-कभी ही वह वहाँ आ सकते थे। इसलिए सार्वजनिक अवकाश के दिनो मे, विशेषत कार्तिकी, दीपावली, महापूजा (माता के स्वर्गारोहण का उत्सव) और जयन्ती (श्रीभगवान् का जन्मदिन) के अवसर पर वहाँ बहुत भीड रहा करती थी। इन सब त्यौहारो मे जयन्ती सबसे बडा त्यौहार था और इसमे सबसे अधिक लोग भाग लेते थे। सर्वप्रथम वह जयन्ती समारोह मनाने के पक्ष मे बिलकुल नही थे। उन्होने निम्न पद की रचना की थी

> तुम जो जन्म-दिन मनाना चाहते हो, अपने से पहले यह पूछो कि तुम्हारा जन्म कहाँ से हुआ है। व्यक्ति का सच्चा जन्म-दिन तब होता है जब वह उस शाश्वत सत्ता मे प्रवेश करता है, जो जन्म और मृत्यु से परे है।
>
> कम से कम अपने जन्म-दिन के अवसर पर व्यक्ति को इस ससार मे प्रवेश के सम्बन्ध मे शोक मनाना चाहिए। जन्म-दिन के अवसर पर खुशियाँ मनाना ऐसे है जैसे शव को सजाने मे खुशियाँ मनाना। अपनी आत्मा को पहचानना और उसमे लय होना सच्ची बुद्धिमत्ता है।

परन्तु भक्तो के लिए श्रीभगवान् का जन्म प्रसन्नता का कारण था और उन्हे जन्म-दिन मनाने की स्वीकृति देनी पडी। परन्तु उन्होंने जन्म-दिन के अवसर पर या किसी अन्य अवसर पर अपनी पूजा का निषेध कर दिया। उस दिन भीड का कुछ ठिकाना न था और सब लोग श्रीभगवान् के साथ खाना खाते थे। आश्रय के विशाल भोजन-कक्ष मे भी सब लोग नही समा पाते थे, बाहर अहाते मे बाँसो के सहारे ताड के पत्तो की छत बनाई जाती थी और सभी वहाँ बैठते थे। इस अवसर पर गरीबो को भी खाना खिलाया जाता था, कई बार तो वह दो या तीन पारियो मे खाने के लिए आते थे। पुलिस और बाल स्काउट प्रवेश द्वारो पर खडे हो जाते थे और लोग भीड पर नियन्त्रण रखते थ।

इस प्रकार के समारोहो के अवसर पर श्रीभगवान् सबसे अलग भव्य मुद्रा में बैठ जाते। परन्तु प्रत्येक पुराने भक्त की ओर वह अत्यन्त आत्मीयता की दृष्टि से देखते जाते थे। एक बार का जिक्र है कि कार्तिकेय त्योहार के अवसर पर सारे आश्रम मे बहुत भीड इकट्ठी हो गयी। भीड पर नियन्त्रण रखने के लिए श्रीभगवान् के चारो ओर जगला लगा दिया गया। परन्तु एक छोटा-सा लडका सीखचों को पार करके अन्दर चला आया और दौडकर श्रीभगवान् के पास पहुँच गया। वह उन्हे अपना नया खिलौना दिखाने लगा। इस पर उन्होने सेवक से हँसते हुए कहा, "देखो, तुम्हारा जगला कितना कारगर है।"

सितम्बर, १९४६ मे, तिरुवण्णामलाई मे श्रीभगवान् के आगमन का ५०वाँ त्योहार बडे समारोह से मनाया गया था। यहाँ दूर-दूर से भक्तजन एकत्रित हुए थे। इस अवसर पर एक 'जयन्ती समारोह स्मृति चिह्न' प्रकाशित किया गया था जिसमे इस अवसर के लिए लिखित अनेक लेख और कविताएँ थी।

अन्तिम वर्षो मे दर्शनार्थियो की सख्या मे वृद्धि के कारण, सामान्य दिनो मे भी पुराने सभा-भवन मे सब लोग नही समा सकते थे। इसलिए प्राय श्रीभगवान् बाहर ताड के पत्तो की छत के नीचे बैठते थे। सन् १९३९ मे माता की समाधि पर एक मन्दिर का निर्माण-काय प्रारम्भ हो गया था। यह मन्दिर सन् १९४९ मे बन कर तैयार हो गया। इसके साथ ही श्रीभगवान् और भक्तो के बैठने के लिए एक नये सभा-भवन का निर्माण हुआ। वह शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार परम्परागत मन्दिर निर्माताओ द्वारा निर्मित एक भवन के दो भाग थे।

यह भवन पुराने सभा-भवन और कार्यालय के दक्षिण में, उनके और सडक के बीच स्थित है। पुराने सभा-भवन के दक्षिण में, इसका पश्चिमी आधा भाग मन्दिर है, पूर्वी आधा भाग एक विशाल, वर्गाकार और हवादार भवन है जहाँ श्रीभगवान् भक्तों के साथ बैठते थे।

कुम्भाभिषेकम् या मन्दिर और सभा-भवन के उद्घाटन का समारोह अत्यन्त भव्य समारोह था। इसमें अनेक भक्तजन सम्मिलित हुए थे। इनके निर्माण के पीछे वर्षों का प्रयास और आयोजन था। श्रीभगवान् नये सभा-भवन में प्रवेश नही करना चाहते थे। वह सादगी पसन्द करते थे और किसी प्रकार की धूमधाम अपने सम्बन्ध मे नही चाहते थे। बहुत से भक्त भी नये सभा-भवन मे नही जाना चाहते थे। पुराना सभा-भवन उनकी उपस्थिति से जीवन्त था और नया सभा-भवन उसकी तुलना मे निर्जीव मालूम देता था। जब उन्होंने इस नये सभा-भवन मे प्रवेश किया तब अन्तिम बीमारी ने उनके शरीर पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया था।

होने के वावजूद, इसे उसके कब्जो से अलग करके खोला जा सकता है। इसलिए भीड और शोर से वचने के लिए जव सव लोग वाहर गये हुए थे, वह खिसक गये। वापस लौटने पर लोगो ने देखा कि दरवाजा वन्द है और चटखनी लगी है, परन्तु कमरा खाली है। वाद मे, जव कोई वहाँ नही था, वह अन्दर आ गये। वह लोग श्रीभगवान् के सामने एक दूसरे से इस वात की चर्चा करने लगे कि किस प्रकार वह वन्द दरवाजे से वाहर निकल गये और फिर सिद्धि के वल पर अन्दर आ गये। परन्तु उनके चेहरे पर जरा भी स्पन्दन नही हुआ। कुछ वर्षों वाद जव उन्होने लोगो को यह कहानी सुनाई तो सारा सभा-भवन हँसी से गूँजने लगा।

वडे वार्पिक त्यौहारो के सम्वन्ध मे भी मैं यहाँ कुछ चर्चा कर दू। अधिकाश भक्त स्थायी रूप से तिरुवन्नामलाई मे नही रह सकते थे और कभी-कभी ही वह वहाँ आ सकते थे। इसलिए सार्वजनिक अवकाश के दिनो मे, विशेषत कार्तिकी, दीपावली, महापूजा (माता के स्वर्गारोहण का उत्सव) और जयन्ती (श्रीभगवान् का जन्मदिन) के अवसर पर वहाँ वहुत भीड रहा करती थी। इन सव त्यौहारो मे जयन्ती सवसे वडा त्यौहार था और इसमे सवसे अधिक लोग भाग लेते थे। सर्वप्रथम वह जयन्ती समारोह मनाने के पक्ष मे विलकुल नही थे। उन्होने निम्न पद की रचना की थी

> तुम जो जन्म-दिन मनाना चाहते हो, अपने से पहले यह पूछो कि तुम्हारा जन्म कहाँ से हुआ है। व्यक्ति का सच्चा जन्म-दिन तव होता है जव वह उस शाश्वत सत्ता मे प्रवेश करता है, जो जन्म और मृत्यु से परे है।
>
> कम से कम अपने जन्म-दिन के अवसर पर व्यक्ति को इस ससार मे प्रवेश के सम्वन्ध मे शोक मनाना चाहिए। जन्म-दिन के अवसर पर खुशियाँ मनाना ऐसे है जैसे शव को सजाने मे खुशियाँ मनाना। अपनी आत्मा को पहचानना और उसमे लय होना सच्ची वुद्धिमत्ता है।

परन्तु भक्तो के लिए श्रीभगवान् का जन्म प्रसन्नता का कारण था और उन्हे जन्म-दिन मनाने की स्वीकृति देनी पडी। परन्तु उन्होने जन्म-दिन के अवसर पर या किसी अन्य अवसर पर अपनी पूजा का निपेध कर दिया। उस दिन भीड का कुछ ठिकाना न था और सव लोग श्रीभगवान् के साथ खाना खाते थे। आश्रय के विशाल भोजन-कक्ष मे भी सव लोग नही समा पाते थे, वाहर अहाते मे वाँसो के सहारे ताड के पत्तो की छत वनाई जाती थी और सभी वहाँ वैठते थे। इस अवसर पर गरीवो को भी खाना खिलाया जाता था, कई वार तो वह दो या तीन पारियो मे खाने के लिए आते थे। पुलिस और वाल स्काउट प्रवेश द्वारो पर खडे हो जाते थे और लोग भीड पर नियन्त्रण रखते थे।

इस प्रकार के समारोहों के अवसर पर श्रीभगवान् सबसे अलग भव्य मुद्रा मे बैठ जाते। परन्तु प्रत्येक पुराने भक्त की ओर वह अत्यन्त आत्मीयता की दृष्टि से देखते जाते थे। एक बार का जिक्र है कि कार्तिकेय त्यौहार के अवसर पर सारे आश्रम में बहुत भीड इकट्ठी हो गयी। भीड पर नियन्त्रण रखने के लिए श्रीभगवान् के चारो ओर जगला लगा दिया गया। परन्तु एक छोटा-सा लडका सीखचों को पार करके अन्दर चला आया और दौडकर श्रीभगवान् के पास पहुँच गया। वह उन्हें अपना नया खिलौना दिखाने लगा। इस पर उन्होंने सेवक से हँसते हुए कहा, "देखो, तुम्हारा जगला कितना कारगर है।"

सितम्बर, १९४६ में, तिरुवन्नामलाई में श्रीभगवान् के आगमन का ५०वां त्यौहार बडे समारोह से मनाया गया था। यहाँ दूर-दूर से भक्तजन एकत्रित हुए थे। इस अवसर पर एक 'जयन्ती समारोह स्मृति चिह्न' प्रकाशित किया गया था जिसमे इस अवसर के लिए लिखित अनेक लेख और कविताएँ थीं।

अन्तिम वर्षों मे दर्शनार्थियो की सख्या में वृद्धि के कारण, सामान्य दिनो में भी पुराने सभा-भवन मे सब लोग नही समा सकते थे। इसलिए प्राय श्रीभगवान् बाहर ताड के पत्तो की छत के नीचे बैठते थे। सन् १९३९ म माता की समाधि पर एक मन्दिर का निर्माण-कार्य प्रारम्भ हो गया था। यह मन्दिर सन् १९४९ मे बन कर तैयार हो गया। इसके साथ ही श्रीभगवान् और भक्तों के बैठने के लिए एक नये सभा-भवन का निर्माण हुआ। वह शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार परम्परागत मन्दिर निर्माताओ द्वारा निर्मित एक भवन के दो भाग थे।

यह भवन पुराने सभा-भवन और कार्यालय के दक्षिण मे, उनके और सडक के बीच स्थित है। पुराने सभा-भवन के दक्षिण में, इसका पश्चिमी आधा भाग मन्दिर है, पूर्वी आधा भाग एक विशाल, वर्गाकार और हवादार भवन है जहाँ श्रीभगवान् भक्तो के साथ बैठते थे।

चौदहवाँ अध्याय

उपदेश

श्रीभगवान् का उपदेश अत्यन्त गुह्य था । यद्यपि सभी व्यक्ति समान रूप से उनके पास पहुँच सकते थे, प्रश्न सामान्यत पूछे जाते और सावजनिक रूप से उनके उत्तर दिये जाते तथापि प्रत्येक शिष्य के प्रति उनका मार्गदर्शन पूणत प्रत्यक्ष और उसके चरित्र के अनुरूप होता था । एक वार स्वामी योगानन्द जी ने, जिनके अमरीका मे अनेक अनुयायी थे, श्रीभगवान् से पूछा कि लोगो को उनके उद्धार के लिए कौन-सी आध्यात्मिक शिक्षा दी जानी चाहिए । उत्तर मे श्रीभगवान् ने कहा, "यह व्यक्ति के स्वभाव और आध्यात्मिक परिपक्वता पर निर्भर करता है । कोई सर्वसामान्य शिक्षा नही हो सकती ।" पूर्व निर्देशित चार भक्तो—अचम्माल, माँ, शिवप्रकाशम् पिल्लई और नटेश मुदालियर—की कथाओ के पुन स्मरण से हमे पता चल जायेगा कि श्रीभगवान् की शिक्षा चारो के लिए कितनी भिन्न थी ।

श्रीभगवान् अत्यन्त क्रियाशील थे—उन्होंने स्वय ऐसा कहा है, हालाँकि उनके अनुग्रह का अनुभव करने वालो को किसी प्रमाण की आवश्यकता नही है—परन्तु उनकी क्रियाशीलता इतनी गुप्त थी कि आकस्मिक दर्शक और वह व्यक्ति जो सूक्ष्म निरीक्षण नही कर सकते थे, ऐसा विश्वास करते थे कि श्रीभगवान् विलकुल भी उपदेश नही देते थे या वह जिज्ञासुओ की आवश्यकताओ के प्रति उदासीन थे । ऐसे बहुत से व्यक्ति थे । जैसे कि वह ब्राह्मण जिसने नटेश मुदालियर को श्रीभगवान् के दर्शनो से रोका था ।

इस प्रश्न की सर्वाधिक महत्ता इस तथ्य मे निहित है कि (श्रीभगवान् जैसे विरले उदाहरणो को छोड कर) साक्षात्कार केवल गुरु की कृपा से ही सम्भव है । अन्य शिक्षको की तरह श्रीभगवान् का यह दृढ मत था । इसलिए साधक के लिए यह जानना ही पर्याप्त नही था कि उनकी शिक्षा श्रेष्ठ है और उनकी उपस्थिति स्फूर्तिदायिनी है, अपितु यह भी जानना आवश्यक था कि वह दीक्षा और उपदेश देने वाले गुरु हैं ।

'गुरु' शब्द का प्रयोग तीन अर्थो मे किया जाता है । इसका अर्थ ऐसे व्यक्ति से हो सकता है जिसने यद्यपि आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त नही की तथापि

जिसे (पादरी की दीक्षा की तरह) दीक्षा और उपदेश देने का अधिकार है। वह प्राय उत्तराधिकार से गुरु होता है और आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए पारिवारिक चिकित्सक के सदृश होता है। दूसरे, गुरु वह भी हो सकता है, जिसे उत्तराधिकारी गुरु होने के अतिरिक्त कुछ आध्यात्मिक सिद्धि भी प्राप्त हो और जिस उच्च स्थिति तक वह स्वय पहुचा है, वहाँ तक ओजस्वी उपदेश द्वारा (हालाँकि वास्तविक क्रियाएँ वही हो सकती हैं) शिष्यो का मार्गदर्शन कर सके। परन्तु शब्द के सर्वोच्च और सच्चे अर्थ मे, गुरु वह है जिसने विश्वात्मा के साथ एकरूपता अनुभव कर ली है। यही सत्-गुरु है।

इसी अन्तिम अर्थ मे श्रीभगवान् गुरु शब्द का प्रयोग किया करते थे। इसीलिए वह कहा करते थे, "भगवान्, गुरु और आत्मा एक है।" गुरु का वर्णन करते हुए उन्होंने (आध्यात्मिक शिक्षा मे) कहा है

> "गुरु वह है जो सदा आत्मा की गहराई मे रहता है। वह अपने और दूसरो के बीच कभी कोई भेद नही देखता। वह भेद की असत्य धारणाओ से पूर्णत मुक्त होता है अर्थात् वह स्वय ज्ञानी या मुक्त है जब कि उसके चारो ओर के लोग बन्धन या अज्ञान के अन्धकार से ग्रस्त हैं। किसी भी परिस्थिति में उसकी दृढता या आत्म-स्वामित्व के भाव को आन्दोलित नहीं किया जा सकता और वह कभी विक्षुब्ध नही होता।"

इस गुरु के प्रति आत्म-समर्पण अपने से बाहर किसी व्यक्ति के प्रति आत्म समर्पण नही बल्कि बाह्यत अभिव्यक्त आत्मा के प्रति समर्पण है ताकि व्यक्ति अपने अन्तर के आत्मा को खोज सके। "स्वामी अन्दर है। चिन्ता का अभिप्राय इस अज्ञान को दूर करना है कि वह केवल बाहर है। अगर वह कोई अजनबी होता, जिसकी आप प्रतीक्षा कर रहे होते तो वह निश्चित ही लुप्त हो जाता। इस प्रकार की अस्थायी सत्ता का क्या लाभ? परन्तु जब तक आप यह सोचते हैं कि आप पृथक् हैं या आप शरीर हैं, तब तक बाह्य स्वामी भी आवश्यक है और वह मानो शरीरधारी के रूप मे प्रकट होगा। जब व्यक्ति शरीर के साथ गलत एकरूपता को अनुभव करना बन्द कर देता है तब उसे आत्मा ही स्वामी दिखाई देती है।"

यह स्वत सिद्ध है कि जिस व्यक्ति ने निरपेक्ष सत्ता के साथ अपनी एकरूपता अनुभव कर ली है और जो इस सर्वोच्च अर्थ मे गुरु है, वह ऐसा नहीं कहता क्योंकि इस एकरूपता की पुष्टि के लिए उसका अहं ही नहीं रहता। वह यह भी नहीं कहता कि उसके शिष्य हैं क्योंकि अन्यत्व से दूर होने के कारण, उसके लिए कोई सम्बन्ध नही हो सकता।

यद्यपि ज्ञानी निरपेक्ष सत्ता के साथ एकरूप होता है, उसकी अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप मे, उसके चरित्र की विशेषताएँ बाह्य रूप से बनी रहती हैं,

इसीलिए एक ज्ञानी की मानवीय विशेषताएँ दूसरे से सर्वथा भिन्न हो सकती हैं। श्रीभगवान् की एक विशेषता उनकी विलक्षणता और सूक्ष्मदर्शिता थी। इसमे कोई सन्देह नही प्रतीत होता कि जैसे उन्होने विक्षोभ से बचने के लिए तिरुवन्नामलाई मे अपने प्रारम्भिक वर्षों मे अपने को मौनी कहा जाना स्वीकार किया वैसे ही उन्होने एकरूपता का आग्रह करने या सम्बन्ध स्वीकार करने की सैद्धान्तिक असम्भवता का लाभ उठाया ताकि वह ऐसे लोगो की जो उनके वास्तविक भक्त नही थे, उपदेश की अनुचित माँगो से बच सकें। यह बडी अद्भुत बात है कि उनकी प्रतिरक्षा कितनी सफल थी, इससे वास्तविक भक्त नही छले जाते थे और न ही उन्हे छलने का कोई इरादा था।

आओ, श्रीभगवान् के वक्तव्यो की ध्यानपूर्वक परीक्षा करे। वह कभी-कभी कहते थे कि उनके कोई शिष्य नही हैं। उन्होने कभी यह स्पष्टत नही कहा कि वह गुरु थे, हालाँकि वह गुरु का प्रयोग ज्ञानी के अर्थ मे करते थे और इस तरीके से करते थे जिससे यह सन्देह न रह जाये कि वह गुरु थे। वह कई बार 'रमण सद्गुरु' के गीत मे सम्मिलित होते थे।

इसके अतिरिक्त जब कोई भक्त वस्तुत व्यथित होता था और समाधान की खोज कर रहा होता था वह उसे इस ढग से विश्वास दिलाते थे कि सन्देह की कोई गुजाइश ही नही रहती थी। श्रीभगवान् के एक अग्रेज शिष्य मेजर चैडविक ने १९४० मे श्रीभगवान् द्वारा दिये गये आश्वासन का लिखित प्रमाण रखा था

चैडविक भगवान् का कहना है, उनके कोई शिष्य नही है।

भगवान् हाँ।

चैडविक वह यह भी कहते हैं कि अगर कोई व्यक्ति मुक्ति प्राप्त करना चाहता है तो उसके लिए गुरु आवश्यक है।

भगवान् हाँ।

चैडविक फिर मुझे क्या करना चाहिए? क्या इतने वर्षो तक मेरा आश्रम मे रहना व्यर्थ गया? तो क्या फिर मैं दीक्षा के लिए किसी और गुरु की तलाश मे जाऊँ क्योंकि भगवान् कहते हैं कि वह गुरु नही हैं।

भगवान् इतनी दूर से यहाँ आने और इतनी देर तक यहाँ रहने का आप क्या कारण समझते है? आप सन्देह क्यो करते हैं? अगर कही अन्यत्र गुरु ढूँढने की आवश्यकता होती तो आप बहुत पहले ही यहाँ से चले गये होते।

गुरु या ज्ञानी अपने मे और दूसरो मे कोई अन्तर नही देखता। उसके लिए सभी ज्ञानी है, सभी उसके साथ एकरूप हैं, इसलिए ज्ञानी यह किस प्रकार कह सकता है कि अमुक व्यक्ति उसका शिष्य है। परन्तु जो मुक्त नहीं है, वह सबको अनेकधा देखता है, वह सबको अपने से भिन्न रूप मे देखता है, इसलिए

उसके लिए गुरु शिष्य सम्बन्ध वास्तविकता है। उसे वास्तविकता का ज्ञान कराने के लिए गुरु की कृपा की आवश्यकता होती है। उसके लिए दीक्षा के तीन प्रकार हैं—स्पर्श द्वारा, दर्शन द्वारा और मौन द्वारा। (श्रीभगवान् ने यहाँ मुझे संकेत किया कि उनका दीक्षा का तरीका मौन द्वारा दीक्षा देने का था, जैसे कि उन्होने अन्य अनेक व्यक्तियो को अन्य अवसरो पर मौन-दीक्षा दी है)।

चैडविक तो फिर भगवान् के शिष्य हैं!

भगवान् जैसा कि भगवान ने कहा, भगवान् के दृष्टि-विन्दु से शिष्य नही है, परन्तु शिष्य के दृष्टि-विन्दु से गुरु की कृपा समुद्र के सदृश है। अगर शिष्य एक प्याला लेकर आयेगा तो उसे केवल एक प्याला भर मिलेगा। समुद्र की कृपणता की शिकायत करना व्यर्थ है, जितना बडा पात्र होगा, उतनी ही अधिक वस्तु उसमे आयेगी। यह पूर्णत शिष्य पर निर्भर करता है।

चैडविक तव यह जानना कि भगवान् मेरे गुरु हैं या नही, केवल विश्वास का विषय है।

भगवान् (सीधे होकर वैठते हुए, दुभापिए की ओर मुंह करते हुए और वल देकर अपनी वात कहते हुए) उनसे पूछें, क्या वह यह चाहते हैं कि मैं उन्हे इस सम्वन्ध मे दस्तावेज लिख कर दूँ।

जिस तरह मेजर चैडविक ने श्रीभगवान् के आश्वासन पर वल दिया, उस तरह का हठ करने वाले वहुत कम लोग थे। श्रीभगवान् ऐसा कोई वक्तव्य नही देते थे जिससे द्वित्व की स्वीकृति अभिव्यक्त हो, परन्तु साथ ही वह प्रज्ञावान और शुभेच्छु भक्तो को स्पष्टत कहते थे कि वह उनके गुरु हैं और कई शाब्दिक पुष्टि के बिना भी इस तथ्य को जान जाते थे।

श्री एस० एस० कोहेन के कथनानुसार, एक बंगाली उद्योगपति श्री ए० वोस ने श्रीभगवान् से एक यथार्थ वक्तव्य लेने का प्रयास किया। उन्होंने कहा, "मुझे विश्वास है कि साधक के प्रयासो की सफलता के लिए गुरु आवश्यक है।" फिर उन्होंने परिहास करते हुए कहा, "क्या भगवान् को हमारा खयाल है?"

परन्तु श्रीभगवान ने उन्हें ही उत्तरदायी ठहराते हुए कहा, "आपके लिए अभ्यास आवश्यक है, कृपा तो सदा ही रहती है।" थोडी देर मौन रहने के वाद श्रीभगवान् ने कहा, "आप पानी मे गर्दन तक डूवे हुए हैं और फिर भी आप चिल्ला रहे हैं कि आप प्यासे है।"

अभ्यास का भी वस्तुत यही अभिप्राय था कि व्यक्ति कृपा के लिए ग्रहणशील वने। श्रीभगवान् कभी-कभी सूर्य का उदाहरण देते हुए कहते थे कि यद्यपि सूर्य चमक रहा है तथापि अगर आप इसे देखना चाहते हैं तो आपको

इसकी ओर देखने के लिए प्रयास करना होगा। प्रो० वेंकटरमैया ने अपनी डायरी मे लिखा है कि श्रीभगवान् ने एक अग्रेज दर्शनार्थी श्रीमती पिग्गोट से कहा था, "शिक्षाओ, भाषणो, चिन्तन आदि की अपेक्षा गुरु की कृपा आत्म-साक्षात्कार के लिए अधिक आवश्यक है, यह सब गौण कारण हैं। मुख्य और सारभूत कारण तो वह है।"

कुछ व्यक्तियो ने जो उनकी शिक्षाओ से अप्रत्यक्षत अवगत थे, यह सुझाव दिया कि श्रीभगवान् गुरु धारण करना आवश्यक नहीं समझते थे। इस प्रकार उन्होने गुरु द्वारा दीक्षा की आवश्यकता नही समझी। परन्तु श्रीभगवान् ने आश्रम के इस सुझाव का स्पष्टत विरोध किया। श्री एस० एस० कोहेन ने श्री अरविन्द आश्रम के प्रसिद्ध सगीतज्ञ श्री दिलीपकुमार राय के साथ इस विषय पर श्रीभगवान् के वार्तालाप का सग्रह किया है

दिलीप कुछ लोगो का कहना है कि महर्षि गुरु की आवश्यकता नही समझते। दूसरे इसके विपरीत कहते हैं। महर्षि की क्या सम्मति है ?

भगवान् मैंने यह कभी नही कहा कि गुरु की कोई आवश्यकता नही।

दिलीप श्री अरविन्द प्राय यह कहते हैं कि आपका कोई गुरु नही है।

भगवान् यह इस पर निर्भर करता है कि आप किसे गुरु कहते हैं। आवश्यक नही कि गुरु मानवीय रूप मे हो। दत्तात्रेय के चौवीस गुरु—तत्त्व आदि थे। इसका अभिप्राय यह है कि ससार मे प्रत्येक रूप उसका गुरु था। गुरु नितान्त आवश्यक है। उपनिषदो का कथन है कि गुरु के अतिरिक्त अन्य कोई भी मनुष्य को मानसिक और इन्द्रिय ज्ञान के जगल से पार नही करा सकता। इसलिए गुरु का होना अत्यन्त आवश्यक है।

दिलीप मेरा अभिप्राय मानव गुरु से है। महर्षि के कोई मानव-गुरु नही थे।

भगवान् शायद किसी समय मेरे भी मानव-गुरु रहे हो। क्या मैंने अरुणाचल की प्रशस्ति मे गीत नही गाये ? गुरु क्या है ? गुरु भगवान् या आत्मा है। पहले व्यक्ति भगवान् से अपनी इच्छाओ की पूर्ति के लिए प्रार्थना करता है, फिर एक समय ऐसा आता है जब वह इच्छापूर्ति के लिए नही अपितु स्वय भगवान् के लिए प्रार्थना करता है। इस प्रकार भगवान्, व्यक्ति की प्रार्थना के उत्तर मे गुरु के रूप मे उसका मार्गदर्शन करने के लिए, मानवीय या अमानवीय किसी न किसी रूप मे प्रकट होता है।

एक बार किसी दर्शनार्थी ने कहा कि स्वय श्रीभगवान् का कोई गुरु नही था। इस पर उन्होने कहा कि यह आवश्यक नही कि गुरु मानव रूप में ही हो, परन्तु ऐसा बहुत कम देखने मे आता है।

शायद श्री वी० वेंकटरमण के साथ वार्तालाप के दौरान उन्होंने यह

स्पष्टत स्वीकार किया था कि वे गुरु हैं। उन्होने एक वार उनसे कहा था, "दो बातें आपको करनी हैं, प्रथम तो अपने से बाहर गुरु की खोज करना और फिर अन्दर गुरु की खोज करना। पहली खोज आपने पहले ही कर ली है।"

परन्तु जिस प्रकार उन्होने मेरे वक्तव्य की स्वीकृति द्वारा गुरु की पुष्टि की, वह अधिक स्पष्ट थी। आश्रम मे कुछ सप्ताह रहने के बाद मैंने देखा कि श्रीभगवान् वस्तुत गुरु हैं और वह लोगो को दीक्षा देते तथा उनका मार्गदर्शन करते हैं। मैंने यूरोप के अपने मित्रो को इस सम्बन्ध मे पत्र लिख कर सूचित किया। पत्र भेजने से पहले इसे श्रीभगवान् को दिखाया और उनकी अनुमति माँगी। उन्होने अपनी स्वीकृति दे दी और पत्र मुझे लौटाते हुए कहा, "आप यह पत्र भेज दें।"

गुरु होने का अभिप्राय है दीक्षा और उपदेश देना। ये दोनो अविभाज्य हैं। दीक्षा के प्रारम्भिक कार्य के बिना उपदेश नही होता और दीक्षा का तब तक कोई अभिप्राय नही जब तक कि इसके बाद उपदेश न दिया जाये। इसलिए कभी-कभी प्रश्न यह रूप धारण कर लेता था, श्रीभगवान् उपदेश देते हैं या दीक्षा।

जब श्रीभगवान् से यह प्रश्न किया जाता कि क्या वह दीक्षा देते हैं, तब वह इस प्रश्न का सीधा उत्तर नही देते थे। अगर उत्तर 'न' मे होता तो वह निश्चय ही 'न' कह देते। परन्तु अगर 'हाँ' कहते तो दीक्षा के लिए अनुचित माँगो से बचाव कैसे होता और कुछ माँगो की स्वीकृति तथा अन्यों का निषेध आवश्यक हो जाता। इस प्रकार व्यक्तियों को स्वय निर्णय न करने देकर श्रीभगवान् का यह निणय स्वच्छन्द प्रतीत होता। उनका उत्तर देने का सर्व-सामान्य रूप मेजर चैडविक को दिये गये उत्तर मे देखा जा सकता है। "दीक्षा के तीन प्रकार हैं स्पर्श द्वारा, दर्शन द्वारा और मौन द्वारा।" श्रीभगवान् प्राय एक अवैयक्तिक सैद्धान्तिक वक्तव्य दिया करते थे, जिसमें विशिष्ट प्रश्न का उत्तर निहित होता था। यह वक्तव्य सर्वविदित है, हिन्दुओ के अनुसार दीक्षा के तीन प्रकार एक पक्षी, मछली और कछुए के उदाहरण से स्पष्ट किये जाते हैं। पक्षी अपने अण्डों को सेने के लिए उन पर बैठता है, मछली को केवल उनकी ओर देखना भर पडता है और कछुए को केवल उनका ध्यान करना पडता है। दर्शन या मौन द्वारा दीक्षा इस युग मे अत्यन्त दुर्लभ हो गयी है, यह अरुणाचल की, दक्षिणामूर्त्ति की मौन दीक्षा है और दीक्षा की यह प्रकार श्रीभगवान् द्वारा उपदिष्ट आत्म-अन्वेषण के प्रत्यक्ष मार्ग के विशेषत अनुरूप है। इसलिए यह आन्तरिक रूप से और एक सुविधाजनक कवच के रूप मे उपयोगी है।

दर्शन द्वारा दीक्षा वास्तविक चीज थी। श्रीभगवान् भक्त की ओर मुख

करके स्थिर और एकाग्र दृष्टि से देखते, उनके नेत्रो की ज्योति और भक्ति भक्त की विचार-प्रक्रिया को भेदकर उसके अन्तर्तम मे प्रवेश कर जाती। कई बार ऐसे लगता जैसे कोई विद्युत्-धारा किसी मे प्रवेश कर रही हो या विस्तृत शान्ति या प्रकाशपुज प्रवेश कर रहे हो। एक भक्त ने इस प्रकार वर्णन किया है "एकाएक भगवान् ने अपने देदीप्यमान और पारदर्शी नेत्र मेरी ओर किये। इससे पहले मैं देर तक उनकी ओर नही देख सकता था। अब न जाने कितनी देर तक मैं उन विकट और आश्चर्यमय नेत्रो की ओर सीधे देखता रहा। उन्होने मुझे एक प्रकार के स्पन्दन मे जकड लिया जिसे मैं स्पष्टत सुन सकता था।" इसके बाद भक्त के हृदय मे सदा उदात्त भावना का और अजेय विश्वास का प्रादुर्भाव होता था कि भगवान् ने उसे अपनी शरण मे ले लिया है, अब से वह ही उसके सरक्षक और मार्गदर्शक हैं। जो व्यक्ति इस तथ्य से परिचित थे वह यह जान जाते थे कि इस प्रकार की दीक्षा कब घटित होती है, परन्तु यह सामान्यत गुप्त रूप से होती। यह वेद मन्त्रोच्चारण के समय हो सकती थी जब बहुत कम लोग देख रहे होते थे या सूर्योदय से पूर्व या उस समय जब उनके निकट कोई व्यक्ति न होता या थोडे व्यक्ति होते, भक्त के मन मे श्रीभगवान् के निकट जाने की प्रेरणा होती। मौन द्वारा दीक्षा भी इतनी वास्तविक थी। यह उन भक्तो के हृदय मे प्रवेश करती थी जो तिरुवण्णामलाई मे शारीरिक रूप से जाने मे असमर्थ होकर अपने हृदयो मे भगवान् की ओर अन्तर्मुख होते थे। कई बार यह दीक्षा स्वप्न मे दी जाती, जैसे कि नटेश मुदालियर को दी गयी थी।

एक बार भक्त को अपनी शरण मे लेने और उसे मौन दीक्षा देने के बाद, अपने मार्गदर्शन और सरक्षण के सम्बन्ध मे श्रीभगवान् से बढ़कर कोई भी शिक्षक अधिक कृतनिश्चय नही था। उन्होंने शिवप्रकाशम् पिल्लई को अपने व्याख्या ग्रन्थ मे, जो बाद मे 'हू एम आई' के नाम से प्रकाशित हुआ, इस प्रकार आश्वासन दिया था, "जिस व्यक्ति ने गुरु की कृपा प्राप्त कर ली, निस्सन्देह उसकी रक्षा की जायेगी, उसका कभी भी परित्याग नही किया जायेगा, जैसे कि जो शिकार चीते के पजो मे फँस जाता है, वह कभी भी नही बच पाता।"

एक डच भक्त श्री एल० हार्ट्ज ने, जो केवल थोडी अवधि के लिए आश्रम मे ठहर सकते थे और शायद जिन्हे यह भय था कि आश्रम से जाने के बाद कही उनका सकल्प डिग न जाय, श्रीभगवान् से आश्वासन
श्रीभगवान् ने उनसे कहा था, "अगर आप भगवान को छोड भी
आपको कभी नही छोडेंगे।"

आश्वासन की असाधारण शक्ति और प्रत्यक्षता से प्रभावि

भक्तो—एक चैक कूटनीतिज्ञ और एक मुस्लिम प्रोफेसर—ने जब श्रीभगवान् से यह पूछा कि यह आश्वासन केवल हार्ड्ज पर लागू होता है या सभी भक्तो पर तो उन्हे श्रीभगवान् ने उत्तर दिया, "सभी पर।"

एक अन्य अवसर पर, जब एक भक्त ने अपने में कोई प्रगति न देखी तो वह अत्यन्त निराश हो गया और कहने लगा, "मुझे भय है कि अगर मेरी यही दशा रही तो मैं नर्क मे चला जाऊँगा।" इस पर श्रीभगवान् ने उत्तर दिया, "अगर तुम नर्क मे जाओगे, भगवान् भी तुम्हारे पीछे जायेंगे और तुम्हे वापस ले आयेंगे।"

भक्त के जीवन की परिस्थितियो को गुरु इस प्रकार ढाल देते है, जिससे उसकी साधना पूर्ण हो। एक भक्त से श्रीभगवान् ने कहा था, "स्वामी हमारे अन्दर भी हैं और बाहर भी, वह तुम्हे अन्तर्मुख करने के लिए परिस्थितियाँ पैदा कर देता है और साथ ही आपके अन्तर को केन्द्राभिमुख होने के लिए तैयार करता है।"

अगर कोई ऐसा व्यक्ति जो हार्दिक भाव से श्रीभगवान् की ओर श्रद्धा-वनत नही होता था, उनसे यह पूछता कि क्या वे उपदेश देंगे तो वे रहस्यमय उत्तर दे देते या कोई उत्तर नही देते थे। दोनो ही अवस्थाओ मे यह निषेधात्मक उत्तर समझा जाता। तथ्य तो यह है कि उनकी दीक्षा की तरह उनका उपदेश भी मौन होता था। मौन भाव से मन को अपेक्षित दिशा मे मोड दिया जाता था। भक्त से ऐसी आशा की जाती थी कि वह यह सब कुछ समझ जायेगा। बहुत कम व्यक्तियो को शाब्दिक आश्वासन की आवश्यकता होती थी।

श्री वी० वेंकटरमण, जिनका पहले जिक्र आ चुका है, की कहानी से यह स्पष्ट हो जायेगा। अपने यौवन मे वे श्री रामकृष्ण के परम भक्त थे, परन्तु उन्होंने एक जीवित जाग्रत देहधारी गुरु की आवश्यकता अनुभव की। इसलिए उन्होंने बडी उत्कण्ठा के साथ उनसे प्रार्थना करते हुए कहा, "स्वामिन्, मुझे एक जीवित गुरु प्रदान करो, जो कि आप जैसा ही पूर्ण हो।" इसके शीघ्र बाद उन्होंने श्रीरमण महर्षि के सम्बन्ध मे सुना। महर्षि को पहाडी की तलहटी मे स्थित आश्रम में आये हुए कुछ ही वर्ष हुए थे। वे उनके चरणो में फूलो की भेंट लेकर गये। जब वे सभा-भवन मे पहुँचे, उस समय वहाँ अन्य कोई भी व्यक्ति उपस्थित नही था। श्रीभगवान् तख्त पर विश्राम कर रहे थे, उनके पीछे दीवार पर श्री रामकृष्ण का चित्र था, जिनसे वेंकटरमण ने प्रार्थना की थी। श्रीभगवान् ने फूलों की माला के दो टुकडे कर दिये, माला का एक टुकडा उन्होंने सेवक से चित्र पर और दूसरा मन्दिर के लिंग पर रखने के लिए कहा। वेंकटरमण को बडा हलकापन अनुभव हुआ। वह अपने गन्तव्य

पर पहुँच गये थे, उनका मनोरथ सिद्ध हो गया था। उन्होने अपने आने का प्रयोजन कहा। श्रीभगवान् ने उनसे पूछा, "क्या आप दक्षिणामूर्त्ति के सम्बन्ध मे जानते हैं ?"

उन्होंने उत्तर दिया, "मैं यह जानता हूँ कि वे मौन उपदेश दिया करते थे।"

श्रीभगवान् ने कहा, "यहाँ भी आपको यही उपदेश मिलेगा।"

तथ्य तो यह है कि यह मौन उपदेश वहुत भिन्न था। श्रीभगवान् ने विचार या आत्म-अन्वेषण के सम्वन्व मे वहुत कुछ कहा और लिखा। इसलिए लोगो का ऐसा विचार था कि वह केवल उस ज्ञान मार्ग का उपदेश देते थे, जिसका पालन इस युग के अधिकाश लोगो के लिए अत्यन्त कठिन है। परन्तु तथ्य तो यह है कि उनका उपदेश सार्वलौकिक था। वह ज्ञान मार्ग और भक्ति मार्ग दोनो द्वारा प्रत्येक व्यक्ति का मार्ग दर्शन करते थे। उनके लिए प्रेम और भक्ति मुक्ति के मार्ग मे आने वाली खाई के पुल है। उनके अनेक शिष्य ऐसे थे जिनके लिए उन्होंने कोई अन्य मार्ग निर्धारित नही किया।

कुछ समय वाद कोई साधना का कार्य न दिये जाने के कारण यही वेंकटरमण व्यग्र हो उठे और उन्होने शिकायत की।

भगवान् ने पूछा, "आपको कौन-सी चीज यहाँ खींचकर ले आयी ?"

"स्वामी, आपका विचार।"

"तब यही आपकी साधना भी है। यही पर्याप्त है।"

वस्तुत भगवान् का विचार या स्मृति सदा सवत्र वेंकटरमण के साथ रहने लगी, वह उनसे पृथक नही की जा सकती थी।

भक्ति का मार्ग भी वस्तुत समर्पण का मार्ग है। सारा भार गुरु पर डाल दिया जाता है। भगवान् का भी यही उपदेश था। एक भक्त से उन्होने कहा था, "मेरे प्रति समर्पण कर दो और मैं तुम्हारे मन को शान्त कर दूँगा।" एक दूसरे भक्त के प्रति उनकी उक्ति थी, "आप केवल शान्त रहे। शेष सव काय भगवान् कर लेंगे।" उन्होन अपने एक अन्य भक्त देवराज मुदालियर से कहा था, "आपका कार्य केवल समर्पण करना है, शेप मव आप मुझ पर छोड दें।" वह प्राय कहा करते थे, "दो ही माग हैं या तो आप अपने से यह पूछें कि 'मैं कौन हूँ ?' या गुरु के प्रति समपण कर दें।"

परन्तु ममपण करना, मन को शान्त रखना, और गुरु की कृपा को पूणत ग्रहण करना सरल नहीं है। इसके लिए निरन्तर प्रयास और स्मरण की आवश्यकता होती है। यह केवल गुरु की कृपा मे ही सम्भव है। वहुत से भक्तो ने भक्ति मार्ग या अन्य साधनो का आश्रय लिया। श्रीभगवान् ने इसकी स्वीकृति दी और इस प्रकार के साधनो को उचित ठहराया, परन्तु उन्होने स्वय वहुत कम इन साधनो का निर्धारण किया।

सत्सग की शक्ति अत्यन्त प्रबल किन्तु अदृश्य है। इसका शाब्दिक अर्थ है, 'सत्ता के साथ सगति' परन्तु साधना के साधन रूप मे इसका प्रयोग 'सत् या सत्ता का साक्षात्कार करने वाले व्यक्ति के साथ सगति' के रूप मे किया जाता है। श्रीभगवान् इसकी बहुत प्रशसा किया करते थे। 'पूरक चालीस पदो' मे से पहले पाँच पद इसकी प्रशसा मे हैं। इनके समावेश की कहानी अत्यन्त विलक्षण है। भगवान् की गोद ली हुई पुत्री अचम्माल को एक कागज पर, जिसमे मिठाई का एक पैकेट लिपटा हुआ था, एक श्लोक सस्कृत मे लिखा हुआ दिखायी दिया। वह इस श्लोक से इतनी अधिक आन्दोलित हुई कि उसने इसे कण्ठस्थ कर लिया और श्रीभगवान् के सामने जाकर सुनाया। श्रीभगवान् ने इसका तमिल मे अनुवाद कर दिया। उस समय वे चालीस पूरक पदो का सकलन कर रहे थे, कुछ वह लिख रहे थे और कुछ का अनुवाद कर रहे थे। उन्होने इस श्लोक को सस्कृत से लिये गये चार अन्य श्लोको के साथ सम्मिलित कर लिया। तीसरे पद मे गुरु की सगति को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। "अगर सत्सगति का लाभ प्राप्त हो जाये तो आत्म-अनुशासन के विभिन्न उपाय व्यर्थ है। अगर शीतल, मन्द समीर बह रही हो तो पखे का क्या लाभ ?"

भगवान् की सगति का सूक्ष्म प्रभाव अवश्य पडता था, भले ही यह वर्षो बाद दृष्टिगोचर हो। वह कभी-कभी स्पष्टत भक्तो को इसके महत्त्व से परिचित कराते थे। तीसरे अध्याय मे चर्चित अपने स्कूल के मित्र रगा ऐय्यर मे एक बार उन्होने कहा था, "अगर आप ज्ञानी की सगति करेंगे तो वह आप को पूर्णरूपेण तैयार वस्त्र दे देगा।" इसका आशय यह था कि अन्य उपायो से आपको धागा मिलता है और आपको स्वय बुनना पडता है।

सुन्दरेश ऐय्यर १२ वर्ष की आयु में ही श्रीभगवान् के भक्त बन गये थे। जब उनकी आयु लगभग १९ वर्ष की हुई वह अपने से असन्तुष्ट हो उठे। वह ऐसा अनुभव करने लगे कि साधना के लिए अधिक चेतन और गहन प्रयासो की आवश्यकता है। वह गृहस्थ थे और नगर मे रहते थे, परन्तु प्राय प्रतिदिन श्रीभगवान् का दर्शन करने आते। अब उन्होने कठोर अनुशासन के रूप मे यह निर्णय किया कि जब तक उनमें ऐसी आसक्ति और उद्देश्य के प्रति पूर्ण आस्था का भाव विकसित नहीं हो जायेगा जिससे कि वह श्रीभगवान् की सगति के पात्र सिद्ध हो सकें, तब तक वह उनके पास नही जायेंगे। सौ दिन तक वह श्रीभगवान् के पास नही गये और तब उनके मन मे यह विचार आया, "श्रीभगवान के दर्शनो से अपने को वचित करके मेरा सुधार तो नही हो रहा।" इस विचार के उदय होते ही वह भगवान् के दर्शनो के लिए चल दिये। भगवान् उन्हें स्कन्दाश्रम के प्रवेश-द्वार पर मिले। उन्होने उनका स्वागत करते

हुए पूछा, "क्या मेरे दर्शन न करके आपकी स्थिति पहले से बेहतर है ।" फिर उन्होने उन्हे सत्सग के महत्त्व और प्रभाव से परिचित कराते हुए कहा कि यद्यपि शिष्य को इसका प्रभाव दिखायी नही देता और न ही अपने मे कोई सुधार दिखायी देता है, फिर भी इसका प्रभाव अवश्यम्भावी है । उन्होने इसकी तुलना रात्रि को नीद मे अपने बच्चे को दूध पिलाने वाली माँ से करते हुए कहा कि अगले दिन बच्चा सोचता है कि उसने दूध नही पिया परन्तु माँ यह जानती है कि उसने दूध पिया है और वस्तुत यही दूध उसका पोषण करता है ।

इस उदाहरण से यह पता चलता है कि सज्जनो की सगति से स्वत लाभ से कुछ अधिक ही प्राप्त होता है । इसका आशय है सज्जन द्वारा प्रभाव को चेतन निर्देशन । एक अवसर पर भगवान् ने इसकी विलक्षण ढग से पुष्टि की, हालाँकि जिन व्यक्तियो ने इसका अनुभव किया था, उन्हे इसकी कोई आवश्यकता नही थी । सुन्दरेश ऐय्यर ने श्रीभगवान् की प्रशस्ति मे एक तमिल गीत की रचना की जिसका भावार्थ यह था कि भक्तो की रक्षा के लिए श्रीभगवान् के नेत्रो से कृपा की धारा प्रवहमान हो रही है । परन्तु भगवान् ने इसका सशोधन करते हुए कहा, "प्रवाहित नही हो रही बल्कि उसकी ओर प्रक्षिप्त है क्योकि यह एक चेतन प्रक्रिया है, जिसके द्वारा चुने हुए व्यक्तियो की ओर कृपा निर्देशित होती है ।"

गुरु की कृपा का पूर्ण भाजन बनने के लिए शिष्य को भी प्रयास करना पडता है । इसके लिए श्रीभगवान् ने जिस उपाय के अपनाने पर निरन्तर बल दिया वह था अपने से यह प्रश्न करना, "मैं कौन हूँ ?" हमारे युग की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए उन्होंने इस साधना को प्रस्तुत किया । इसके सम्बन्ध मे कोई रहस्य या गोपनीय बात नही थी । वह इसके महत्त्व और प्रभाविता के सम्बन्ध मे बिलकुल सुनिश्चित थे । "अपनी अप्रतिबन्ध और निरपेक्ष सत्ता को अनुभव करने का, जो कि वस्तुत आप है, एकमात्र अचूक और प्रत्यक्ष साधन आत्म-अन्वेपण है । आत्म-अन्वेपण के अतिरिक्त अन्य साधनाओ से अह या मन को नप्ट करने का प्रयास ऐसे है जैसे चोर, चोर को जो कि वह स्वय है, पकडने के लिए पुलिसमैन बन जाय । केवल आत्म-अन्वेपण ही इस सत्य को प्रकट कर सकता है कि न तो अह की और न ही मन की वस्तुत सत्ता है । यही आत्म-अन्वेपण ही व्यक्ति को आत्मा या निरपेक्ष सत्ता के शुद्ध और अभेद्य रूप का साक्षात्कार करने के योग्य बनाता है । आत्म-साक्षात्कार के बाद कुछ भी ज्ञातव्य नही रहता, क्योकि यह पूर्ण आनन्द है, यही सब कुछ है । (महर्षीज गॉस्पल, भाग दूसरा)

"आत्म-अन्वेपण का उद्देश्य सम्पूर्ण मन को इसके स्रोत पर केन्द्रित करना

है। इसलिए यह एक 'अह' द्वारा दूसरे 'अह' की खोज का मामला नही है।''
(वही)

सम्पूर्ण मन को इसके स्रोत पर केन्द्रित करना इसे स्वय अपने पर अन्तराभिमुख करना है। यह मनोवैज्ञानिक अन्त निरीक्षण नही है। यह मन के विश्लेपण करने का प्रयास नही है, वल्कि मन के पीछे विद्यमान उस आत्मा में निमग्न होना और उसे जगाना है, जिसके लिए मन परदे का काम करता है। श्रीभगवान् का भक्तो को उपदेश था कि चिन्तन करें और अपने से प्रश्न करें, 'मैं कौन हूँ ?' इसके साथ ही हृदय पर, छाती की वायी ओर विद्यमान शारीरिक अग पर नही वल्कि दाहिनी ओर विद्यमान आध्यात्मिक हृदय पर, ध्यान केन्द्रित करें। प्रश्नकर्त्ता की प्रकृति के अनुसार, श्रीभगवान् भौतिक या मानसिक पक्ष पर, हृदय पर ध्यान केन्द्रित करने पर या 'मैं कौन हूँ ?' इस प्रश्न पर वल देते थे।

छाती की दायी ओर विद्यमान आध्यात्मिक हृदय भौतिक चक्रो मे से एक नही है, यह अह का केन्द्र और स्रोत है और आत्मा का निवास है और इसलिए एकता का स्थान है। जव श्रीभगवान् से यह प्रश्न किया गया कि इस स्थान पर हृदय की स्थिति के लिए धम-ग्रन्थो का या अन्य कौन-सा प्रमाण है तो उन्होन कहा कि उनका ऐसा निजी अनुभव है। वाद मे आयुर्वेद सम्वन्धी एक मलयालम ग्रन्थ द्वारा भी उनके कथन की पुष्टि हुई।[1] जिन व्यक्तियो ने उनके आदेशो का पालन किया है, उनका भी ऐसा अनुभव है। नीचे हम महर्षीज गॉस्पल से जिसमे श्रीभगवान् ने इसे विस्तार से समझाया है, एक वार्तालाप उद्धृत कर रहे हैं।

भक्त श्रीभगवान ने भौतिक शरीर के अन्दर हृदय के एक विशेप स्थान की ओर निर्देश किया है, अर्थात् छाती के मध्य भाग से दाहिनी ओर दो अगुल पर आध्यात्मिक हृदय है।

भगवान् हाँ, सन्तो के प्रभाव के अनुसार, यह आध्यात्मिक अनुभव का केन्द्र है। यह आध्यात्मिक हृदय-केन्द्र, हृदय नाम से विख्यात रक्त का सचालन करने वाले पेशीय अग से विलकुल भिन्न है। आध्यात्मिक हृदय-केन्द्र शरीर का अग नही है। आप हृदय के सम्वन्ध मे यही कह सकते हैं कि यह आपके अस्तित्व का सार है, जिसके साथ आप वस्तुत एक रूप हैं, चाहे आप जाग्रत अवस्था मे हो, सुषुप्ति मे हो या स्वप्नावस्था मे हो, चाहे आप काय कर रहे हो या आप समाधि मे लीन हो।

---

[1] बुद्धिमान् व्यक्ति का हृदय उसके दाहिनी ओर और मूर्ख का वायीं ओर होता है।

भक्त उस अवस्था मे यह शरीर के किसी एक भाग मे कैसे स्थानीकृत किया जा सकता है ? हृदय के लिए एक स्थान निश्चित करने का अर्थ यह होगा कि आप उस पर भौतिक सीमाएँ आरोपित कर दें जो समय और स्थान से परे है।

भगवान् यह सत्य है, परन्तु जो व्यक्ति हृदय की स्थिति के सम्बन्ध मे प्रश्न करता है वह अपने को शरीर के साथ या शरीर मे अस्तित्वमात्र मानता है। चूँकि शुद्ध चैतन्य के रूप मे हृदय के अशरीरी अनुभव के दौरान, सन्त को अपने शरीर का तनिक भी ज्ञान नही होता, वह उस निरपेक्ष अनुभव को, अपने शरीर के ज्ञान के दौरान प्राप्त एक प्रकार की हृदयानुभूति स्मृति द्वारा भौतिक शरीर की सीमाओ के अन्दर स्थानीकृत कर लेता है।

भक्त मुझ जैसे व्यक्तियो के लिए जिन्हे न तो हृदय का प्रत्यक्ष अनुभव है और न ही परिणामी स्मृति है, इस विषय को हृदयगम करना कुछ कठिन प्रतीत होता है। स्वय हृदय की स्थिति के सम्बन्ध मे शायद हम किसी प्रकार के अनुमान पर निभर करते हैं।

भगवान् अगर हृदय की स्थिति का निर्धारण अनुमान पर आधारित होता तो अज्ञानी के लिए भी यह विषय विचारणीय न होता। आपको अनुमान पर नही वल्कि निर्भ्रान्त स्फुरणा पर निभर करना पडता है।

भक्त यह स्फुरणा किसे होती है ?

भगवान् प्रत्येक व्यक्ति को।

भक्त क्या भगवान् मुझे हृदय का स्फुरणात्मक ज्ञान प्रदान करेंगे ?

भगवान् नही, हृदय का नही वल्कि आपके स्वरूप के सम्वन्ध मे आपके हृदय की स्थिति का।

भक्त क्या भगवान् का यह कहना है कि मैं स्फुरणात्मक रूप से भौतिक शरीर मे हृदय की स्थिति को जानता हूँ ?

भगवान क्यो नही ?

भक्त (अपनी ओर सकेत करते हुए) क्या श्रीभगवान् वैयक्तिक रूप से मेरी ओर सकेत कर रहे हैं ?

भगवान हाँ। यही स्फुरणा है। अभी आपने सकेत मे कैसे अपनी ओर निर्देश किया ? क्या आपने अपनी अँगुली अपनी छाती की ओर नही की ? यही ठीक हृदय-केन्द्र का स्थान है।

भक्त तो क्या हृदय-केन्द्र के प्रत्यक्ष ज्ञान की अनुपस्थिति मे मुझे इस स्फुरणा पर निभर रहना पडेगा ?

भगवान तो इसम दोष क्या है ? जब एक स्कूल जाने वाला लडका यह कहता है, "मैंने ही यह सवाल ठीक-ठीक निकाला है," या जब वह आपसे

पूछता है, "क्या मैं दौडकर जाऊँ और आपके लिए पुस्तक ले जाऊँ ?" तब वह क्या उस सिर की ओर सकेत करता है जिसने ठीक सवाल निकाला या वह उन टाँगो की ओर सकेत करता है, जो उसे पुस्तक लेने के लिए जल्दी से जल्दी ले जायेंगी ? नही, दोनो हालतो मे उसकी अँगुली स्वभावत छाती की दाहिनी ओर को उठ जाती है और इस प्रकार इस महान् सत्य की अभिव्यक्ति करती है कि उसमे मैं का स्रोत वही है। यह एक निर्भ्रान्त स्फुरणा है, जो इस प्रकार उसे स्वय अपनी ओर, हृदय की ओर जो कि आत्मा है, निर्देश कराती है। यह काय विलकुल अनैच्छिक और सार्वलौकिक है, अर्थात प्रत्येक व्यक्ति के सम्वन्ध मे यह सत्य है। भौतिक शरीर मे हृदय-केन्द्र की स्थिति के सम्वन्ध में इससे वडा प्रमाण आपको और क्या चाहिए ?

श्रीभगवान् यह उपदेश दिया करते थे कि व्यक्ति दाहिनी ओर हृदय पर ध्यान केन्द्रित करते हुए वैठे और अपने से यह पूछे कि 'मैं कौन हूँ ?' जव चिन्तन के समय विचार उत्पन्न हो तो व्यक्ति को उनका अनुसरण नही करना चाहिए, अपितु उन्हे देखना चाहिए और पूछना चाहिए, "यह विचार क्या है ? यह कहाँ से आया ? और किसे आया ? मुझे—और मैं कौन हूँ ?' इस प्रकार आलोचना करने पर प्रत्येक विचार लुप्त हो जाता है और उस मूल 'मैं' के विचार की ओर अभिमुख होता है। अगर अशुद्ध विचार उत्पन्न हो, उनके साथ भी इसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिए। साधना भी वही कार्य करती है, जिसे करने का दावा मनोविश्लेषण करता है—यह अवचेतन मे से अशुद्धता को स्वच्छ करता है, इसे दिन के प्रकाश मे लाता है और इसका विनाश कर देता है।" हाँ, सभी प्रकार के विचार चिन्तन मे पैदा होते हैं। यही केवल ठीक है, क्योकि आप मे जो कुछ गुप्त होता है, वह वाहर आ जाता है। जव तक यह ऊपर न आये, इसका किस प्रकार विनाश किया जा सकता है ?" (महर्षीज गॉस्पल)

इस प्रकार के चिन्तन के लिए सभी विचार-रूप विरोधी होते हैं। कभी-कभी कोई भक्त श्रीभगवान् से यह प्रश्न करता कि क्या वह आत्म-अन्वेषण के दौरान 'मैं वह हूँ' इस सूत्र का या किसी अन्य सूत्र का उपयोग कर सकता है, परन्तु वह हमेशा इसका निषेध करते थे। एक अवसर पर जब एक भक्त ने एक के वाद दूसरा सूत्र सुझाया तो उन्होंने कहा, "साक्षात्कार के साथ सभी विचार असगत हैं। सही माग तो यह है कि अपने और अन्य सभी विचारो को निष्कासित कर दो। विचार एक चीज है और साक्षात्कार विलकुल दूसरी।"

'मैं कौन हूँ', इस प्रश्न का कोई उत्तर नही है। इसका कोई उत्तर हो भी नही सकता। यह तो 'मैं' के विचार का विनाश करता है, जो कि सभी

अन्य विचारो का जनक है और उस शान्ति मे प्रवेश करता है, जहाँ कोई विचार नही होता ।

"चिन्तन के दौरान, अन्वेषण के प्रबोधक उत्तर नही दिये जाने चाहिए जैसे 'शिवोऽहम्' (मैं शिव हूँ) । सच्चा उत्तर स्वयमेव आयेगा । अह द्वारा दिया जाने वाला कोई उत्तर ठीक नही हो सकता ।" प्रथम अध्याय के अन्त मे वर्णित आत्म-ज्ञान की धारा से यह उत्तर उद्भूत होता है, यह व्यक्ति की आत्मा को आन्दोलित करता है परन्तु फिर भी अवैयक्तिक होता है । निरन्तर अभ्यास से इसका पुनरावर्तन होता है और अन्त मे एक स्थिति ऐसी आती है जब कि न केवल चिन्तन के दौरान बल्कि हमारी वाणी और क्रिया मे भी यह निरन्तर विराजमान रहने लगता है फिर भी हमे विचार का प्रयोग करना है, क्योकि अह ज्ञान धारा के साथ सन्धि करने का प्रयास करेगा और अगर एक बार इसे सहन कर लिया जाय, तो यह धीरे-धीरे शक्तिशाली हो जायेगा और फिर उन गैर-यहूदियो की तरह जिन्हे यहूदियो ने स्वर्ग मे रहने की आज्ञा दे दी थी, प्रभुत्व के लिए लडेगा । श्रीभगवान् बलपूर्वक कहा करते थे (उदाहरण के लिए, शिव प्रकाशम् पिल्लई को दिये गये अपने उत्तरो मे) कि अन्वेषण अन्त तक जारी रहना चाहिए । जो भी स्थितियाँ, जो भी सिद्धियाँ, जो भी इन्द्रियानुभव या दर्शन हो, हमेशा यह प्रश्न रहता है कि यह किसे होते है और अन्तत केवल आत्मा रह जाता है ।

वस्तुत दर्शन और सिद्धियाँ बाधा सिद्ध हो सकती हैं, वह मन को इतने प्रबल रूप से जकड लेती हैं जैसे कि भौतिक शक्ति या आनन्द के प्रति आसक्ति और इसे इस भ्रम मे डाल देती है कि इसका आत्मा मे रूपान्तरण हो गया है । और जिस प्रकार भौतिक शक्तियाँ तथा आनन्दो के साथ होता है, इनके लिए इच्छा इनकी प्राप्ति की अपेक्षा अधिक घातक होती है । एक बार का जिक्र है नरसिंह स्वामी श्रीभगवान् के सम्मुख बैठे हुए थे और विवेकानन्द के जीवन तथा उपदेशो का तमिल मे अनुवाद कर रहे थे । इस बीच वह विख्यात प्रसग आया जब श्री रामकृष्ण के एक स्पर्श ने विवेकानन्द को सभी वस्तुओ को एक समझने का अनुभव प्रदान किया था । इस समय नरसिंह स्वामी के मन मे यह विचार आया कि क्या इस प्रकार का अनुभव वाछनीय नही है और क्या दर्शन या स्पर्श द्वारा श्रीभगवान् इस प्रकार का अनुभव उन्हे प्रदान कर सकते थे । जैसा कि प्राय होता था, जो प्रश्न उनके मन को आन्दोलित कर रहा था, वही प्रश्न उसी समय एक अन्य भक्त ने भी किया । अचम्माल ने पूछा कि क्या भक्त सिद्धियाँ प्राप्त कर सकते हैं । यह वह समय था जब श्रीभगवान् **फॉर्टी वर्सिज ऑन रिऐलिटी** की रचना कर रहे थे । परिशिष्ट सहित उनके इस ग्रन्थ को उनके सिद्धान्त की व्याख्या समझा जा सकता है

और उन्होंने प्रश्न के उत्तर मे एक श्लोक की रचना की।" "शाश्वत सत्ता मे लीन रहना सच्ची सिद्धि है। अन्य उपलब्धियाँ तो स्वप्नावस्था की वस्तुओ के समान हैं। क्या जाग्रत अवस्था मे वे सत्य सिद्ध होती हैं ? क्या शाश्वत सत्ता मे लीन और निर्भ्रान्त व्यक्ति इन बातो की परवाह करेंगे ?"

चमत्कारिक शक्तियाँ आध्यात्मिक पथ की बाधा हैं। सिद्धियाँ और उनसे बढकर सिद्धियो की इच्छा साधक के माग की बाधा है। देविकालोत्तरम् मे, जिसका श्रीभगवान् ने सस्कृत से तमिल मे अनुवाद किया, लिखा है "व्यक्ति चमत्कारी सिद्धियो को, भले ही वह उसे प्रत्यक्षत प्रदान की जायें, स्वीकार न करे, वह तो उन रस्सो के समान हैं, जिनसे पशु को बाँधा जाता है और देर-सवेर वह व्यक्ति को अध पतन की ओर ले जाती है। यह मुक्ति का मार्ग नही है। अनन्त चैतन्य के अतिरिक्त अन्यत्र इसकी उपलब्धि नही होती।"

इस विषयान्तरण से हम अपने विषय की ओर आते हैं। श्रीभगवान् ने आत्म-अन्वेषण का केवल चिन्तन के तकनीक रूप मे ही नही बल्कि जीवन के तकनीक रूप मे भी निर्धारण किया। जब उनसे यह प्रश्न किया गया कि क्या इसका सदा प्रयोग किया जाना चाहिए या केवल चिन्तन के निश्चित समय मे, तो उन्होंने उत्तर दिया, "हमेशा।" इससे यह सूचित होता है कि वे सासारिक जीवन का परित्याग करने के लिए नही कहते थे क्योकि जो परिस्थितियाँ साधना के माग की बाधाएँ थीं, वे इस प्रकार साधना के साधन मे परिवर्तित हो जाती थी। अन्तत , साधना अह पर एक प्रहार है और जब तक अह आशा और भय में, महत्त्वाकाक्षा और विक्षोभ मे, किसी प्रकार के आवेश या इच्छा मे निमग्न है, तब तक हम कितना ही चिन्तन करें हमे सफलता नही मिल सकती। श्रीराम और राजा जनक यद्यपि ससार मे रहते थे तथापि वह आसक्ति से मुक्त थे। जिस साधु ने श्रीभगवान् पर पत्थर लुढकाने का प्रयत्न किया था, वह आसक्ति में आबद्ध था हालाँकि उसने ससार का परित्याग कर दिया था।

साथ ही, इसका यह अथ नही कि बिना किसी आन्दोलन की योजना के नि स्वाथ काय ही पर्याप्त है क्योकि अह सूक्ष्म और आग्रही है और यह उन क्रियाओ मे शरण ले लेगा, जिनका उद्देश्य इसे नष्ट करना है, जैसे इसे नम्रता या तपश्चर्या मे अभिमान की अनुभूति होती है।

आत्म अन्वेषण दैनिक क्रिया है। विचार आने पर अपने से यह प्रश्न करना कि 'मैं कौन हूँ', आन्दोलन की एक प्रभावशाली योजना है। जब एक अनुद्वेगात्मक विचार पर इसका प्रयोग किया जाय, जैसे किसी पुस्तक या फिल्म के सम्बन्ध मे किसी की सम्मति, तो ऐसा प्रतीत न हो, परन्तु जब इसका प्रयोग उद्वेगात्मक विचार पर किया जाता है, इसका प्रबल प्रभाव होता

है और यह आवेशो की जड पर कुठाराघात करता है। एक व्यक्ति का अपमान किया गया है और वह आक्रोश अनुभव करता है—किसका अपमान किया गया और कौन आक्रोश अनुभव करता है ? कौन प्रफुल्लित या निराश है, क्रुद्ध या हर्षोल्लसित है ? एक व्यक्ति दिवा-स्वप्नो की दुनिया मे विचरने लगता है या विजयो के स्वप्न देखता है और उसी प्रकार अपने अह का प्रसार करता जाता है, जिस प्रकार चिन्तन इसका सकोचन। इस अवसर पर विचार की तलवार को बाहर निकालने और इस बन्धन को काटने के लिए शक्ति और स्फूर्ति की आवश्यकता होती है।

जीवन की गतिविधियो मे भी श्रीभगवान् ने विचार के साथ-साथ दैवी इच्छा के प्रति समपण का आदेश दिया। उन्होने उस व्यक्ति की, जो यह सोचता है कि वह अपना भार और दायित्व स्वय वहन किये हुए है, तुलना गाडी मे यात्रा करने वाले उस यात्री से की, जो गाडी मे अपना सामान स्वय उठाने का आग्रह करता है। हालाँकि गाडी इसे साथ-साथ उठाये जा रही है और बुद्धिमान यात्री अपना सामान पट्टे पर रख देता है और आराम से बैठ जाता है। सभी आदेश और उदाहरण जो श्रीभगवान् देते थे वे स्वार्थवृत्ति के ह्रास तथा 'मैं कर्ता हूँ', इस भ्रम के निवारण पर केन्द्रित थे।

एक बार प्रसिद्ध काग्रेसी कार्यकर्ता जमनालाल बजाज आश्रम मे आये और श्रीभगवान् से पूछने लगे "क्या स्वराज के लिए इच्छा उचित है ?"

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया, "हाँ, लक्ष्य के लिए निरन्तर कार्य व्यक्ति के दृष्टिकोण को व्यापक बना देता है, जिससे वह धीरे-धीरे अपने देश मे लीन हो जाता है। इस प्रकार के व्यक्ति का लय वाछनीय है और यह कर्म निष्काम कर्म है।"

जमनालालजी को बडी प्रसन्नता हुई कि उन्होने श्रीभगवान् से अपने राजनीतिक ध्येयो की स्वीकृति प्राप्त कर ली है। उन्होने श्रीभगवान् से निश्चित आश्वासन प्राप्त करने की इच्छा से यह प्रश्न किया जो कि तर्कसगत प्रतीत होता था, "अगर निरन्तर सघर्ष और महान् बलिदान के उपरान्त स्वराज मिलता है तो क्या इससे व्यक्ति का प्रफुल्लित होना न्यायोचित नही है ?"

परन्तु उन्हे निराश होना पडा। "नही, सघर्ष के दौरान, उसे उच्च सत्ता के प्रति समर्पण कर देना चाहिए, उसकी शक्ति को सदा अपने सम्मुख रखना चाहिए और कभी नहीं भुलाना चाहिए। तब वह कैसे फूला समा सकता है ? उसे अपने कार्य के परिणामो की भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। तभी यह निष्काम कर्म बनता है।"

कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति के कार्य का परिणाम भगवान् पर निर्भर करता है, उसे तो केवल शुद्ध और निःस्वार्थ भाव से इसे सम्पन्न करना

है। इसके अतिरिक्त, बिना किसी स्वाय के, न्याय काय के निष्पादन द्वारा, दृश्य परिणामो के अतिरिक्त, अधिक शक्तिशाली किन्तु सूक्ष्म रूप से, व्यक्ति दूसरो को भी लाभ पहुँचाता है। वह अपने को प्रत्यक्ष रूप से भी लाभ पहुँचाता है। वस्तुत निःस्वार्थ कार्य को सच्चा बैंक खाता कहा जा सकता है। यह शुभ कर्मों का सग्रह है जिससे व्यक्ति के भविष्य का निर्माण होता है।

इस प्रकार के उदाहरण मे एक आगन्तुक द्वारा प्रश्न किये जाने पर, श्रीभगवान् ने यह समझाया कि किस प्रकार की मानसिक वृत्ति सामाजिक या राजनीतिक गतिविधि को सच्ची साधना बना सकती है। परन्तु उन्होने अपने भक्तों को इस प्रकार की गतिविधियो में निमग्न होने से निरुत्साहित किया। यही पर्याप्त था कि वह जीवन मे अपने कार्यों को शुद्ध और नि स्वार्थ भाव से करें, न्याय्य काय को केवल इसलिए करें कि यह न्याय्य है। यद्यपि ससार की वतमान अवस्था अशान्त है, यह एक विस्तृत समस्वरता का भाग है, और आत्म ज्ञान के विकास द्वारा व्यक्ति इस समस्वरता को जान सकता है तथा घटना-क्रम को परिवर्तित करने के प्रयासो की अपेक्षा अधिक समस्वर प्रभाव डाल सकता है। इस विषय मे श्रीभगवान् की शिक्षा, पाल ब्रण्टन के साथ वार्तालाप मे सग्रहीत है

पाल ब्रण्टन क्या महर्षि ससार के भविष्य के सम्बन्ध मे अपनी सम्मति देंगे क्योकि हम बडे नाजुक दौर मे से गुजर रहे हैं ?

भगवान् आप भविष्य के सम्बन्ध मे क्यों चिन्तित होते हैं ? आप अपने वतमान को भी ठीक तरह से नही जानते। वतमान का ध्यान रखें और भविष्य अपना ध्यान स्वय रख लेगा।

पाल ब्रण्टन क्या ससार शीघ्र ही मैत्री और पारस्परिक सहायता के नवयुग मे प्रवेश करेगा या यह अव्यवस्था और युद्ध के गर्त मे गिरेगा ?

भगवान् ससार मे एक ही सत्ता है जो इस शासन पर करती है और ससार की देखभाल करना उसका ही काय है। जिसने इस ससार को जीवन प्रदान किया है, वह यह भी जानता है कि किस प्रकार इसकी देखभाल की जाय। वह इस ससार का भार उठाये हुए है, आप नही।

पाल ब्रण्टन अगर व्यक्ति निष्पक्ष होकर भी चारो ओर दृष्टिपात करे, तो भी उसके लिए यह जानना कठिन है कि यह दयामय दृष्टि कहाँ से आती है।

भगवान् जैसे आप स्वय होंगे, वैसा ही यह ससार आपको दिखायी देगा। अपने को समझे बिना ससार को समझने के प्रयास का क्या लाभ ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर सत्यान्वेषियो को विचार करने की आवश्यकता नहीं है। लोग इस प्रकार के प्रश्नो पर अपनी शक्ति का अपव्यय करते हैं।

है और यह आवेशो की जड पर कुठाराघात करता है। एक व्यक्ति का अपमान किया गया है और वह आक्रोश अनुभव करता है—किसका अपमान किया गया और कौन आक्रोश अनुभव करता है ? कौन प्रफुल्लित या निराश है, क्रुद्ध या हर्षोल्लसित है ? एक व्यक्ति दिवा-स्वप्नो की दुनिया मे विचरने लगता है या विजयो के स्वप्न देखता है और उसी प्रकार अपने अह का प्रसार करता जाता है, जिस प्रकार चिन्तन इसका सकोचन । इस अवसर पर विचार की तलवार को बाहर निकालने और इस बन्धन को काटने के लिए शक्ति और स्फूर्ति की आवश्यकता होती है ।

जीवन की गतिविधियो मे भी श्रीभगवान् ने विचार के साथ-साथ दैवी इच्छा के प्रति समर्पण का आदेश दिया । उन्होंने उस व्यक्ति की, जो यह सोचता है कि वह अपना भार और दायित्व स्वय वहन किये हुए है, तुलना गाडी मे यात्रा करने वाले उस यात्री से की, जो गाडी मे अपना सामान स्वय उठाने का आग्रह करता है। हालांकि गाडी इसे साथ-साथ उठाये जा रही है और बुद्धिमान यात्री अपना सामान पट्टे पर रख देता है और आराम से बैठ जाता है। सभी आदेश और उदाहरण जो श्रीभगवान् देते थे वे स्वार्थवृत्ति के ह्रास तथा 'मैं कर्ता हूँ', इस भ्रम के निवारण पर केन्द्रित थे।

एक बार प्रसिद्ध काग्रेसी कार्यकर्ता जमनालाल बजाज आश्रम मे आये और श्रीभगवान् से पूछने लगे "क्या स्वराज के लिए इच्छा उचित है ?"

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया, "हाँ, लक्ष्य के लिए निरन्तर काय व्यक्ति के दृष्टिकोण को व्यापक बना देता है, जिससे वह धीरे-धीरे अपने देश मे लीन हो जाता है। इस प्रकार के व्यक्ति का लय वाछनीय है और यह कर्म निष्काम कर्म है।"

जमनालालजी को बडी प्रसन्नता हुई कि उन्होने श्रीभगवान् से अपने राजनीतिक ध्येयो की स्वीकृति प्राप्त कर ली है। उन्होने श्रीभगवान् से निश्चित आश्वासन प्राप्त करने की इच्छा से यह प्रश्न किया जो कि तर्कसगत प्रतीत होता था, "अगर निरन्तर सघर्ष और महान् बलिदान के उपरान्त स्वराज मिलता है तो क्या इससे व्यक्ति का प्रफुल्लित होना न्यायोचित नही है ?"

परन्तु उन्हें निराश होना पडा । "नही, सघर्ष के दौरान, उसे उच्च सत्ता के प्रति समपण कर देना चाहिए, उसकी शक्ति को सदा अपने सम्मुख रखना चाहिए और कभी नही भुलाना चाहिए। तब वह कैसे फूला समा सकता है ? उसे अपने कार्य के परिणामो की भी चिन्ता नही करनी चाहिए। तभी यह निष्काम कम बनता है।"

कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति के काय का परिणाम भगवान् पर निर्भर करता है, उसे तो केवल शुद्ध और नि स्वाथ भाव से इसे सम्पन्न करना

है। इसके अतिरिक्त, बिना किसी स्वार्थ के, न्याय कार्य के निष्पादन द्वारा, दृश्य परिणामो के अतिरिक्त, अधिक शक्तिशाली किन्तु सूक्ष्म रूप से, व्यक्ति दूसरों को भी लाभ पहुँचाता है। वह अपने को प्रत्यक्ष रूप से भी लाभ पहुँचाता है। वस्तुत निःस्वार्थ कार्य को सच्चा बैंक खाता कहा जा सकता है। यह शुभ कर्मों का सग्रह है जिससे व्यक्ति के भविष्य का निर्माण होता है।

इस प्रकार के उदाहरण मे एक आगन्तुक द्वारा प्रश्न किये जाने पर, श्रीभगवान् ने यह समझाया कि किस प्रकार की मानसिक वृत्ति सामाजिक या राजनीतिक गतिविधि को सच्ची साधना बना सकती है। परन्तु उन्होने अपने भक्तों को इस प्रकार की गतिविधियो मे निमग्न होने से निरुत्साहित किया। यही पर्याप्त था कि वह जीवन मे अपने कार्यो को शुद्ध और निःस्वार्थ भाव से करें, न्याय्य कार्य को केवल इसलिए करें कि यह न्याय्य है। यद्यपि ससार की वर्तमान अवस्था अशान्त है, यह एक विस्तृत समस्वरता का भाग है, और आत्म ज्ञान के विकास द्वारा व्यक्ति इस समस्वरता को जान सकता है तथा घटना क्रम को परिवर्तित करने के प्रयासो की अपेक्षा अधिक समस्वर प्रभाव डाल सकता है। इस विषय मे श्रीभगवान् की शिक्षा, पाल ब्रण्टन के साथ वार्तालाप मे सग्रहीत है

पाल ब्रण्टन क्या महर्षि ससार के भविष्य के सम्बन्ध मे अपनी सम्मति देंगे क्योकि हम बडे नाजुक दौर मे से गुजर रहे हैं ?

भगवान आप भविष्य के सम्बन्ध में क्यो चिन्तित होते हैं ? आप अपने वर्तमान को भी ठीक तरह से नहीं जानते। वर्तमान का ध्यान रखें और भविष्य अपना ध्यान स्वय रख लेगा।

पाल ब्रण्टन क्या ससार शीघ्र ही मैत्री और पारस्परिक सहायता के नवयुग मे प्रवेश करेगा या यह अव्यवस्था और युद्ध के गर्त मे गिरेगा ?

भगवान् ससार में एक ही सत्ता है जो इस शासन पर करती है और ससार की देखभाल करना उसका ही कार्य है। जिसने इस ससार को जीवन प्रदान किया है, वह यह भी जानता है कि किस प्रकार इसकी देखभाल की जाय। वह इस ससार का भार उठाये हुए है, आप नहीं।

पाल ब्रण्टन अगर व्यक्ति निष्पक्ष होकर भी चारों ओर दृष्टिपात करे, तो भी उसके लिए यह जानना कठिन है कि यह दयामय दृष्टि कहाँ से आती है।

भगवान् जैसे आप स्वय होंगे, वैसा ही यह ससार आपको दिखाई देगा। अपने को समझे बिना ससार को समझने के प्रयास का क्या लाभ ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर सत्य वेषियो का विचार करने की आवश्यकता नही है। लोग इस प्रकार के प्रश्नो पर अपनी शक्ति का अपव्यय ...

पहले अपने सच्चे स्वरूप का पता लगाओ फिर आप ससार के वास्तविक स्वरूप को समझ सकेंगे ।

हमे इस वात का ध्यान रखना चाहिए कि इस अन्तिम वाक्य मे श्रीभगवान् 'अपने' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, जिसका अर्थ अह से है और जिसे प्रश्नकर्त्ता अपने पर आरोपित कर रहा है । वास्तविक आत्मा मसार का भाग नही है वल्कि परमात्मा और सृष्टिकर्त्ता का भाग है ।

जीवन की गतिविधियो मे आत्म-अन्वेषण के प्रयोग के लिए आदेश का अथ, इसके परम्परागत प्रयोग का विस्तार और हमारे युग की आवश्यकताओ के प्रति समायोजन था । चिन्तन के रूप मे अपने प्रत्यक्ष प्रयोग से यह साधना का शुद्धतम और सर्वाधिक प्राचीन रूप है । यद्यपि श्रीभगवान् को यह स्वत स्फूर्ति तथा अनुपदिष्ट रूप मे प्राप्त हुआ तथापि यह प्राचीन ऋषियो की परम्परा मे है । ऋषि वसिष्ठ ने लिखा है " 'मैं कौन हूँ' यह अन्वेषण आत्मा की तलाश है और वह अग्नि है जो धारणा सम्वन्धी विचार की विषाक्त वृद्धि के बीज को जला देती है ।" पहले यह विशुद्ध ज्ञान-माग के रूप मे था, यह सवसे सरल तथा सवसे महान था, यह अन्तिम रहस्य था जो केवल विशुद्ध प्रज्ञावानो को दिया जाता था और वे ससार की चिन्ताओ से परे निरन्तर चिन्तन मे जिसका अनुसरण करते थे । दूसरी ओर कम माग उनके लिए था जो ससार मे रहते थे और भगवद्गीता के अनुसार कर्मो के फल मे आसक्त हुए विना, नि स्वाथ भाव से, अहकार-रहित होकर दूसरो की सेवा करते थे । इन दो मार्गो के मिलन से एक नये मार्ग का निर्माण किया गया है, जो हमारे युग की नयी परिस्थितियो के अनुरूप है । आश्रम या कन्दरा की तरह कार्यालय या वक-शाप मे वाध्य कमकाण्ड का आप चाहे पालन करें या न करें, मौन भाव से इस माग का अनुसरण किया जा मकता है । इसके लिए आपको चिन्तन के लिए कुछ समय निकालना होगा और फिर दिन भर स्मरण करना होगा ।

सैद्धान्तिक रूप से, अन्तिम और अत्यन्त गुह्य माग की खुली घोषणा और हमारे युग के साथ इसके समायोजन द्वारा ईसामसीह के इस कथन की कि 'अन्त मे गुप्त रहस्य का उद्घाटन हो जाएगा' पुष्टि हो जाती है । यही श्रीभगवान् ने किया था ।

वस्तुत यह नया मार्ग ज्ञान माग और भक्ति माग के मिलन से कुछ अधिक है । यह भक्ति भी है क्योकि यह शुद्ध प्रेम की सृष्टि करता है—आत्मा और आन्तरिक गुरु के लिए प्रेम, जो कि भगवान् का प्रेम है, परमात्मा का प्रेम है । श्रीभगवान ने **महर्षीज गॉस्पल** मे कहा है "शाश्वत, अखण्ड तथा प्राकृतिक रूप से आत्मलीनता की अवस्था ज्ञान है । आत्मलीनता के लिए आपको आत्मा मे प्रेम करना होगा । चूँकि भगवान् वस्तुत आत्मा हैं, इसलिए

आत्म-प्रेम भगवद्प्रेम है और वही भक्ति है। इस प्रकार ज्ञान और भक्ति एक ही वस्तु है।"

श्रीभगवान् ने जिस ज्ञान और भक्ति का उपदेश दिया, वे बिलकुल भिन्न मार्ग प्रतीत हो सकते हैं, परन्तु वे एक-दूसरे के अधिक निकट हैं और दोनो एक-दूसरे का निषेध नही करते। वस्तुत वे उपर्युक्त समन्वित वर्णित मार्ग मे एकीकृत हो सकते हैं।

एक ओर, बाह्य गुरु के प्रति समर्पण, उसकी कृपा के कारण आन्तरिक गुरु की ओर ले जाता है, विचार का उद्देश्य इसी की तलाश है, और दूसरी ओर विचार शान्ति तथा समर्पण की ओर ले जाता है। दोनो मार्ग प्रत्यक्ष मानसिक शान्ति के लिए प्रयत्नशील हैं, भेद इतना है कि ज्ञान मार्ग मे व्यक्ति बाह्य गुरु के प्रति और भक्ति मार्ग मे आन्तरिक गुरु के प्रति अधिक अभिमुख होता है। साधना की अप्रत्यक्ष विधियाँ मानसिक शक्ति को अधिक सुदृढ बनाती हैं ताकि व्यक्ति आत्मा के सम्मुख समर्पण कर सके और इसी की ओर श्रीभगवान् ने इस प्रकार निर्देश किया था, "चोर को पकड़ने के लिए जो कि वह स्वय है, चोर मानो सिपाही का रूप धारण कर लेता है।" नि सन्देह यह सत्य है कि समर्पण करने से पूर्व मन को शक्ति सम्पन्न और शुद्ध बनाना होगा, परन्तु विचार के प्रयोग के साथ, भगवान् की कृपा से यह कार्य स्वत हो जाता है।

एक बार कृष्ण जीवरजनी नामक एक भक्त ने इसके सम्बन्ध मे श्रीभगवान् से प्रश्न किया "ग्रन्थो मे ऐसा लिखा है कि आत्म-साक्षात्कार की तैयारी के लिए व्यक्ति को अपने मे सभी अच्छे या दैवी गुणो का विकास करना चाहिए।"

श्रीभगवान् ने उत्तर दिया "सभी अच्छे या दिव्य गुण ज्ञान मे सम्मिलित हैं और सभी बुरे या आसुरी गुण अज्ञान में सम्मिलित हैं। ज्ञानोदय होने पर सभी अज्ञान चला जाता है और सभी दैवी गुण स्वत आ जाते हैं। अगर कोई व्यक्ति ज्ञानी है तो वह असत्य नहीं बोल सकता और न कोई गलत काम कर सकता है। निस्सन्देह, कई ग्रन्थों में ऐसा लिखा है कि व्यक्ति को एक के बाद दूसरे गुण का विकास करना चाहिए और इस प्रकार अन्तिम मोक्ष के लिए तैयारी करनी चाहिए परन्तु ज्ञान या विचार मार्ग का अनुसरण करने वालो के लिए, दिव्य गुणो की प्राप्ति के निमित्त उनकी साधना ही पर्याप्त है, उन्हें और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है।"

विरूपाक्ष अवधि से ही महर्षि इस प्रकार के उत्तर दिया करते थे जो कि श्रीरमण गीता के नाम से प्रकाशित हैं। बहुत से भक्तो ने अन्य उपायो का भी आश्रय लिया, जैसे धार्मिक अनुष्ठान और प्राणायाम। न केवल विचार के प्रयोग से पूर्व तैयारी के रूप मे इन उपायो का आश्रय लिया जाता है बल्कि

कई उदाहरणो में वे साथ-साथ चलते हैं। वहुत से भक्तो ने श्रीभगवान् से कहा कि उन्होने किसी गुरु द्वारा निर्दिष्ट इन उपायो का आश्रय लिया था या वह इनके प्रयोग के लिए श्रीभगवान की स्वीकृति चाहते थे। श्रीभगवान् ने भक्तो की वातो को कृपापूर्वक सुना तथा अपनी स्वीकृति प्रदान की। परन्तु अगर किसी भक्त को यह उपाय वाधक प्रतीत हुआ तो श्रीभगवान् ने उससे भी सहमति प्रकट की। एक भक्त ने उन्हे वताया कि अव उसे अन्य उपायो से जिनका उसने पहले प्रयोग किया, उसे कोई सहारा नही मिलता था। उसने उन उपायो का परित्याग करने के लिए उनकी स्वीकृति चाही। उन्होने उत्तर दिया, "हाँ, अन्य सव उपाय केवल विचार की ओर ले जाते हैं।"

कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता था कि वहुत कम लोग विचार का प्रयोग करने की आकाक्षा रखते थे। वस्तुत आश्रम मे आने वाले वहुत से व्यक्तियो के लिए जो जीवन के रहस्यो की व्याख्या या शान्ति या चरित्र के शुद्धीकरण और दृढीकरण के निमित्त किसी अनुशासन के लिए कहते थे, अद्वैत सिद्धान्त या आत्म-अन्वेषण की साधना के आचरण का सिद्धान्त दुरूह था। इसीलिए सतही दर्शक को यह देखकर निराशा या विक्षोभ होता था कि इन व्यक्तियो को शान्ति का प्रसाद नही मिला। परन्तु सतही दर्शको को ही ऐसा अनुभव होता था क्योकि जो व्यक्ति जितने अधिक निकट से देखता था, वह इस परिणाम पर पहुँचता था कि वास्तविक उत्तर शाब्दिक नही वल्कि मौन प्रभाव है जो प्रश्नकर्त्ता के मन को आन्दोलित करता है।

अपनी व्याख्याओ मे श्रीभगवान् अन्तिम सत्य के प्रति अनुरक्त थे जिसे केवल ज्ञानी ही जानता है। वह इस सिद्धान्त को मानते थे कि भिन्नता से, अतीत होने के कारण, ज्ञानी कोई सम्वन्ध नही रखता और इसीलिए वह किसी को अपना शिष्य नही कहता। उसकी मौन कृपा, मन पर इस प्रकार का प्रभाव डालती है कि वह अपने विकास के लिए सर्वाधिक उपयुक्त उपायो को ढूंढ लेता है, पहले ऐसे भक्तो की चर्चा की गयी है जिन्होंने केवल समर्पण करने और मन को शान्त रखने का यत्न किया। "गुरु की कृपा समुद्र के समान है। अगर कोई व्यक्ति एक प्याला लेकर आता है, तो उसे केवल एक प्याला ही मिलेगा। समुद्र के दारिद्रय की शिकायत करने का कोई लाभ नही। जितना ही वडा पात्र होगा उतना ही अधिक जल उसमे आयेगा। यह पूर्णत उस पर निर्भर करता है।"

एक वृद्ध फ्रेंच महिला, जो एक आश्रमवासी भक्त की माता थी, आश्रम देखने आयी। न तो वह दर्शन समझती थी और न उन्होंने इसके समझने की कोई चेष्टा की, परन्तु आश्रम मे आगमन के समय से ही वह सच्ची कैथोलिक वन गयी। उन्होंने यह स्वीकार किया कि यह परिवर्तन श्रीभगवान् के

प्रभाव के कारण है। शाब्दिक व्याख्याओ की अपेक्षा इस प्रकार के विकास श्रीभगवान् की शिक्षा के सार तत्त्व थे।

श्रीभगवान् की सदा वर्द्धमान कृपा भक्तो को उनके अधिकाधिक निकट ला रही थी और इस प्रकार भक्ति के माध्यम से उनके हृदयो को विचार के लिए तैयार कर रही थी। न केवल भक्तो का बल्कि आकस्मिक आगन्तुको का भी ऐसा अनुभव था कि अन्तिम वर्षों मे श्रीभगवान् का चेहरा अत्यन्त कोमल और दीप्तिमान हो गया था। प्रेम के माध्यम से वह ज्ञान की ओर ले जाते थे, जिस प्रकार कि ज्ञान के माध्यम से विचार प्रेम की ओर ले जाता है। उनके प्रति भक्ति मन को आत्मोन्मुख करती थी जिस प्रकार कि आत्मा की तलाश व्यक्ति के हृदय मे असीम प्रेम को जागरित करती है।

एक भक्त ने श्रीभगवान् का इस प्रकार वर्णन किया है "उनके चेहरे को देखें, यह इतना आकर्षक, इतना सदय और इतना बुद्धि वैभव सयत है, परन्तु साथ ही इस पर नवजात शिशु का भोलापन झलकता है। वे जो कुछ ज्ञातव्य है, सब जानते हैं। उनके दर्शनो से हृदय मे एक तरग उत्पन्न होती है। ऐसा लगता है मेरे अस्तित्व का, मेरे बाह्याभिमुख हृदय का रूपान्तरण हो रहा है। हृदय मे बार-बार यह भावना उठती है कि मैं कौन हूँ ? और इस प्रकार प्रेम अन्वेषण की ओर ले जाता है।"

जिस प्रकार भगवान् वाणी और लेखन द्वारा साधना के तकनीक का वर्णन करते थे, उस प्रकार अन्य शिक्षक नही करते। इसका कारण यह है कि इस प्रकार का तकनीक केवल तभी प्रभावशाली होता है जब इस तकनीक के प्रयोक्ता को, उसके गुरु द्वारा वह उपदेश रूप मे दिया जाये। इस विषय मे श्रीभगवान् की नवीन पद्धति के कारण यह प्रश्न पैदा होता है कि विचार कैसे व्यक्ति मे प्रवेश कर सकता है, गुरु द्वारा व्यक्तिगत रूप मे अनुपदिष्ट साधना किस प्रकार भक्त मे प्रवेश कर सकती है।

श्रीभगवान् ने स्वय इस सार्वलौकिक परम्परा की पुष्टि की कि साधना की पद्धति केवल तभी उचित है जब कि गुरु द्वारा उपदिष्ट हो। जब एक बार उनसे यह प्रश्न किया गया कि क्या व्यक्ति किसी प्रकार सीखे गये मन्त्रो से लाभ उठा सकता है। तो उन्होने उत्तर दिया, "नही, उसे मन्त्रो की दीक्षा दी जानी चाहिए।"

फिर कैसे उन्होने खुले रूप मे विचार की व्याख्या की और कभी-कभी जिज्ञासुओ से अपने ग्रन्थो मे लिखित व्याख्याओ का अध्ययन करने के लिए कहा ? इसका एकमात्र उत्तर यही है कि वह तिरुवन्नामलाई मे उनके निकट आने वाले कुछ व्यक्तियो के गुरु मात्र ही नहीं हैं। वे गुरु से बढकर हैं। उनका अपने भक्तो पर अधिकार है, इसलिए उन्होंने इसकी स्वीकृति दी।

आज आध्यात्मिक दृष्टि से अन्धकारावच्छन्न इस युग मे जबकि अनेक भक्तजन गुरु की तलाश मे हैं और गुरु का मिलना बहुत कठिन है भगवान् ने स्वय सद्गुरु और दिव्य मार्गदर्शक के रूप मे उन भक्तो के लिए अवतार लिया जो उनकी चरण-शरण मे आये। उन्होंने उस साधना की घोषणा की जो सबके लिए सहज है। उनकी कृपा से सभी इस साधना मे पूरे उतरते है।

विचार का प्रयोग केवल उन्ही व्यक्तियो तक सीमित नही था जो तिरुवन्नामलाई जा सकते थे। यह केवल हिन्दुओ तक भी सीमित नही था। श्रीभगवान् की शिक्षा सभी धर्मों का सार है, यह खुले रूप मे गुह्य वस्तु की घोषणा करती है। अद्वैत ताओवाद और बौद्ध धम का केन्द्रीय तत्त्व है। आन्तरिक गुरु का सिद्धान्त अपने पूर्ण अर्थ मे, 'ईसा आप मे विराजमान हैं', का सिद्धान्त है। यह विचार इस्लामी सिद्धान्त के अन्तिम सत्य की ओर ले जाता है, 'भगवान् के अतिरिक्त कोई देवता नही, परमात्मा के अतिरिक्त कोई आत्मा नही'। श्रीभगवान् धर्मों के पारस्परिक भेदो से परे थे। हिन्दू ग्रन्थ उन्हे उपलब्ध थे, इसलिए उन्होने उनका अध्ययन किया और उनकी शब्दावली के अनुसार व्याख्या की। परन्तु जब उनसे प्रश्न किये जाते तो वे दूसरे धर्मों की शब्दावली मे भी व्याख्या करने के लिए प्रस्तुत रहते थे। जिस साधना का उन्होंने उपदेश दिया, वह किसी धर्म पर निभर नही है। न केवल हिन्दू उनके पास आते थे बल्कि बौद्ध, ईसाई, मुस्लिम, यहूदी और पारसी सभी आते थे और वे किसी से धर्म-परिवतन के लिए नही कहते थे। गुरु के प्रति अनन्य भक्ति और उसकी कृपा का भक्त के प्रति प्रवाह प्रत्येक धम का सारतत्त्व और आत्म-अन्वेषण सभी धर्मों का अन्तिम सत्य है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

भक्तजन

सामान्यत भक्तजन बहुत सामान्य लोग थे। सभी विद्वान या बौद्धिक नही थे। तथ्य तो यह है कि बहुधा ऐसा देखने मे आता था कि अपने सिद्धान्तो मे लीन कोई बुद्धिवादी जीवित सत्य के दर्शन करने मे असफल हो जाता और भटक जाता। जबकि कोई सरल और सीधा-सादा व्यक्ति स्थिर रहता, पूजा करता और अपनी सच्ची लगन से भगवान का कृपा-भाजन बनता। आत्म-अन्वेषण को ज्ञान-मार्ग कहते है, इसलिए कभी-कभी ऐसा ख्याल किया जाता है कि बुद्धिवादी ही केवल इसका अनुसरण कर सकते हैं। परन्तु जिस चीज की आवश्यकता है वह हार्दिक भाव है न कि सैद्धान्तिक ज्ञान। सैद्धान्तिक ज्ञान सहायक हो सकता है परन्तु यह बाधक भी सिद्ध हो सकता है।

श्रीभगवान् ने लिखा "उन व्यक्तियो के ज्ञान का क्या लाभ जो अपने से यह प्रश्न नहीं करते कि 'हम शिक्षितो का जन्म कहाँ से हुआ है ?' और इस प्रकार भाग्य-रेखाओ को मिटाने का प्रयास नहीं करते। उन्होंने अपने को एक ग्रामोफोन के समान बना दिया है। अरुणाचल! इसके अतिरिक्त वे और क्या हैं ? ज्ञान के बावजूद जिनका अहभाव नही गया उनकी मुक्ति नहीं होगी परन्तु अशिक्षित व्यक्तियों की मुक्ति हो जायगी।" (**सप्लीमेण्टरी फॉर्टी वर्सिज, ३५-३६**)। भाग्य रेखाओ को मेटने का अभिप्राय यह है कि हिन्दू विचारधारा के अनुसार, मनुष्य का भाग्य उसके मस्तक पर लिखा है और उसे कर्म बन्धन से मुक्त होना है। पाँचवें अध्याय मे जो कुछ कहा गया है, उसकी इससे पुष्टि होती है कि भाग्य के सिद्धान्त से प्रयत्न की सम्भावना या इसके लिए आवश्यकता का लोप नही हो जाता।

ज्ञान स्वय मे हेय नही है, जिस प्रकार कि भौतिक सम्पत्ति और मानसिक शक्तियाँ नहीं हैं, किन्तु इनके लिए इच्छा और इनमे आसक्ति निन्दनीय है। ये व्यक्ति को अन्धा बना देती हैं और सच्चे लक्ष्य से पथभ्रष्ट कर देती हैं। जैसा कि एक पूर्वोद्धृत प्राचीन ग्रन्थ मे मानसिक शक्तियो के सम्बन्ध में कहा गया है, वे पशु को बाँधने के लिए रज्जु के सदृश हैं। साधना के लिए प्रतिभा

नही सचाई की, सिद्धान्त नही प्रज्ञा की, अभिमान नही नम्रता की आवश्यकता है। विशेषत, जब सभा भवन मे गीत गाये जाते थे तब यह बात प्रत्यक्ष देखने मे आती थी। श्रीभगवान् किसी प्रसिद्ध व्यक्ति मे कम दिलचस्पी प्रदर्शित करते थे परन्तु जो व्यक्ति तन्मय होकर भक्ति-भाव से गाता उस पर उनकी कृपा-दृष्टि होती।

स्वभावत श्रीभगवान् के भक्तो मे हिन्दुओ की सख्या सबसे अधिक थी, परन्तु अन्य धर्मावलम्बी भी थे। श्री पाल ब्रटन ने अपनी पुस्तक, **ए सर्च इन सीक्रेट इण्डिया** के माध्यम से ससार मे श्रीभगवान् के ज्ञान का जितना प्रसार किया उतना किसी और व्यक्ति ने नही किया।

बाद के वर्षों मे आश्रम मे या उसके निकट स्थायी आवासियो मे निम्न महानुभाव थे विशालकाय, दयालु और गम्भीर आवाज वाले मेजर चैडविक, तेज़ स्वभाव की भव्य व्यक्तित्व वाली पारसी महिला श्रीमती जालेयार खान, ईराक के शान्त और सरल-हृदय एस० एस० कोहेन, मुस्लिम शानोशौकत वाले, फारसी के सेवा-निवृत्त प्रोफेसर डॉ० हाफिज़ सैयद। अमरीका, फ्रास, जर्मनी, हालैण्ड, चैकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि देशो से लम्बी या छोटी अवधि के लिए आश्रम मे भक्तजन आते रहते थे।

श्रीभगवान् का एक तरुण सम्बन्धी विश्वनाथन सन् १६२३ मे १६ वर्ष की अवस्था मे आश्रम मे आया था। यह उसका प्रथम आगमन नही था, परन्तु इस बार जैसे ही वह सभा-भवन मे प्रविष्ट हुआ, श्रीभगवान् ने उससे पूछा, "क्या तुमने अपने माता-पिता से आज्ञा ले ली है?"

प्रश्न इस बात का सूचक था कि इस बार वह आश्रम मे रहने के लिए आया है। उसने स्वीकार किया कि वह स्वय भगवान् की तरह पीछे एक पत्र लिख कर छोड आया है परन्तु उसमे यह नही लिखा कि वह कहाँ जा रहा है। भगवान् ने उससे अपने परिवार वालो के नाम एक पत्र लिखवाया परन्तु किसी तरह उसके पिता को यह आभास हो गया कि वह आश्रम गया है और वे इस विषय मे बातचीत करने के लिए वहाँ चले आये। वह खुले दिल से बात करने के लिए आये थे। उन्होने स्वामी की बहुत प्रशसा सुन रखी थी परन्तु वह उन्हे एक तरुण सम्बन्धी के रूप मे वेंकटरमण ही जानते थे। स्वभावत उनके लिए भगवान् की दिव्य व्यक्ति के रूप मे कल्पना करना कठिन था। भगवान् की उपस्थिति मे आने पर, उनका शरीर भय और सम्मान की भावना से कांपने लगा और अनायास ही उनका मस्तक भगवान् के चरणो मे नत हो गया।

उनके मुंह से साश्चर्य एकाएक यह शब्द निकल पडे "पहले के वेंकटरमण का तो यहाँ कोई चिह्न ही नही दिखायी देता।"

श्रीभगवान हँस पडे "ओह ! वह व्यक्ति ! वह तो कभी का लुप्त हो गया ।"

एक बार विश्वनाथन से बातें करते समय श्रीभगवान् ने अपने विनोदी स्वभाव मे कहा, "कम से कम घर छोडते समय तुम सस्कृत तो जानते थे, परन्तु जब मैंने घर छोडा, मैं कुछ भी नही जानता था ।"

आश्रम मे अन्य व्यक्ति भी थे जो सस्कृत जानते थे और जिन्होंने धम-ग्रन्थो का अध्ययन किया था । इनमे एक रिटायर्ड प्रोफेसर वेंकटरमैया थे । जो साधु बन गये थे और जिन्होने कुछ वष तक आश्रम की डायरी रखी थी यह डायरी आश्रम के **'टॉक्स विद दी महर्षि'** नाम से प्रकाशित की है । इसके अतिरिक्त स्कूल अध्यापक सुन्दरेश ऐय्यर भी, जिनका पहले जिक्र किया गया है, और जो तिरुवनामलाई मे अध्यापन-काय करते थे, सस्कृत जानते थे ।

जिस वष आश्रम मे विश्वनाथन आये उसी वर्ष मुरुगानार भी आये । उनका स्थान प्रमुख तमिल कवियो मे था । श्रीभगवान् स्वय कई बार उनकी कविताओं की चर्चा करते या उनका पाठ करवाते । मुरुगानार ने ही, 'फॉर्टी वर्सिज़' का पुस्तक रूप मे सग्रह किया था और उन्होने उन पर तमिल मे एक विद्वतापूर्ण टिप्पणी भी लिखी है । सगीतज्ञ रामस्वामी ऐय्यर अब भी एक पुराने भक्त हैं । वह श्रीभगवान् से उम्र मे बडे थे । वह पहले-पहले सन १९०७ मे भगवान् के पास आये थे । उन्होने भगवान् की प्रशस्ति मे गीत-रचना भी की ।

रामस्वामी पिल्लई सन् १९११ मे, जब वे युवक थे सीधे कालेज से आश्रम मे आये थे और वह वहाँ रहे । विश्वनाथन और मुरुगानार की तरह उन्होंने साधु का वेप धारण कर लिया, परन्तु उन्होंने भक्ति और सेवा माग का आश्रय लिया । एक बार, सन् १९४७ मे पहाडी पर टहलते समय श्रीभगवान् के पैर मे पत्थर से चोट लग गयी । अगले दिन वृद्ध परन्तु युवकोचित स्फूर्ति और उत्साह से सम्पन्न रामस्वामी पिल्लई ने पहाडी की ओर सीढियाँ बनाने का काय शुरू कर दिया । उन्होने अकेले ही प्रात से लेकर साय तक निरन्तर कार्य किया । जब तक कि वह माग पूरा नही बन गया पत्थर की सीढ़ियाँ बनायी गयीं, जहाँ पत्थर टेढे-मेढे थे, उन्हे तराशा गया और जहाँ ढलान थी, उसे ठीक किया गया । यह सीढियाँ इतने अच्छे ढग से बनायी गयी थी कि आज तक वर्षा मे भी ज्यो की त्यो खडी हैं, परन्तु इनकी मरम्मत नही हुई क्योकि इन सीढियों के बनने के तत्काल बाद श्रीभगवान् ने अपने क्षीण स्वास्थ्य के कारण पहाडी पर सैर करना छोड दिया था ।

श्रीभगवान् के स्कूल के दिनो के पुराने साथी रगा ऐय्यर, जिनका पहले

जिक्र किया जा चुका है, तिरुवन्नामलाई मे कभी भी स्थायी रूप से नही रहे परन्तु वह और उनके परिवार के लोग अक्सर आश्रम मे आया करते थे। उन्होने भी श्रीभगवान् के माथ एक ही कक्षा मे अध्ययन किया था और उनके साथ खेले और कुश्तियाँ लडी थी। वे हमेशा स्वामी जी के साथ खुलकर बात करते और हँसी-मजाक किया करते थे। जब श्रीभगवान् विरूपाक्ष कन्दरा मे रहते थे उन दिनो वह यह देखने के लिए आये थे कि उनके पुराने मित्र स्वामी के रूप मे कैसे दिखायी देते हैं। परन्तु जब वह उसे मिले तो उन्हे ऐसा अनुभव हुआ कि वे एक दिव्य आत्मा के सम्मुख खडे हुए हैं। परन्तु उनके बडे भाई मणि को ऐसा अनुभव नही हुआ। वह तरुण स्वामी की ओर, जो स्कूल मे उससे निचली कक्षा मे पढते थे, उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगा। भगवान् ने केवल उसकी ओर एक बार देखा और उनके मौन प्रभाव के वशीभूत हो, वह उनके चरणो मे गिर पडा। इसके बाद वह भी उनका भक्त बन गया। रगा ऐय्यर के एक पुत्र ने श्रीभगवान् की प्रशस्ति मे तमिल मे एक लम्बी कविता लिखी है, जिसमे श्रीभगवान् का दिव्य ज्ञान के साथ 'विवाह' सम्पन्न कराया गया है।

महर्षीज गॉस्पल का अधिकाश भाग पोलिश शरणार्थी एम० फ्रिडमैन के साथ हुए वार्तालाप का सकलन है। दो पोलिश महिलाएँ आश्रम मे अत्यन्त विख्यात हैं। जब श्रीमती नोये को अपने देश अमरीका मे वापस लौटना पडा, तो उनके नेत्रो मे आँसू छलछला आये। श्रीभगवान् ने उसे सात्वना देते हुए कहा, "तुम रोती क्यो हो ? तुम जहाँ भी जाओ, मैं तुम्हारे साथ हूँ।"

भगवान् के सभी भक्तो के सम्बन्ध मे यह सत्य है। वह सदा उनके साथ है, अगर वह भगवान् को स्मरण करेगे तो वह भी उन्हे स्मरण करेंगे, अगर वह भगवान् को भूल भी जायें, भगवान् उन्हे कभी नही भूलेंगे, अगर भगवान् किसी भक्त को व्यक्तिगत रूप से यह बात कहते तो यह उनका महान् आशीर्वाद समझा जाता था।

मेरे तीन बच्चे तिरुवन्नामलाई मे एकमात्र यूरोपीय बच्चे थे। वह अन्य आश्रमवासियो से स्पष्ट भिन्न दिखायी देते थे। दिसम्बर १९४६ को एक दिन सायकाल श्रीभगवान् ने मेरे दो बडे बच्चो को चिन्तन की दीक्षा दी। अगर ये बच्चे इसका वर्णन करने मे असमर्थ थे तो आश्रम के वयस्क भक्तो की भी यही अवस्था थी। दस-वर्षीया किट्टी ने लिखा, "जब आज सायकाल मैं सभा-भवन मे बैठी हुई थी, श्रीभगवान् मुझे देखकर मुस्कराये, मैंने अपनी आँखें बन्द कर ली और चिन्तन प्रारम्भ कर दिया। ज्योही मैंने अपनी आँखें बन्द की मुझे बडा आनन्द आया। मैंने ऐसा अनुभव किया कि भगवान् मेरे अत्यन्त निकट हैं और वह वस्तुत मेरे अन्दर विराजमान हैं। यह किसी वस्तु से

सम्बन्ध मे आनन्दित और उत्तेजित होने के समान नही था। मैं इसका वर्णन नही कर सकती, इतना ही कह सकती हूँ कि मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ और भगवान् इतने भव्य और सुन्दर हैं।"

सात-वर्षीय आदम ने लिखा, "जब मैं सभा-भवन मे बैठा हुआ था, मुझे प्रसन्नता का अनुभव नही हुआ, इसलिए मैंने प्रार्थना करना शुरू किया और मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। यह प्रसन्नता ऐसी नही थी जैसी कोई नया खिलौना मिलने से होती है, बल्कि यह तो भगवान् से और सबसे प्रेम के कारण उत्पन्न प्रसन्नता थी।"

ऐसी बात नही है कि बच्चे प्राय या काफी देर तक सभा-भवन मे बैठते थे। जब उनके जी मे आता वे सभा-भवन मे बैठ जाते, प्राय वे इधर-उधर खेलते रहते थे।

जब सबसे छोटी लड़की फ्रेनिया सात वर्ष की थी, दूसरे दोनो बच्चे अपने मित्रो के बारे मे बात कर रहे थे और वह हालाँकि उसके कोई मित्र नहीं थे, पीछे नही रहना चाहती थी, इसलिए कहने लगी कि डॉ० सैयद उसके ससार मे सर्वोत्तम मित्र हैं। श्रीभगवान् को यह बात बता दी गयी।"

"ओह!" उन्होंने ऊपरी तौर से दिलचस्पी दिखाते हुए कहा।

'और उसकी माँ ने कहा, भगवान् के बारे मे तुम्हारा क्या ख्याल है?"

"ओह!" इस बार उन्होंने अपना सिर हिलाया और वास्तविक दिलचस्पी प्रदर्शित की।

फ्रेनिया ने कहा, "भगवान् ससार मे नही हैं।"

"ओह!" वह खुशी-खुशी सीधे होकर बैठ गये, उन्होने अपनी तर्जनी अँगुली नाक पर इस तरीके से रख ली जैसे कि उन्होंने आश्चर्य प्रकट करते हुए रखी थी। उन्होने इस कहानी का तमिल मे अनुवाद कर लिया और सभा-भवन मे आने वाले अन्य व्यक्तियो को भी यह कहानी सुनायी।

बाद मे डॉ० सैयद ने फ्रेनिया से पूछा अगर भगवान् ससार मे नही थे तो वह कहाँ थे, और उसने उत्तर दिया, "वह हर जगह हैं।"

फिर भी उन्होंने कुरान के तर्ज मे अपना कथन जारी रखते हुए कहा, "जब हम भगवान् को तख्त पर बैठे हुए, खाते, पीते और चलते हुए देखते हैं, हम किस तरह कह सकते हैं कि वह ससार मे रहने वाले हमारे जैसे आदमी नहीं हैं।"

बालिका ने उत्तर दिया, "हमे किसी और विषय पर बातचीत करनी चाहिए।"

परन्तु भक्तो की चर्चा ईर्ष्याजनक है क्योकि अन्य भी भक्त हैं जिनकी चर्चा की जा सकती है। उदाहरण के लिए बहुत कम भक्त श्रीभगवान् से इस प्रकार

खुलकर बातें करते थे जिस प्रकार देवराज मुदालियर या टी० पी० रामचन्द्रैया। श्री टी० पी० रामचन्द्रैया के दादा तो युवक श्रीरमण को अपने घर मे एक त्यौहार के अवसर पर जबरदस्ती भोजन कराने ले गये थे। तिरुवन्नामलाई मे यही एकमात्र ऐसा घर था जहाँ उन्होने भोजन किया था। डॉ० टी० एन० श्रीकृष्ण स्वामी ने जो अक्सर मद्रास से श्रीभगवान् के दर्शनो के लिए आया करते थे, उनकी अनेक भाव-भंगिमाओ मे सुन्दर चित्र खींचे हैं। श्रीभगवान् की एक महिला भक्त नागम्मा ने मद्रास स्थित एक बैंक के मैनेजर अपने भाई डी० एस० शास्त्री को तेलुगु मे कई पत्र लिखे थे। इन पत्रो मे जिनमे आश्रम की घटनाओ का अत्यन्त सजीव और मनोहारी चित्रण और श्रीभगवान की दिव्य उपस्थिति का प्रभावोत्पादक वर्णन है। फिर ऐसे भी भक्त थे जिन्होने श्रीभगवान् के साथ वार्तालाप करना बिलकुल आवश्यक नही समझा था। उन्होंने उनके साथ बहुत कम भाषण किया। ऐसे भी गृहस्थ थे जो अवसर मिलने पर अपने नगर या देश से श्रीभगवान् के दर्शन के लिए आते और ऐसे भी भक्त थे जो थोडे अरसे के लिए आश्रम मे आये और तब से उनके शिष्य बन गये, हालाँकि भौतिक रूप से वह हमेशा उनके साथ नही रहे। कई ऐसे भी भक्त थे जिन्होने श्रीभगवान् को कभी नहीं देखा परन्तु उन्होंने दूर से ही मौन दीक्षा प्राप्त की।

श्रीभगवान् पहरावे या व्यवहार मे किसी प्रकार की विचित्रता और हर्षातिरेक के प्रदर्शन को निरुत्साहित करते थे। यह पहले ही बताया जा चुका है कि वह किस प्रकार दर्शनो और सिद्धियो के लिए इच्छा को निरुत्साहित करते थे। वह यह चाहते थे कि गृहस्थ लोग परिवार मे रहते हुए और अपना व्यावसायिक जीवन व्यतीत करते हुए साधना करें। वह भक्तो के बाह्य रूप मे विशेष परिवतनो के आकाक्षी नही थे क्योकि इस प्रकार के परिवतन ऊपरी ढाँचा हैं, उनका कोई आधार नही है और वह बाद मे लुप्त हो जाते है। वस्तुत कभी-कभी ऐसा होता था कि कोई भक्त निराश हो जाता, उसे अपने मे कोई सुधार दृष्टिगोचर न होता और वह यह शिकायत करता कि वह प्रगति नही कर रहा। इन हालातो मे भगवान् उसे सान्त्वना देते या व्यग्य से कहते, "तुम्हे कैसे पता कि तुम्हारी कोई प्रगति नही हो रही ?" और वह समझाते हुए कहते कि गुरु को ही शिष्य की प्रगति का पता चलता है, शिष्य को नही, शिष्य को चाहिए कि वह धैर्यपूर्वक साधना पथ पर आरूढ रहे। यह बड़ा दुर्गम है परन्तु भगवान् के प्रति शिष्यो के प्रेम और उनके सदय हास्य ने इसे सौन्दर्यमय बना दिया था।

मौन जैसे असाधारण मार्ग को वह सदा निरुत्साहित करते थे। कम से कम एक अवसर पर तो श्रीभगवान् ने यह सर्वथा स्पष्ट कर दिया था।

वेद मन्त्रो के पाठ के बाद, एक सायकाल एक भक्त ने श्रीभगवान् से कहा, "कल श्री चैडविक भगवान् को एक भेंट देंगे।"

उन्होने पूछा, "ओह! वह कौनसी भेंट है ?"

"वह मौनी बनने जा रहे हैं।"

तत्काल ही उन्होने मौन के विरुद्ध भाषण दिया और कहा कि वाणी सुरक्षा-कपाटी है और इसके परित्याग की अपेक्षा इसका नियन्त्रण श्रेयस्कर है। उन्होंने उन लोगो की हँसी उडायी जो अपनी वाणी से बोलना बन्द कर देते हैं और इसके स्थान पर पेंसिल से बोलने लगते हैं। वास्तविक मौन तो हृदय मे होता है और भाषण के मध्य भी मौन रहना उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार लोगो के बीच एकाकी रहना।

कभी-कभी, यह सत्य है कि उनके कथन को बढा-चढाकर प्रकट किया जाता था। एक पूर्व अध्याय मे वर्णित उनके उपदेश के गुह्य स्वरूप के अनुसार, श्रीभगवान् स्पष्ट रूप से बहुत कम किसी चीज का आदेश या निषेध करते थे। किसी असाधारण मार्ग का अवलम्बन करने वाले भक्तो ने उनकी अस्वीकृति को अवश्य अनुभव किया होगा, हालाँकि उन्होने स्वय इसे स्वीकार नही किया। उन्होने हमेशा ही सभा-भवन से अनुपस्थित रहना शुरू कर दिया। मुझे इस प्रकार का एक प्रसग स्मरण है। जब एक भक्त महिला का मानसिक सन्तुलन विक्षुब्ध हो गया था, श्रीभगवान् ने स्पष्टत कहा था "वह मेरे पास क्यो नही आती ?" उनके कथन की महत्ता को हृदयगम करने के लिए हमे यह ध्यान भी रखना होगा कि वह स्पष्ट आदेश देने या किसी को आने या जाने के लिए कहने के सम्बन्ध मे अत्यन्त सतर्क थे। अगर कोई उन्हें ऐसा करने का प्रयत्न करता तो वह बडी चतुराई से इसका प्रतिकार कर देते थे। उनकी इच्छा का सकेत मात्र ही अत्यन्त मूल्यवान समझा जाता था।

ऊपर जिस महिला-भक्त का वर्णन किया गया है, वह उनके पास नही आयी और कुछ काल के बाद उसका मन अस्थिर हो गया। यही एकमात्र उदाहरण नही था। श्रीभगवान् से नि सृत उद्दाम शक्तिपुज इतना शक्तिशाली था कि इसे सहन करना कठिन था। ऐसा देखने में आता है कि इस प्रकार के उदाहरण मे ज्योही व्यक्ति का मानसिक सन्तुलन जाता रहता, व्यक्ति एकान्त मे रहना बन्द कर देता और पुन आश्रम में आना शुरू कर देता। यह भी देखने मे आता कि श्रीभगवान् कभी-कभी ऐसे व्यक्ति को शरारती लड़के की तरह भर्त्सना करते जो किसी ऐसे कार्य मे आसक्त हो गया था, जिसका उसे प्रतिरोध करना चाहिए था और जिसका वह प्रतिरोध कर सकता था। बहुत से उदाहरणो मे, उनके प्रभाव के कारण व्यक्ति का सग्राम शुरू हो जाता और वह पुन सामान्य अवस्था मे लौट आता।

यद्यपि इस प्रकार के व्यक्तियो की चर्चा आवश्यक है इससे यह कल्पना नही कर लेनी चाहिए कि इस प्रकार की घटनाएँ हमेशा घटित होती रहती थी। वह सदा विरल होती थी।

श्रीभगवान् की विधियो के सम्बन्ध मे किसी निश्चित सिद्धान्त की स्थापना करना अत्यन्त कठिन है क्योकि इसके अपवाद भी प्राय मिलते हैं। ऐसे भी उदाहरण थे, जब उनके आदेश सवथा स्पष्ट थे, विशेषकर जब कोई व्यक्ति उनके पास अकेला जाता। एक पशुओ के सेवानिवृत्त शल्य चिकित्सक श्री अनन्त नारायण राव ने आश्रम के निकट ही अपना मकान बनवाया था। उन्हे कई बार मद्रास से जरूरी बुलावा आया था जहाँ उनके बहनोई बहुत बीमार थे। एक बार उन्हे इस सम्बन्ध मे एक तार मिला। यद्यपि शाम को बहुत देर हो गयी थी, वह इस तार को लेकर सीधे भगवान् के पास गये। पहले कभी श्रीभगवान् ने इस ओर इतना ध्यान नही दिया था। परन्तु इस बार उन्होने कहा, "हाँ, हाँ तुम जरूर जाओ।" और फिर उन्होंने मृत्यु की तुच्छता के सम्बन्ध मे बातचीत करना शुरू कर दिया। अनन्त राव घर गये और उन्होंने अपनी पत्नी से कहा कि इस बार यह घातक रोग सिद्ध होगा। वह बहनोई की मृत्यु से दो दिन पूव मद्राम पहुँचे।

प्राय इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी सुनने मे आते थे, जैसे एक भक्त से उन्होंने ईशस्तुति के रूप मे 'रमण' का उच्चारण करने के लिए कहा था, परन्तु इनकी चर्चा बहुत कम होती थी।

प्राय भक्त स्वय निणय करता और फिर अस्थायी रूप से इसकी घोपणा करता था। निर्णय उसकी साधना का भाव था। अगर निणय ठीक होता तो भगवान् स्वीकृति के रूप मे मुस्करा देते, भक्त का हृदय प्रफुल्लित हो उठता, यह एक प्रकार से श्रीभगवान् की सक्षिप्त शाब्दिक स्वीकृति थी। अगर भगवान् को भक्त का निणय स्वीकाय न होता, तो वह भी प्राय प्रकट हो जाता। एक बार एक गृहस्थ ने तिरुवन्नामलाई छोड कर किसी दूसरे नगर मे, जहाँ उसे पहले से अच्छा काम मिल सके, जाने का निर्णय किया। श्रीभगवान् हँस पडे और कहने लगे "प्रत्येक व्यक्ति को योजना बनाने की स्वतन्त्रता है।" भक्त की योजना चरितार्थ नही हुई।

जब देश के एक विख्यात राजनीतिक नेता सभाओ के आयोजन के सिलसिले मे मद्राम आये तो उनके एक प्रशसक आश्रमवासी ने श्रीभगवान् से मद्रास जाने की आज्ञा मांगी। श्रीभगवान् पत्थर की मूर्ति बनकर बैठ गये, मानो उन्होंने कुछ सुना ही न हो। फिर भी आश्रमवासी मद्राम चला गया। वह एक सभा मे दूसरी सभा मे गया था। या तो वह हमेशा बहुत देर से पहुँचता या फिर उसे प्रवेश नही मिलता था। जब वह मद्रास मे वापस आया, भगवान

ने उसे चिढ़ाते हुए कहा, "तो आप बिना आज्ञा लिये मद्रास गये थे ? क्या तुम्हारी यात्रा सफल रही ?" वह अह से इतने शून्य थे कि वह अपने कार्यों के सम्बन्ध में भी इतनी स्वाभाविकता और निर्वैयक्तिकता से बातचीत या हास-परिहास कर सकते थे, जितनी कि दूसरो के कार्यों के सम्बन्ध मे।

भगवान् का काय तो भक्तो को परिस्थितिजन्य प्रसन्नता और पीडा से, आशा और निराशा से उनकी आन्तरिक प्रसन्नता की ओर उन्मुख करना था। यही व्यक्ति का वास्तविक स्वरूप है। इस सत्य को अनुभव करने वाले कई ऐसे भी भक्त थे जो मानसिक प्रार्थना मे भी कभी कुछ नही मांगते थे बल्कि इच्छाओ की जन्मदात्री आसक्ति पर विजय पाने का प्रयास करते थे हालांकि उन्हे पूर्ण सफलता नही मिली। अगर वह श्रीभगवान् के पास बाह्य लाभो तथा महत्तर प्रेम, महत्तर दृढता और महत्तर प्रज्ञा को छोड़कर किसी अन्य वस्तु के लिए जाते तो यह एक प्रकार की वचना होती। पीडा निवारण का उपाय यह था कि हम अपने से यह प्रश्न करें 'यह पीडा किसको होती है ? मैं कौन हूँ ? और इस प्रकार उसके साथ एकरूपता अनुभव करें जो जन्म-मरण और पीडाओ से परे है।' अगर कोई व्यक्ति भगवान् के पास इस इरादे से जाता तो उसे शान्ति और शक्ति की प्राप्ति होती।

कुछ ऐसे भक्त भी थे जो भगवान् से सहायता और सरक्षण के लिए कहते थे। वह उन्हे अपना पिता और माता समझते थे और उन्हें किसी भय या पीड़ा की आशका होती तो वह उनकी शरण मे जाते। या तो वह उन्हें पत्र लिख कर इस घटना के बारे मे बताते या वह उनसे जहाँ कही भी वह होते प्रार्थना करते, और उनकी प्रार्थनाओ का उत्तर मिलता। पीड़ा या भय दूर हो जाते और जहाँ यह सम्भव या लाभप्रद न होता, सहन करने के लिए उनमे अनन्य शान्ति और सहिष्णुता का प्रादुर्भाव हो जाता। उन्हे स्वत स्फूर्त रूप मे यह सहायता आती, श्रीभगवान की ओर से किसी प्रकार का ऐच्छिक हस्तक्षेप न होता। इसका यह अभिप्राय नहीं कि इसका कारण केवल भक्त का विश्वास था, इसका कारण भक्त के विश्वास के प्रत्युत्तर के रूप मे श्रीभगवान् की सहज दयालुता थी।

बिना इच्छा के और कई बार परिस्थितियो के मानसिक ज्ञान के बिना, इस शक्ति के प्रयोग के सम्बन्ध मे कई भक्त चकित थे। देवराज मुदालियर ने इसका वर्णन किया है कि किस प्रकार एक बार उन्होने इस सम्बन्ध मे श्रीभगवान् से प्रश्न किया था।

"अगर ज्ञानियो के समान भगवान् का मन नष्ट हो गया है और उन्हें कोई भेद नही दिखायी देता, केवल आत्मा ही दिखायी देती है तो वह किस प्रकार प्रत्येक पृथक् शिष्य या भक्त के साथ व्यवहार कर सकते

यद्यपि इस प्रकार के व्यक्तियो की चर्चा आवश्यक है इससे यह कल्पना नही कर लेनी चाहिए कि इस प्रकार की घटनाएँ हमेशा घटित होती रहती थी । वह सदा विरल होती थी ।

श्रीभगवान् की विधियो के सम्बन्ध मे किसी निश्चित सिद्धान्त की स्थापना करना अत्यन्त कठिन है क्योकि इसके अपवाद भी प्राय मिलते हैं। ऐसे भी उदाहरण थे, जब उनके आदेश सर्वथा स्पष्ट थे, विशेषकर जब कोई व्यक्ति उनके पास अकेला जाता । एक पशुओ के सेवानिवृत्त शल्य चिकित्सक श्री अनन्त नारायण राव ने आश्रम के निकट ही अपना मकान बनवाया था । उन्हे कई बार मद्रास से जरूरी बुलावा आया था जहाँ उनके बहनोई बहुत बीमार थे । एक बार उन्हे इस सम्बन्ध मे एक तार मिला । यद्यपि शाम को बहुत देर हो गयी थी, वह इस तार को लेकर सीधे भगवान् के पास गये । पहले कभी श्रीभगवान् ने इस ओर इतना ध्यान नही दिया था । परन्तु इस बार उन्होने कहा, "हाँ, हाँ तुम जरूर जाओ ।" और फिर उन्होने मृत्यु की तुच्छता के सम्बन्ध मे बातचीत करना शुरू कर दिया । अनन्त राव घर गये और उन्होने अपनी पत्नी से कहा कि इस बार यह घातक रोग सिद्ध होगा । वह बहनोई की मृत्यु से दो दिन पूर्व मद्रास पहुँचे ।

प्राय इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी सुनने मे आते थे, जैसे एक भक्त से उन्होने ईशस्तुति के रूप मे 'रमण' का उच्चारण करने के लिए कहा था, परन्तु इनकी चर्चा बहुत कम होती थी ।

प्राय भक्त स्वय निर्णय करता और फिर अस्थायी रूप से इसकी घोषणा करता था । निणय उसकी साधना का भाव था । अगर निणय ठीक होता तो भगवान् स्वीकृति के रूप मे मुस्करा देते, भक्त का हृदय प्रफुल्लित हो उठता, यह एक प्रकार से श्रीभगवान् की सक्षिप्त शाब्दिक स्वीकृति थी । अगर भगवान् को भक्त का निर्णय स्वीकार्य न होता, तो वह भी प्राय प्रकट हो जाता । एक बार एक गृहस्थ ने तिरुवन्नामलाई छोड कर किसी दूसरे नगर मे, जहाँ उसे पहले से अच्छा काम मिल सके, जाने का निर्णय किया । श्रीभगवान् हँस पडे और कहने लगे "प्रत्येक व्यक्ति को योजना बनाने की स्वतन्त्रता है ।" भक्त की योजना चरितार्थ नही हुई ।

जब देश के एक विख्यात राजनीतिक नेता सभाओ के आयोजन के सिलसिले मे मद्रास आये तो उनके एक प्रशसक आश्रमवासी ने श्रीभगवान् से मद्रास जाने की आज्ञा माँगी । श्रीभगवान् पत्थर की मूर्ति बनकर बैठ गये, मानो उन्होने कुछ सुना ही न हो । फिर भी आश्रमवासी मद्रास चला गया । वह एक सभा से दूसरी सभा मे गया था । या तो वह हमेशा बहुत देर से पहुँचता या फिर उसे प्रवेश नही मिलता था । जब वह मद्रास से वापस आया, भगवान्

ने उसे चिढाते हुए कहा, "तो आप बिना आज्ञा लिये मद्रास गये थे ? क्या तुम्हारी यात्रा सफल रही ?" वह अह से इतने शून्य थे कि वह अपने कार्यों के सम्वन्ध मे भी इतनी स्वाभाविकता और निर्वैयक्तिकता से वातचीत या हास-परिहास कर सकते थे, जितनी कि दूसरो के कार्यों के सम्वन्ध मे।

भगवान् का काय तो भक्तो को परिस्थितिजन्य प्रसन्नता और पीडा से, आशा और निराशा से उनकी आन्तरिक प्रसन्नता की ओर उन्मुख करना था। यही व्यक्ति का वास्तविक स्वरूप है। इस सत्य को अनुभव करने वाले कई ऐसे भी भक्त थे जो मानसिक प्राथना मे भी कभी कुछ नही मांगते थे वल्कि इच्छाओ की जन्मदात्री आसक्ति पर विजय पाने का प्रयास करते थे हालांकि उन्ह पूण सफलता नही मिली। अगर वह श्रीभगवान् के पास वाह्य लाभो तथा महत्तर प्रेम, महत्तर दृढता और महत्तर प्रज्ञा को छोडकर किसी अन्य वस्तु के लिए जाते तो यह एक प्रकार की वचना होती। पीडा निवारण का उपाय यह था कि हम अपने से यह प्रश्न करें 'यह पीडा किसको होती है ? मैं कौन हूँ ? और इस प्रकार उसके साथ एकरूपता अनुभव करें जो जन्म-मरण और पीडाओ से परे है।' अगर कोई व्यक्ति भगवान् के पास इस इरादे से जाता तो उसे शान्ति और शक्ति की प्राप्ति होती।

कुछ ऐसे भक्त भी थे जो भगवान् से सहायता और सरक्षण के लिए कहते थे। वह उन्हे अपना पिता और माता समझते थे और उन्हे किसी भय या पीडा की आशका होती तो वह उनकी शरण मे जाते। या तो वह उन्हे पत्र लिख कर इस घटना के वारे मे वताते या वह उनसे जहां कही भी वह होते प्रार्थना करते, और उनकी प्राथनाओ का उत्तर मिलता। पीडा या भय दूर हो जाते और जहां यह सम्भव या लाभप्रद न होता, सहन करने के लिए उनमे अनन्य शान्ति और सहिष्णुता का प्रादुर्भाव हो जाता। उन्हे स्वत स्फूत रूप मे यह सहायता आती, श्रीभगवान की ओर से किसी प्रकार का ऐच्छिक हस्तक्षेप न होता। इसका यह अभिप्राय नहीं कि इसका कारण केवल भक्त का विश्वास था, इसका कारण भक्त के विश्वास के प्रत्युत्तर के रूप में श्रीभगवान् की सहज दयालुता थी।

विना इच्छा के और कई वार परिस्थितियो के मानसिक ज्ञान के बिना, इस शक्ति के प्रयोग के सम्वन्ध मे कई भक्त चकित थे। देवराज मुदालियर ने इसका वणन किया है कि किस प्रकार एक वार उन्होने इस सम्बन्ध मे श्रीभगवान् से प्रश्न किया था।

> "अगर ज्ञानियो के समान भगवान् का मन नष्ट हो गया है और उन्हे कोई भेद नही दिखायी देता, केवल आत्मा ही दिखायी देती है तो वह किस प्रकार प्रत्येक पृथक् शिष्य या भक्त के साथ व्यवहार कर सकते

और उसके लिए अनुभव कर सकते हैं या कुछ कर सकते है।" मैंने भगवान् से इस सम्बन्ध मे प्रश्न किया और कहा, 'मेरा और यहाँ विद्यमान अनेक भक्तो का यह निजी अनुभव है कि जब हम अपने किसी कष्ट को बहुत अधिक अनुभव करते हैं, और हम चाहे जहाँ कही हो भगवान् से इस कष्ट-निवारण के लिए मानसिक रूप से प्रार्थना करते है, तो हमे तत्क्षण सहायता मिलती है। एक पुरुष भगवान् के पास आता है। वह उनका कोई पुराना भक्त है। वह भगवान् से अन्तिम बार मिलने के समय से लेकर अब तक की कष्ट-कथा उन्हे सुनाता है, भगवान् बडे धैर्य और सहानुभूति से उसकी बात सुनते हैं, बीच-बीच मे आश्चय भी प्रकट करते जाते हैं, 'ओह! क्या ऐसी बात है ?' और इसी प्रकार के अन्य प्रश्न उससे करते जाते हैं। कथा प्राय इस प्रकार समाप्त होती है 'जब मेरे सब प्रभाव व्यर्थ हो गये तो अन्त मे मैंने भगवान् से प्राथना की और केवल भगवान् ने ही मेरी रक्षा की।' भगवान् यह सब बडे ध्यान से सुनते हैं और बाद मे आने वाले भक्तो से भी इसकी चर्चा करते है, 'ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार की घटनाएँ अमुक व्यक्ति के साथ भी जब वह हमारे साथ था, घटित हुई थी।' हम यह जानते हैं कि भगवान् कभी भी सब कुछ जानने का दावा नही करते इसलिए जो कुछ घटित हुआ है, प्रत्यक्षत वह उससे परिचित नही हैं, जब तक कि उन्हे इस सम्बन्ध मे बताया न जाये। साथ ही हम यह भी जानते हैं कि जब हम कष्ट मे होते हैं और सहायता के लिए पुकारते हैं, वह हमारी पुकार सुनते हैं और किसी न किसी रूप मे हमारी सहायता करते है, अगर किसी कारण से यह कष्ट टाला नही जा सकता या इसे कम नही किया जा सकता तो वह हमे इस कष्ट को सहन करने की शक्ति या अन्य सुविधाएँ प्रदान करते हैं। जब मैंने यह बातें भगवान् के सम्मुख रखी तो उन्होने उत्तर दिया, "हाँ, यह सब स्वत होता है।"

एक दूसरे भक्त ने इसी विषय पर भगवान् से प्रश्न किया और उन्होने और अधिक निश्चय के साथ उत्तर दिया, "इतना ही पर्याप्त है कि ज्ञानी का मन किसी ओर प्रेरित हो और दैवी क्रिया स्वत प्रारम्भ हो जाती है।"

श्रीभगवान् स्वेच्छा से अति प्राकृतिक सिद्धियो का प्रयोग बहुत कम करते थे, यदि कभी वह इनका प्रयोग करते तो उनकी दीक्षा और उपदेश की तरह इनका प्रयोग भी गुप्त होता था। भगवान् के भक्तो मे, राजगोपाल ऐय्यर नाम के एक गृहस्थ भी थे। उनके एक पुत्र था, जिसकी आयु लगभग तीन वर्ष की थी। उसका नाम रमण रखा गया था। वह चचल और प्रफुल्लित बालक प्रतिदिन दौडकर जाता और श्रीभगवान् के आगे दण्डवत् प्रणाम किया करता

था। एक सायकाल, जव भक्तजन रात होने पर अपने स्थानो पर चले गये तो वच्चे को एक सॉप ने काट लिया। राजगोपाल ऐय्यर ने वच्चे को उठा लिया और वह सीधे दौडते हुए सभा-भवन की ओर गये। जिस समय वह वहा पहुँचे वच्चे का शरीर नीला पड चुका था और उसकी सॉस जोर-जोर से चल रही थी। श्रीभगवान् ने वच्चे के मस्तक पर हाथ रखते हुए कहा, "रमण, तुम तो विलकुल ठीक हो।" और वह विलकुल ठीक हो गया। राजगोपाल ऐय्यर ने कुछ भक्तो को यह घटना वतायी, परन्तु इसके सम्वन्ध मे वहुत चर्चा नहीं हुई।

भगवान् से वर मॉगना और अपने सरक्षण तथा कल्याण के लिए उन पर निभर करना यद्यपि एक जैसी वातें मालूम देती है, तथा उनमे हमे भेद करना चाहिए। सरक्षण तथा कल्याण के लिए भगवान् पर निभर रहने को वह निस्सन्देह स्वीकृति प्रदान करते थे। अगर कोई व्यक्ति अपने कल्याण का भार उन पर डाल देता था तो वह इसे स्वीकार कर लेते थे। गुरु के प्रति शिष्य की वृत्ति का वर्णन करते हुए उन्होंने अरुणाचलशिव मे लिखा, "क्या तूने मुझे अन्दर नही वुलाया ? मैं अन्दर आ चुका हूँ और मेरी रक्षा का भार अव तुझ पर है। एक वार एक भक्त की प्रार्थना पर उन्होने भगवद्गीता से ४२ श्लोक चुने और अपनी शिक्षा की अभिव्यक्ति के लिए उन्हे एक भिन्न क्रम मे रखा, उन श्लोको मे एक श्लोक का भाव इस प्रकार था, "मैं उन भक्तो की रक्षा और कल्याण सम्पादन करता हूँ, जो समस्त सृष्टि को एक रूप समझते हुए मेरा चिन्तन करते हैं और इस प्रकार सदा समरस स्थिति मे रहते हैं। कठिन परीक्षा और भक्त के विश्वास को कसौटी पर कसने वाली असुरक्षा की घडियो मे, जो भक्त भगवान् मे अपना पूर्ण विश्वास रखता है, भगवान् सदा उसकी रक्षा करते हैं।"

सोलहवाँ अध्याय

लिखित रचनाएँ

श्रीभगवान् की लिखित रचनाएँ बहुत थोडी हैं और ये भी प्राय भक्तो की विशिष्ट आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए लिखी गयी थी। देवराज मुदालियर ने अपनी डायरी मे लिखा है कि एक वार एक कवि महानुभाव आश्रम मे आये थे, उनके सम्बन्ध मे चर्चा करते हुए भगवान ने कहा था

"यह सब केवल मन का कार्य है। जितना अधिक आप मन को गतिमान रखेंगे और जितनी अधिक सफलता आपको काव्य रचना मे मिलेगी, उतनी अधिक आपकी शान्ति कम होती जायेगी। अगर आपको शान्ति नहीं मिलती तो इस प्रकार की प्रवीणता प्राप्त करने का क्या लाभ ? परन्तु अगर आप ऐसे लोगो को यह बात कहे तो उन पर कोई प्रभाव नही पडता, वह शान्त नही रह सकते। वह गीत-रचना जारी रखेंगे। मेरा मन पुस्तकें लिखने या कविता-रचना करने को नही करता। मैंने जितनी भी कविताएँ रची हैं, वह किसी विशेष घटना के सम्बन्ध मे किसी न किसी की प्रार्थना पर रची गयी थी। **फॉर्टी वर्सिज ऑन रिऐलिटी** की भी, जिसकी इतनी टीकाएँ और अनुवाद अब मिलते हैं, पुस्तक के रूप मे योजना नही बनायी गयी थी, अपितु उसमे विभिन्न समयो पर रचित कविताएँ हैं और बाद मे मुरुगानार तथा अन्य भक्तो ने इसे पुस्तक का रूप दिया। जो कविताएँ स्वत स्फूर्त रूप मे रची गयी और जिन्हे लिखने की मुझे किसी दूसरे ने प्रेरणा नही दी वह **इलैविन स्टेंज़ाज टू श्री अरुणाचल** और **एट स्टेंजाज टू श्री अरुणाचल** हैं। इलैविन स्टेंज़ाज के प्रारम्भिक शब्द एक प्रात काल मेरे मन मे आये और यद्यपि मैंने यह कहकर 'मुझे इन शब्दो का क्या करना है ?' उन्हे दबाने का प्रयत्न किया, वह दबाये नही जा सके, और उन शब्दो से मैंने एक गीत की रचना कर डाली और सारे शब्द बिना किसी प्रयास के स्वत ही मेरी जबान पर आते गए। इसी प्रकार अगले दिन दूसरे पद की रचना हुई और इसके बाद प्रतिदिन एक पद की रचना होती गयी। केवल १०वाँ और ११वाँ पद उसी दिन बनाये गये।"

श्रीभगवान् ने अपनी विलक्षण स्पष्ट शैली मे यह बताना जारी रखा कि किस प्रकार उन्होने **ऐट स्टेंजाज** की रचना की।

"अगले दिन मैंने पहाडी के चारो ओर जाना शुरू किया। पलानी स्वामी मेरे पीछे-पीछे चल रहे थे। जब हम कुछ दूर निकल गये, मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि ऐजास्वामी उन्हे वापस बुला रहे हैं और एक पेंसिल तथा कागज देते हुए कह रहे हैं, 'कई दिन से स्वामीजी प्रतिदिन कविता कर रहे हैं। वह आज भी कविता रचेंगे, इसलिए आप यह कागज और पेंसिल अपने पास रख लें।'

"मुझे इस बात का केवल तब पता चला जब मैंने यह देखा कि पलानी स्वामी थोडी देर के लिए मेरे साथ नही थे, वल्कि वह वाद मे मेरे साथ आकर मिले। उस दिन विरूपाक्ष कन्दरा मे जाने से पूव मैंने आठ पदो में से छ की रचना की। या तो उस सायकाल या अगले दिन नारायण रेड्डी आये। उस समय वह वैल्लौर मे सिगर एण्ड कम्पनी के एजेण्ट थे और अक्सर मेरे पास आया करते थे। ऐजास्वामी और पलानी ने उन्हें कविताओ के सम्बन्ध मे वताया और उन्होने कहा, "आप तत्काल ही वे कविताएँ मुझे दे दें, मैं उन्हें छपाऊँगा।' उन्होने पहले ही कई पुस्तकें प्रकाशित की थी। जब उन्होंने कविताएँ लेने का आग्रह किया तो मैंने उन्हे आज्ञा दे दी और कहा कि वह पहली ११ कविताएँ एक कविता के रूप मे प्रकाशित करें और शेष जो कि भिन्न छन्द मे थी दूसरी कविता के रूप में। गणना-पूर्ति के लिए मैंने तत्काल ही दो और पदो की रचना की और वे सारे उन्नीस पद प्रकाशित करने के लिए अपने साथ ले गये।"

अनेक कवियो ने श्रीभगवान् की प्रशस्ति मे विभिन्न भाषाओ मे गीतो की रचना की। इनमे से गणपति शास्त्री और मुरुगानार बहुत प्रसिद्ध थे जिन्होंने क्रमश सस्कृत और तमिल मे रचनाएँ की। यद्यपि उपरि उद्धृत वार्तालाप मे श्रीभगवान् कविता-लेखन को शक्ति का अपव्यय समझते थे और कहा करते थे कि इस शक्ति को आन्तरिक साधना की ओर प्रेरित किया जा सकता है तथापि वह बडे ध्यान से कविताएँ सुनते थे और जब उनके सम्मुख कविता-पाठ किया जाता था, वह इसमे बडी दिलचस्पी प्रदर्शित करते थे। उनके सम्बन्ध मे गद्य ग्रथ तथा लेख लिखे गये और वह प्राय उन्हें पढवाते तथा उनका अनुवाद करते ताकि सभी लोग उन्हें समझ सकें। प्रत्येक व्यक्ति उनकी अहंभाव शून्यता और वाल-सुलभ सरलता से अत्यधिक प्रभावित होता था।

दो गद्य-ग्रन्थ हैं, जिनके सम्बन्ध में ऐसा कहा जा सकता है कि उनकी रचना श्रीभगवान् ने की थी। विरूपाक्ष-निवास के प्रारम्भिक वर्षो मे जब वह

अब भी मौन धारण किये हुए थे उन्होने विभिन्न अवसरो पर गम्बीरम शेषाय्यर के लिए शिक्षाएँ लिखी और उसके देहावसान के बाद इन लेखो को क्रमबद्ध किया गया तथा **सैल्फ इन्क्वाइरी** के नाम से पुस्तक के रूप मे प्रकाशित किया गया। इसी प्रकार उसी अवधि मे शिवप्रकाशम् पिल्लई को दिये गये उनके उत्तरो को विस्तृत रूप प्रदान किया गया और वह **हू एम आई ?** नाम से पुस्तक रूप मे प्रकाशित किये गये। आश्रम द्वारा प्रकाशित अन्य गद्य पुस्तकें श्रीभगवान् द्वारा नही लिखी गयी थी बल्कि भक्तो के प्रश्नो के उत्तर रूप मे उन्होने जो मौखिक व्याख्याएँ की वह उनका सग्रह हैं और इसीलिए वह सभी वार्तालाप के रूप मे है।

उनकी कविताएँ दो वर्गों मे विभाजित हैं एक तो वे जो भक्ति अर्थात् प्रेम और उपासना के माध्यम से जीवन-धारा की अभिव्यक्ति करती हैं और दूसरी वे जो अधिक सैद्धान्तिक हैं। पहले वर्ग मे **फाइव हिम्स टू श्री अरुणाचल** है, यह सभी स्तोत्र विरूपाक्ष-निवास की अवधि मे लिखे गये थे। इनका भक्ति-तत्त्व अद्वैत के परित्याग के लिए नही कहता बल्कि वह पूर्णत ज्ञान-सपृक्त हैं। वे भक्त के दृष्टिकोण से लिखे गये थे, हालाँकि जिसने उन्हे लिखा वह परम ज्ञान और भगवद्-मिलन के आनन्द की स्थिति मे प्रतिष्ठित था, मिलन-उत्कण्ठा की पीडा उसमे नही थी। इसीलिए यह भक्त के हृदय को अधिक प्रभावित करते हैं।

दो पुस्तको—**ऐट स्टेंजाज** और **इलैविन स्टेंजाज** का पहले वर्णन किया जा चुका है। दूसरी पुस्तक मे श्रीभगवान् ने न केवल भक्त के रूप मे लिखा बल्कि वस्तुत इन शब्दो का प्रयोग किया, "वह व्यक्ति जिसने अभी परम ज्ञान प्राप्त नही किया।" भगवान् के एक भक्त श्री ए० बोस ने इस बात की स्पष्ट पुष्टि के लिए उनसे पूछा कि उन्होंने ऐसा क्यो लिखा, क्या यह भक्तो के दृष्टिकोण से और उनके लिए था। श्रीभगवान् ने स्वीकृति प्रदान करते हुए कहा कि बात वस्तुत ऐसी है।

फाइव हिम्स का अन्तिम पद श्रीभगवान् ने पहले सस्कृत मे लिखा और बाद मे तमिल मे इसका अनुवाद किया। इसके लेखन की कहानी आश्चय मे डालने वाली है। गणपति शास्त्री ने उनसे सस्कृत मे कविता लिखने के लिए कहा और उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया कि वह सस्कृत व्याकरण के मूल नियमो और सस्कृत छन्दो से अनभिज्ञ हैं। शास्त्रीजी ने भगवान् को सस्कृत का एक छन्द समझाया और उनसे प्रार्थना की कि वह इस छन्द मे कविता करने का प्रयास करें। उसी सायकाल उन्होंने सस्कृत मे पाँच श्लोको की रचना की। उनका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है

अमृत के सागर, दयानिधि, अपने प्रकाश मे विश्व को व्याप्त करने

वाले अरुणाचल, तूँ सूय के समान मेरे हृदय-कमल को आनन्द मे विकसित कर।

हे अरुणाचल! तुझ मे ही ससार का निर्माण, स्थिति और लय है। इस पहेली मे सत्य का आश्चर्य निहित है। तूँ ही अन्तरात्मा है जो हृदयो मे 'मैं' के रूप मे नृत्य करता है। हे भगवान्! हृदय ही तेरा नाम है।

हे अरुणाचल! जो व्यक्ति शान्त मन से यह जानने के लिए अन्तराभिमुख होता है कि 'अह' की चेतना कहाँ से उत्पन्न होती है, वह आत्मा को जान लेता है और जिस प्रकार नदी समुद्र मे लय हो जाती है उसी प्रकार वह तुझ मे लय हो जाता है।

हे अरुणाचल! योगी वाह्य ससार का परित्याग करके, तेरा चिन्तन करने के लिए मन और प्राण पर नियन्त्रण करके, तेरे प्रकाश के दशन करता है और आनन्द विभोर हो उठता है।

हे अरुणाचल! जो व्यक्ति अपना मन तुझे समर्पित कर देता है और सदा तुझे दृष्टिसम्मुख रखते हुए विश्व को तेरा रूप समझता है, जो सदा तेरी प्रशस्ति करता है और तुझे आतमा समझ कर तुझसे स्नेह करता है, वह ऐसा शिक्षक है जिसके समान कोई दूसरा नही, वह तेरे साथ एकरूप है और तेरे आनन्द मे लीन है।

ये स्तोत्र अन्य चार की अपेक्षा अधिक सैद्धान्तिक हैं और साधना के तीन मुख्य मार्गो का वणन करते हैं। वाद मे इनके सम्वन्ध में चर्चा करते हुए श्रीभगवान् ने कहा, "तीसरे स्तोत्र मे **सत्**, चौथे में **चित्** और पाँचवें मे **आनन्द** के सम्वन्ध में वताया गया है। ज्ञानी सत या सत्ता के साथ उसी प्रकार एक-रूप हो जाता है, जिस प्रकार नदी समुद्र के साथ। योगी **चित्** के प्रकाश को देखता है। भक्त या कर्मयोगी आनन्द के समुद्र में निमग्न रहता है।

पाँचों स्तोत्रो मे से सर्वाधिक हृदयस्पर्शी और प्रिय **मैरीटल गारलैण्ड ऑफ ए हड्रेड एण्ड एट वर्सिस टू श्री अरुणाचल** या **अरुणाचलशिव** है। श्रीभगवान् के विरूपाक्ष-वास काल के प्रारम्भिक वर्षों में पलानीस्वामी तथा अन्य भक्त नगर मे भक्तो के लिए भिक्षा माँगने जाया करते थे। एक दिन जब वे भिक्षाटन के लिए जाने लगे उन्होने श्रीभगवान् से एक भक्ति-गीत गाने के लिए कहा। उन्होने उत्तर दिया कि ऋषियों ने कई सुन्दर गीतों की रचना की है इसलिए किसी नवीन गीत-रचना की अव कोई आवश्यकता नही है। फिर भी भक्तो ने उनसे अनुनय करना जारी रखा। कुछ दिनो वाद पेंसिल और कागज लेकर उन्होंने पहाडी की प्रदक्षिणा प्रारम्भ की और प्रदक्षिणा करते समय १०८ पदो की रचना की।

जैसे-जैसे श्रीभगवान् यह गीत लिखते जाते थे उनके नेत्रो से आनन्दाश्रु बहते जाते थे। कई बार उनकी आँखो के आगे धुन्ध छा जाता था और गला रुँध जाता था। भक्तो के लिए यह कविता महान् भक्ति स्फुरणा का स्रोत बन गयी। इसके सुन्दर प्रतीको मे मिलन-उत्कण्ठा की पीडा और उत्कण्ठापूर्ति का आनन्द प्रतिबिम्बित है। ज्ञान की पूर्णता के साथ-साथ भक्ति का आनन्दातिरेक है। परन्तु यह सर्वाधिक मार्मिक कविता जिज्ञासु भक्त के दृष्टिकोण मे लिखी गयी थी। इस कविता के १०८ पद तमिल वर्णमाला के क्रमिक अक्षरो से प्रारम्भ होते हैं। अन्य कोई कविता इतनी अधिक स्वत स्फूर्त नही है। कई भक्तो ने श्रीभगवान् से कुछ पदो की व्याख्या करने के लिए कहा और उन्होंने उत्तर दिया "आप भी इस पर विचार करें और मैं भी विचार करूँगा। मैंने इसकी रचना करते समय इस पर विचार नही किया, जैसे-जैसे भाव मेरे मन मे आते गये तैसे-तैसे मैं उन्हे लिपिबद्ध करता गया।"

हे अरुणाचल! मेरे घर मे प्रवेश करके और मुझे आकर्षित करके, तू मुझे अपनी हृदय-गुहा मे कैदी क्यो बनाये हुए है?

क्या तूने अपनी प्रसन्नता के लिए या मेरे लिए मेरे हृदय को जीता? हे अरुणाचल, अगर अब तू मुझे दूर हटा देगा तो ससार तुझे दोषी ठहराएगा।

हे अरुणाचल! इस दोष को अपने पर आरोपित न होने दो। तुम बार-बार मुझे क्यो स्मरण आते हो? मैं तुम्हे अब कैसे छोड सकता हूँ?

हे अरुणाचल! तुम माता से भी बढकर दयालु हो। हे अरुणाचल! क्या यह तेरा प्रेम है?

हे अरुणाचल! मेरे मन मे सदा विराजमान रहो ताकि कही मेरा मन पथभ्रष्ट न हो पाये।

हे अरुणाचल! अपने सौन्दर्य को उद्घाटित करो ताकि मेरा चचल मन तुम्हारे दर्शन कर सके और उसे शान्ति का वरदान प्राप्त हो?

हे अरुणाचल! मुझे अपने प्रेम-पाश मे आबद्ध कर लेने के बाद अगर तू मुझे अब अपने चरणो मे शरण नही देगा तो तेरी वीरता कहाँ गयी?

हे अरुणाचल! जब दूसरे मुझे अपमानित कर रहे हैं, आपका इस प्रकार सोना क्या शोभा देता है?

हे अरुणाचल! जब पाँच इन्द्रिया के चोर मुझमे आ घुसे हैं, क्या आप अब भी मेरे मन मे विराजमान नहीं हैं?

हे अरुणाचल! तू एक है, तेरे समान कोई दूसरा नही है, तब

तुम्हें धोखा देकर, मेरे अन्दर कौन प्रवेश कर सकता है ? यह तो केवल तेरी जादूगरी है।

एक पौराणिक कथा है कि एक बार ऋषियो की एक मण्डली अपने परिवारो के साथ वन में कर्मकाण्ड, भक्ति के क्रियाकलापो तथा मन्त्रसिद्धि मे लीन थी। इसके द्वारा उन ऋषियो ने अति प्राकृतिक सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं और इस प्रकार वह मोक्ष-प्राप्ति की आशा करते थे। यहाँ वह गलती पर थे। उन्हें उनकी गलती का दण्ड देने के लिए, भगवान् शिव एक भिक्षुक के रूप में प्रकट हुए। उनके साथ मोहिनी के रूप मे विष्णु भी थे। सभी ऋषि मोहिनी के और उनकी पत्नियाँ शिव के प्रेमपाश मे आबद्ध हो गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि उनका मानसिक सन्तुलन जाता रहा और उनकी सिद्धियाँ लुप्त होने लगी। ऐसा देखकर उन्होंने यह निर्णय किया कि शिव उनका शत्रु है। उन्होने सर्पो, चीते और हाथी को ऐन्द्रजालिक क्रिया से अपने वश मे किया और शिव के विरुद्ध भेजा। शिव ने सर्पों की तो माला बना ली और चीते तथा हाथी की हत्या करके चीते की खाल की लँगोटी बना ली और हाथी की खाल को वह शाल के रूप मे प्रयोग करने लगे। ऋषियो ने शिव की महान् शक्ति को पहचाना, उसके सम्मुख नतमस्तक हुए और उनसे उपदेश देने की प्रार्थना की। फिर शिव ने ऋषियो को उनको गलती बतायी कि कर्म द्वारा कर्म-बन्धन से छुटकारा नही हो सकता, कर्म तो साधन है, सृष्टि का कारण नही। कर्म से परे चिन्तन की ओर जाना आवश्यक है।

कवि और भक्त मुरुगानार ने तमिल कविता मे इस कहानी को लिखा, परन्तु जब वह उस स्थल पर पहुँचे जहाँ शिव ऋषियों को उपदेश देते हैं, उन्होंने भगवान से पूछा कि इसे लिखने वाला शिव का अवतार कौन है। इस पर भगवान् ने उपदेश सारम् की रचना की। इसमे उन्होंने प्रारम्भ में निस्वार्थ कार्य की चर्चा की और कहा कि यह लाभदायक है। परन्तु मन्त्रोच्चारण अधिक लाभदायक है और मौन मन्त्रोच्चारण उच्च स्वर से किये जाने वाले मन्त्रोच्चारण से अधिक प्रभावशाली है। शान्त चिन्तन इससे भी अधिक प्रभावशाली है। श्रीभगवान् ने तीस पदो का संस्कृत मे अनुवाद किया और इस संस्कृत रूपान्तर को धर्मग्रन्थ का महत्त्व दिया जाता है। प्रतिदिन वेद-मन्त्रों के साथ-साथ श्रीभगवान् के सम्मुख इसका भी गान होता था और अब उनकी समाधि के सम्मुख इसका गान होता है।

श्रीभगवान् द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्त इस कविता मे तथा उल्लादु नरपदु या सत्ता सम्बन्धी चालीस पदो मे, जिसमे चालीस पदो का एक अन्य परिशिष्ट भी सम्मिलित है, विस्तृत रूप मे वर्णित है।

सत्ता के सम्बन्ध मे चालीस पदो के अनेक अनुवाद हुए हैं और इस पर टीकाएँ लिखी गयी हैं। इसमे सार्वलौकिकता और बुद्धिमत्ता की भावना निहित है, जिसकी टीका की आवश्यकता है। जैसा कि उपरि उद्धृत वार्तालाप मे श्रीभगवान् ने बताया यह एक सतत कविता के रूप मे नही लिखा था अपितु पदो की रचना भिन्न-भिन्न समयो पर हुई थी। परिशिष्ट के चालीस पदो मे से कुछ की रचना स्वय श्रीभगवान् ने नही की थी, बल्कि उन्होने इन्हे अन्य स्रोतो मे लिया, क्योकि उन्हे जहाँ पहले ही कही पूर्ण पद दृष्टिगत हुआ उन्होने नये पद की रचना करना आवश्यक नही समझा तथापि सम्पूर्ण रचना उनके सिद्धान्त का पूर्ण और विद्वत्तापूर्ण प्रतिपादन है।

इन दो वर्गो के अतिरिक्त कुछ छोटी कविताएँ भी हैं। उनमे हास्य का अभाव नही है। एक कविता मे, दक्षिण भारतीय स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ **पोप्पादुम** के लिए आवश्यक नुस्खे के प्रतीक का आश्रय लेते हुए साधना के सम्बन्ध मे निर्देश दिये गये हैं। एक दिन श्रीभगवान् की माताजी पोप्पादुम बना रही थी। उन्होने भगवान् से इस कार्य मे हाथ बँटाने के लिए कहा। उन्होने तत्काल ही अपनी माताजी के लिए प्रतीकात्मक नुस्खा लिखा।

कवि अव्वायार ने एक बार पेट के विरुद्ध शिकायत लिखी "तुम एक दिन भी बिना भोजन के नही रह सकते, न ही तुम वक्त मे दो दिन का इकट्ठा भोजन कर सकते हो। ओह ! अभागे पेट ! मुझे तुम्हारे कारण जो कष्ट उठाना पडता है उसका तुम अनुमान नही लगा सकते। तुम्हारे साथ निर्वाह करना कठिन है।"

एक दिन आश्रम मे सहभोज हुआ। सभी लोग थोडी बहुत परेशानी अनुभव कर रहे थे। श्रीभगवान् ने अव्वायार की कविता को हास्य रूप देते हुए कहा, "ऐ पेट ! तुम मुझे एक घण्टे के लिए भी आराम नही लेने दोगे। प्रतिदिन प्रति घण्टे तुम्हारा खाना जारी है। ओ परेशानी पैदा करने वाले अह ! तुम्हारे कारण मुझे कितना कष्ट उठाना पडता है, इसका तुम अनुमान नही लगा सकते ! तुम्हारे साथ निर्वाह करना असम्भव है।"

सन् १९४७ मे श्रीभगवान् ने अपनी अन्तिम कविता लिखी। इस बार यह कविता किसी की प्रार्थना पर नही लिखी गयी थी, परन्तु इसमे असाधारण कौशल प्रकट होता था, क्योकि पहले उन्होने इसे तमिल छन्द मे तेलुगु मे लिखा और फिर इसका तमिल मे अनुवाद किया। इसका नाम उन्होने **एकात्मापचकम्** रखा।

> आत्मा को भूलना, शरीर को गलती से आत्मा समझना, असख्य जन्म धारण करना और अन्त मे आत्मा को पाना और आत्मरूप बनना —यह सारे ससार की परिक्रमा के स्वप्न मे जागने के समान है।
>
> जो व्यक्ति आत्मरूप होते हुए यह पूछता है कि 'मैं कौन हूँ ?'

वह उस शराबी के समान है जो अपने स्वरूप और स्थिति के सम्बन्ध मे पूछता है।

जब कि तथ्यत शरीर आत्मा मे है, यह सोचना कि आत्मा इस निर्जीव शरीर मे है, यह सोचने के समान है कि सिनेमा का पर्दा जिस पर चित्र आता है, चित्र के अन्दर है।

क्या आभूषण की, सोने के अतिरिक्त जिसका वह बना हुआ है, पृथक् सत्ता है ? आत्मा से पृथक् शरीर की सत्ता कहाँ है ? अज्ञानी शरीर को आत्मा समझ लेते है परन्तु ज्ञानी अर्थात् आत्मज्ञाता आत्मा को आत्मा रूप मे जानता है।

वह एक आत्मा, वास्तविक सत्ता सदा के लिए विराजमान है। अगर आदि गुरु दक्षिणामूर्ति ने मौन रूप से यह उपदेश दिया था तो इसे वाणी मे कौन प्रकट कर सकता ह ?

कुछ अनुवाद भी श्रीभगवान् ने किये है, ये मुख्यत शकराचाय के ग्रन्थो के है। एक वार विरूपाक्ष कन्दरा मे आने वाले एक अभ्यागत शकराचार्य रचित **विवेकचूडामणि** की एक प्रति वही छोड गये थे। इस ग्रन्थ को देखने के वाद, श्रीभगवान् ने गम्वीरम शेषाय्यार से इसका अध्ययन करने के लिए कहा। वह सस्कृत नही जानते थे, इसलिए वह इसे तमिल मे चाहते थे। पलानी स्वामी को उपरोक्त पुस्तक का तमिल सस्करण कही से उधार मिल गया। जव शेषाय्यार ने इस तमिल सस्करण को देखा तो उन्होने प्रकाशक को इसकी एक प्रति भेजने के लिए कहा। परन्तु उन्हे यह उत्तर मिला कि पुस्तक अमुद्रित है इसलिए उन्होने श्रीभगवान् से इसका सरल तमिल गद्य मे अनुवाद करने के लिए कहा। श्रीभगवान् ने लिखना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु जैसे ही उन्होने कुछ काय सम्पन्न किया, शेषाय्यार ने जो पद्य सस्करण मँगाया था, वह भी आ गया, इसलिए उन्होने यह काम अधूरा ही छोड दिया। कुछ वप वाद, एक-दूसरे भक्त की प्रायना पर उन्होने यह काम फिर हाथ मे लिया और इसे पूरा किया। भक्त ने श्रीभगवान् से यह कहा कि इस कार्य की पूर्ति का आग्रह उसने प्रकाशन के उद्देश्य से किया था। इस पर श्रीभगवान् ने एक प्रस्तावना लिखी कि यद्यपि तमिल पद्यानुवाद पहले से विद्यमान है, एक स्वतन्त्र तमिल अनुवाद का भी अपना महत्त्व है। स्वय प्रस्तावना मे पुस्तक का सार निहित है, सिद्धान्त तथा मार्ग की सक्षिप्त व्याख्या है।

उनकी अन्तिम कृति शकराचाय रचित **आत्म बोध** का तमिल अनुवाद था। यह पुस्तक प्रारम्भिक दिनो मे विरूपाक्ष मे उनके पास थी परन्तु उन्होने इसका अनुवाद करने के विपय मे कभी नही सोचा था। सन् १९४९ मे एक तमिल अनुवाद, जो सम्भवत बहुत पूण नही था, आश्रम भेजा गया। कुछ

काल वाद श्रीभगवान् को स्वय उसका अनुवाद करने की प्रेरणा हुई । कुछ दिन तक उन्होने इसकी उपेक्षा की परन्तु अनुवाद के शब्द एक-एक पद्य करके स्वय उनके सम्मुख आते गये, मानो वे पहले से लिखे गये हैं । उन्होने कागज पेंसिल मँगाई और उन्हे लिख लिया । यह सब कार्य इतना अनायास सयत हो गया कि उन्होने हँसते हुए कहा कि उन्हे इसका भय था कि कोई लेखक आकर यह दावा न करने लगे कि यह कृति वस्तुत उसकी है और श्रीभगवान् ने उसकी नकल की है ।

श्रीभगवान् की रचनाओ मे भगवद्गीता के ४२ श्लोको का सकलन भी था, जिसका चयन और पुन सयोजन उन्होंने अपनी शिक्षाओ की अभिव्यक्ति के लिए एक भक्त की प्राथना पर किया था । इस पुस्तक का अनुवाद अग्रेज़ी मे **दी साग सिलैस्टियल** के नाम से हुआ है ।

सत्रहवाँ अध्याय

महासमाधि

देहावसान से कुछ वर्ष पूर्व, सन १९४७ के बाद से श्रीभगवान् का स्वास्थ्य चिन्ता का विषय बन गया था। गठिया ने न केवल उनकी टाँगो को निर्बल कर दिया था बल्कि उनकी पीठ और कधो पर भी इसका प्रभाव पड़ा था। वे बहुत दुबल दिखायी देते थे, परन्तु उन्हे इसकी तनिक भी चिन्ता नही थी। ऐसा अनुभव किया गया कि उन्हे आश्रम के भोजन की अपेक्षा अधिक पौष्टिक भोजन की आवश्यकता है परन्तु वह कोई भी अतिरिक्त चीज लेने के लिए तैयार नही थे।

अभी वे सत्तर साल के भी नही हुए थे परन्तु इससे बहुत अधिक बूढे दिखायी देते थे। वह चिन्ता जर्जरित नही थे, क्योकि चिन्ता का कोई चिह्न ही उनमे दिखायी नही देता था, उन्होने कभी चिन्ता की ही नही थी। वे अत्यन्त वृद्ध और दुबल हो गये थे। इसका क्या कारण है कि जो व्यक्ति इतना स्वस्थ और स्फूर्तिमान था, जिसने कभी रोग, शोक और चिन्ता की परवाह ही न की थी। वह अपनी आयु से भी अधिक वृद्ध दिखायी देता था। इसका कारण यह है कि उन्होंने ससार के पापो को स्वय अपने ऊपर ले लिया था—उन्होने अपने भक्तो के कम-बन्धन को शिथिल कर दिया था—शिव भगवान् ससार को विनाश से इसीलिए बचा सके क्योकि उन्होने स्वय विषपान किया था। श्री शकराचाय ने लिखा था, "हे शम्भु जीवनदाता तू अपने भक्तो के सासारिक जीवन के भार को भी वहन किये हुए है।"

ऐसे अनेक भौतिक रूप से अस्पष्ट लक्षण थे, जो यह प्रदर्शित करते थे कि भगवान् ससार का भार वहन किये हुए हैं। एक भक्त ने, जिसका नाम कृष्ण-मूर्ति है, महिला भक्त जानकी अम्माल द्वारा प्रसारित तमिल पत्रिका मे लिखा है कि एक दिन भगवान् को तजनी अँगुली मे भीषण पीडा हुई और वे सभा-भवन मे जाकर बैठ गये। कृष्णमूर्ति ने इसकी चर्चा किसी से नही की, परन्तु उसे यह देख कर बहुत आश्चर्य हुआ कि श्रीभगवान् अपनी तजनी को अपने हाथ पर रगड रहे हैं और उनकी पीडा दूर हो गयी है। अन्य बहुत से लोगो को भी इस प्रकार पीडा से मुक्ति मिली है।

काल बाद श्रीभगवान् को स्वय उसका अनुवाद करने की प्रेरणा हुई। कुछ दिन तक उन्होने इसकी उपेक्षा की परन्तु अनुवाद के शब्द एक-एक पद्य करके स्वय उनके सम्मुख आते गये, मानो वे पहले से लिखे गये हैं। उन्होने कागज पेंसिल मँगाई और उन्हे लिख लिया। यह सब कार्य इतना अनायास सयत हो गया कि उन्होने हँसते हुए कहा कि उन्ह इसका भय था कि कोई लेखक आकर यह दावा न करने लगे कि यह कृति वस्तुत उसकी है और श्रीभगवान् ने उसकी नकल की है।

श्रीभगवान् की रचनाओ मे भगवद्गीता के ४२ श्लोको का सकलन भी था, जिसका चयन और पुन सयोजन उन्होने अपनी शिक्षाओ की अभिव्यक्ति के लिए एक भक्त की प्रार्थना पर किया था। इस पुस्तक का अनुवाद अंग्रेज़ी मे **दी साग सिलैस्टियल** के नाम से हुआ है।

सत्रहवाँ अध्याय

महासमाधि

देहावसान से कुछ वर्ष पूर्व, सन् १९४७ के बाद से श्रीभगवान् का स्वास्थ्य चिन्ता का विषय बन गया था। गठिया ने न केवल उनकी टाँगों को निर्बल कर दिया था बल्कि उनकी पीठ और कंधों पर भी इसका प्रभाव पड़ा था। वे बहुत दुर्बल दिखायी देते थे, परन्तु उन्हे इसकी तनिक भी चिन्ता नही थी। ऐसा अनुभव किया गया कि उन्हें आश्रम के भोजन की अपेक्षा अधिक पौष्टिक भोजन की आवश्यकता है परन्तु वह कोई भी अतिरिक्त चीज लेने के लिए तैयार नही थे।

अभी वे सत्तर साल के भी नही हुए थे परन्तु इससे बहुत अधिक बूढे दिखायी देते थे। वह चिन्ता जर्जरित नही थे, क्योकि चिन्ता का कोई चिह्न ही उनमें दिखायी नही देता था, उन्होने कभी चिन्ता की ही नही थी। वे अत्यन्त वृद्ध और दुर्बल हो गये थे। इसका क्या कारण है कि जो व्यक्ति इतना स्वस्थ और स्फूर्तिमान था, जिसने कभी रोग, शोक और चिन्ता की परवाह ही न की थी। वह अपनी आयु से भी अधिक वृद्ध दिखायी देता था। इसका कारण यह है कि उन्होंने ससार के पापो को स्वय अपने ऊपर ले लिया था—उन्होंने अपने भक्तो के कर्म-बन्धन को शिथिल कर दिया था—शिव भगवान् ससार को विनाश से इसीलिए बचा सके क्योकि उन्होने स्वय विषपान किया था। श्री शकराचार्य ने लिखा था, "हे शम्भु जीवनदाता तू अपने भक्तो के सासारिक जीवन के भार को भी वहन किये हुए है।"

ऐसे अनेक भौतिक रूप से अस्पष्ट लक्षण थे, जो यह प्रदर्शित करते थे कि भगवान् ससार का भार वहन किये हुए हैं। एक भक्त ने, जिसका नाम कृष्ण-मूर्ति है, महिला भक्त जानकी अम्माल द्वारा प्रसारित तमिल पत्रिका मे लिखा है कि एक दिन भगवान् को तर्जनी अँगुली मे भीषण पीडा हुई और वे सभा-भवन मे आकर बैठ गये। कृष्णमूर्ति ने इसकी चर्चा किसी से नही की, परन्तु उसे यह देख कर बहुत आश्चर्य हुआ कि श्रीभगवान् अपनी तर्जनी को अपने हाथ पर रगड रहे हैं और उनकी पीडा दूर हो गयी है। अन्य बहुत से लोगो को भी इस प्रकार पीडा से मुक्ति मिली है।

श्रीभगवान् के लिए इस पृथ्वी पर जीवन कोई ऐसा कोष नही था जिसे बचाकर रखा जाय। वह इस तथ्य के प्रति पूर्णत उदासीन थे कि यह उनका शरीर कितनी अवधि तक रहता है। एक बार सभा-भवन मे इस सम्बन्ध मे विवाद हुआ कि वे कितना अरसा जीवित रहेंगे। कई व्यक्तियो ने ज्योतिषियो का उद्धरण देते हुए कहा कि वह ८० वष तक जीवित रहेंगे, दूसरे व्यक्तियो ने या तो ज्योतिष की इस शुद्धता को मानने से इन्कार कर दिया या वे यह मानने के लिए तैयार नही थे कि यह श्रीभगवान् पर लागू होता है क्योकि उनका तो कोई कर्म शेष रह ही नही गया था। उन्होने मुस्कराते हुए इस विवाद को सुना परन्तु इसमे भाग नही लिया। एक नवागन्तुक ने, जो इस विवाद को देखकर स्तब्ध हो उठा था, पूछा, "भगवान् का इस सम्बन्ध मे क्या विचार है?" उन्होंने कोई उत्तर नही दिया परन्तु जब देवराज मुदालियर ने उनकी ओर से उत्तर दिया कि "भगवान् इस सम्बन्ध मे सोचते ही नही हैं" तो वह स्वीकृति के रूप मे मुस्करा दिये। उनके जीवन के सम्पूर्ण अन्तिम वर्ष मे यह बात प्रमाणित होती है। भक्त उनकी पीडा मे शोकातुर थे और उनकी सन्निकट मृत्यु मे विह्वल थे, परन्तु उन पर इसका कोई प्रभाव नही पडा।

सन् १९४९ के प्रारम्भ मे उनकी बाई भुजा की कोहनी के नीचे एक छोटी गाँठ निकल आई। उसे भयकर नही समझा गया और फरवरी मे आश्रम के डाक्टर ने इसे काट दिया। एक महीने मे यह फिर उभर आई, पहले से भी अधिक बडी और पीडादायक, और इस बार भक्तो को यह पता चला कि यह तो घातक रसौली है। इससे लोगो मे चिन्ता फैल गयी। मार्च के अन्त तक मद्रास से डाक्टर आये और उन्होंने इसका आपरेशन कर दिया। घाव को ठीक तरह से आराम नहीं आया। यह रसौली जल्दी ही फिर उभर आयी, पहले से भी बडी और अधिक ऊँची।

इसके बाद आश्रम मे शोक का वातावरण छा गया। भक्तो को इसमे तनिक भी सन्देह नही रहा कि अब भगवान् का अन्त निकट है। कट्टरपन्थी डाक्टरो ने कह दिया कि वह रसौली का उपचार नही कर सकते, केवल आपरेशन ही कर सकते हैं और यह रेडियम उपचार के बावजूद फिर उभर सकती है। अगर यह रसौली फिर उभरी तो यह प्राणघातक सिद्ध होगी। अन्य चिकित्सा-पद्धतियो को मानने वाले डाक्टरो का यह खयाल था कि वह रसौली का इलाज कर सकते हैं, आपरेशन से तो यह पुन भयकर रूप मे प्रकट हो जायेगी, जैसा कि आगे चल कर हुआ भी परन्तु इन डाक्टरों को परीक्षा का अवसर ही नही दिया गया।

जब मार्च मे आपरेशन के बाद रसौली फिर निकल आयी, डाक्टरो ने भुजा काटने का सुझाव दिया। परन्तु भारतीय परम्परा के अनुसार ज्ञानी का शरीर विकृत नही किया जाना चाहिए। वस्तुत इसे धातु से भी नहीं छेदा

जाना चाहिए और आपरेशन भी परम्परा का उल्लघन है। श्रीभगवान् ने आपरेशन को तो स्वीकार किया परन्तु अग-विच्छेद कराने से इन्कार कर दिया। "चिन्ता का कोई कारण नही है। शरीर स्वयमेव एक रोग है, इसका प्राकृतिक अन्त होना चाहिए। इसका अग-विच्छेद क्यो किया जाय ? खाली मरहम पट्टी ही पर्याप्त है।"

उनके इस कथन से कि 'चिन्ता का कोई कारण नही है' भक्तो मे इस आशा का सचार हो गया कि वह ठीक हो जायेंगे, हालांकि उनके बाद के शब्द और डाक्टरो की सम्मति इसके विरुद्ध थी, परन्तु उनके लिए मृत्यु चिन्ता का कारण नही थी।

उनके इस कथन से भी लोगो की आशा बलवती हो उठी, "समय आने पर सब कुछ ठीक हो जायेगा।" परन्तु तथ्य तो यह है कि हमे घटना-चक्र की यथार्थता का निरीक्षण करना था, उन्हे इसमे लेशमात्र भी सन्देह नही था।

इस समय के लगभग उन्होंने तमिल पद्य मे भागवतम् (स्कन्ध ११, अध्याय १३, श्लोक ३६) के एक श्लोक का अनुवाद किया, "कर्मो के परिपाक के परिणाम स्वरूप मिलने वाला यह शरीर स्थिर रहे या चलता-फिरता रहे, जीवित रहे या इसका अन्त हो जाये, आत्म-साक्षात्कारकर्त्ता ऋषि को इसका उसी प्रकार ज्ञान नही होता जिस प्रकार कि शराबी को उन्मत्तावस्था मे यह ज्ञान नही होता कि उसने वस्त्र धारण कर रखे है या नही।"

कुछ समय बाद उन्होने योग वासिष्ठ के एक पद की व्याख्या की "निराकार शुद्ध आत्मा के रूप मे साक्षात्कार करने वाले ज्ञानी का शरीर यदि तलवार से काट भी दिया जाये तो भी उस पर कोई प्रभाव नही पडता। यदि मिश्री की डली को तोड दिया जाये या पीस दिया जाये तो भी उसका मिठास नही जाता।"

क्या श्रीभगवान् ने वस्तुत कष्ट अनुभव किया ? उन्होंने एक भक्त से कहा, "भक्तजन इस शरीर को भगवान् समझते है और इस पर कष्ट का आरोपण करते है। कितनी करुणाजनक बात है।" और एक भक्त से उन्होने कहा, "अगर मन न हो तो पीडा कहाँ से आयेगी ?" फिर भी उन्होंने सामान्य भौतिक प्रतिक्रियाएँ और सर्दी तथा गर्मी के प्रति सामान्य सवेदना प्रदर्शित की। एक भक्त श्री एम० एम० कोहन का कथन है कि कुछ वर्ष पूर्व भगवान् ने कहा था, "अगर ज्ञानी का हाथ चाकू से काट दिया जाये तो उसे उसी प्रकार पीडा होगी जिस प्रकार अन्य सामान्य व्यक्तियों को होती है, परन्तु चूंकि उसका मन परमानन्द में प्रतिष्ठित है, इसलिए उसे इतनी तीव्र पीडा अनुभव नही होती जितनी कि दूसरे व्यक्तियो को।" ऐसी बात नही है कि ज्ञानी को पीडा न होती हो, परन्तु वह शरीर के साथ अपनी एकरूपता अनुभव नही

करता। डाक्टरो तथा कुछ भक्तो का भी यह विश्वास था कि भगवान् को पीडा थी और बाद मे इस पीडा ने भयानक रूप धारण कर लिया था। पीडा के प्रति श्रीभगवान् की उदासीनता और आपरेशन के समय पूर्ण निश्चिन्तता पर डाक्टर भी विस्मित थे।

पीडा का प्रश्न, कर्म के प्रश्न की तरह, केवल द्वित्व के दृष्टि विन्दु से ही विद्यमान है, परन्तु उनके दृष्टि विन्दु मे, अद्वैत के दृष्टि विन्दु मे किसी की भी वास्तविकता नही थी। इसी अभिप्राय से उन्होने अनेक वार भक्तो से कहा था, "मैं केवल तभी रोगी हूँ, अगर आप सोचे कि मैं रोगी हूँ, अगर आप यह सोचे कि मैं ठीक हूँ, तो मैं ठीक हो जाऊँगा। जब तक कोई भक्त अपने शरीर और उसकी पीडा की वास्तविकता मे विश्वास रखता है, जब तक उसके लिए उसके गुरु का शरीर वास्तविक है और उसे पीडा भी होती है।"

मार्च मे आपरेशन के बाद एक या दो सप्ताह तक एक ग्रामीण जडी-बूटियो के जानकार का इलाज चलता रहा, परन्तु इससे कोई लाभ नही हुआ। श्रीभगवान् ने एक अन्य व्यक्ति को यह कह कर टाल दिया, "मुझे आशा है, अपनी दवाइयाँ आजमाने के बाद तुम निराश नही होगे।" भगवान् को अपनी शारीरिक दशा का तो कोई विचार ही नही था, उन्हे तो उन व्यक्तियो का खयाल आता था जो उनका उपचार करना चाहते थे। जिस डाक्टर के अन्तर्गत उनका उपचार चल रहा होता था उसके प्रति उनके हृदय मे अपार अनुराग का भाव था। प्राय वह इस बात का विरोध करते थे कि उनके शरीर की ओर बहुत अधिक ध्यान दिया जाये। कई बार जब उन्हे अपनी शारीरिक दशा मे सुधार प्रतीत होता तो वह यह घोषणा कर देते कि उन्हे और उपचार की आवश्यकता नही है।

रसौली ने, जिसे अब डाक्टरो ने भ्रूणार्वुद घोषित कर दिया था, उनकी रही सही शक्ति का भी शोषण कर दिया परन्तु उनके दुर्बल होने के बावजूद उनका चेहरा अधिक कोमल, अधिक उदार और अधिक सुन्दर होता गया। कई बार तो उनके सौन्दर्य को देखना अत्यन्त पीडाजनक था।

भगवान् की भुजा भारी हो गयी थी, उसमे जलन हो रही थी और रसौली बढ रही थी। कभी-कभी वह यह स्वीकार करते "भुजा मे पीडा है" परन्तु वह यह कभी नही कहते थे "मुझे पीडा है।" अगस्त मे तीसरा आपरेशन हुआ और इस आशा मे कि प्रभावित तन्तु नष्ट हो जाये और रसौली फिर नही उभरेगी, घाव का रेडियम से उपचार किया गया। उसी मध्याह्न को आपरेशन के कुछ घण्टे बाद श्रीभगवान् ने इतनी अनुकम्पा की कि वह डिस्पेंसरी के बरामदे मे, जहाँ आपरेशन किया गया था, बैठ गये ताकि भक्तजन उनके सामने से गुजरते हुए उनका दर्शन कर सकें। यह साफ प्रकट था कि वह अत्यन्त

क्षीण हो चुके थे परन्तु उनके चेहरे पर पीडा का कोई चिह्न नही था। मैं एक दिन के लिए मद्रास से आया था। उनका हास्य इतना दीप्तिमान था कि उनकी दुर्बलता भी लुप्त हो गयी। अगले दिन दोपहर को वह सभा-भवन मे वापस लौट आये ताकि उनके डिस्पेंसरी मे रहने से अन्य रोगियो को असुविधा न हो।

चिकित्सा-क्षेत्र की सीमाओ से परे एक और अनिवार्यता थी, जिसे श्रीभगवान् अच्छी तरह जानते थे श्रीभगवान जानते थे कि क्या उचित है और वह हमे ढाढ़स बँधाना चाहते थे ताकि हम उनकी शारीरिक मृत्यु को सहन कर सकें। वस्तुत यह लम्बी पीडादायक बीमारी हमे उस अनिवार्य जुदायी के लिए तैयार करने आयी थी, जिसके विषय मे पहले बहुत से व्यक्तियो का यह अनुभव था कि वह उसे सहन नही कर सकेंगे। किट्टी को, जो एक पर्वतीय प्रदेश के बोर्डिंग स्कूल मे थी, श्रीभगवान् की दशा के सम्बन्ध में एक पत्र द्वारा सूचित किया गया। उसने उत्तर मे लिखा, "मुझे यह सब जानकर बहुत दु:ख हुआ परन्तु भगवान् जानते हैं कि हमारे लिए सर्वोत्तम क्या है ?" उसका पत्र भगवान् को दिखाया गया। उनका चेहरा खुशी से चमक उठा। उन्होने उसकी बुद्धिमत्ता की प्रशसा करते हुए कहा कि किट्टी ने लिखा है "हम सबके लिए सर्वोत्तम क्या है" न कि उसके लिए सर्वोत्तम क्या है।

उन्हें उन लोगो पर बहुत दया आती थी जो उनके कष्ट से व्यथित थे और उनके कष्ट को दूर करना चाहते थे। वह कष्ट को दूर करने और कुछ वर्षों के लिए मृत्यु को स्थगित करने का सरल उपाय नही अपनाना चाहते थे। वह तो अपने भक्तो को यह अनुभव करा के कि शरीर भगवान् नही है, आधारभूत उपाय अपनाना चाहते थे। "वह इस शरीर को भगवान् समझते हैं और इस पर कष्ट का आरोपण करते हैं। कितनी दयनीय स्थिति है! वह निराश हैं कि भगवान् उन्हें छोड कर दूर जा रहे हैं—वह कहाँ जा सकते हैं और कैसे जा सकते हैं।"

अगस्त मे आपरेशन के बाद, कुछ सप्ताह तक तो भगवान् की दशा मे सुधार प्रतीत हुआ परन्तु नवम्बर मे कन्धे के निकट, भुजा से ऊपर रसौली फिर निकल आयी। दिसम्बर मे चौथा और अन्तिम आपरेशन हुआ। इससे घाव कभी ठीक नही हुआ। डाक्टरो ने अब यह स्वीकार कर लिया कि वह इससे अधिक और कुछ नही कर सकते। स्थिति अत्यन्त निराशाजनक थी। अगर रसौली फिर निकल आयी तो डाक्टर केवल शमनकारी औषधियाँ ही दे सकते थे।

५ जनवरी, १९५० का जयन्ती थी। उनका ७०वाँ जन्म-दिन मनाने के लिए, जो कि अब उनका प्राय अन्तिम जन्म-दिन प्रतीत होता था, शोकातुर

दर्शनार्थियो की भीड एकत्रित हुई। उन्होने दर्शन दिये और अपनी प्रशस्ति मे रचित अनेक नये गीत सुने। कई गीत स्वय उन्होने भी पढे। नगर से मन्दिर का हाथी आया, उसने उनके सामने मस्तक नवाया और अपनी सूंड से उनके चरण स्पश किये। उत्तर भारत की एक रानी को इस दृश्य का चलचित्र लेने की आज्ञा दी गयी थी। आशका की शोकमयी छाया मे यह समारोह हो रहा था।

बहुत से लोग पहले ही यह अनुभव कर चुके थे कि अब कुछ सप्ताहो या दिनो की वात है। अब जब स्थिति मवथा निराशाजनक घोपित कर दी गयी तो श्रीभगवान् से पूछा गया कि वह स्वय बताएँ कि अब कौन-सा उपचार किया जाये। उन्होने कहा, "क्या मैंने कभी किसी उपचार के लिए कहा है ? आप ही लोग मेरे लिए विभिन्न उपचार बता रहे हैं। इसलिए आप स्वय ही मिल कर यह निणय करें कि अब क्या किया जाना चाहिए। अगर मुझ से पूछा जाता तो मैं सदा यह कहता, जैसा कि मैं शुरू से कहता आ रहा हूँ कि कोई भी उपचार आवश्यक नही है। प्रकृति को अपने मार्ग का अनुसरण करने दो।" केवल इसके बाद होमियोपैथी चिकित्सा की गयी और उसके बाद आयुर्वेदिक चिकित्सा, परन्तु अब बहुत विलम्ब हो चुका था।

जब तक शारीरिक रूप से असम्भव नही हो गया श्रीभगवान् ने अपनी सामान्य दैनिकचर्या जारी रखी। वह सूर्योदय से एक घटा पूर्व स्नान कर लेते थे, निश्चित समयो पर प्रात और साय भक्तो को दशन देने के लिए बैठ जाते, आश्रम का पत्र-व्यवहार देखते और आश्रम के प्रकाशनो के मुद्रण का निरीक्षण करते तथा प्राय अपने सुझाव भी देते थे। जनवरी के बाद वह इतने अधिक दुर्बल हो गये कि सभा-भवन मे बैठ कर दर्शन नही दे सकते थे। सभा-भवन के ठीक पूव मे, सडक के पार एक छोटा स्नानगृह, जिसके साथ एक कोठरी सलग्न थी, बनाया गया और अन्त तक वह वहाँ रहे। बाहर एक तग छोटा बरामदा था जहाँ उनका तख्त रखा गया और अन्त तक तिरुवन्ना-मलाई मे उनकी बीमारी के समाचार से एकत्रित भक्तजन उनका दशन करते रहे। जब तक यह व्यवस्था सम्भव थी, वह इसमे किसी प्रकार की बाधा पसन्द नही करते थे। प्रातकाल और मध्याह्नोत्तर भक्तजन सभा-भवन के बरामदे मे उनके सम्मुख बैठते। बाद मे जब वह बहुत दुबल हो गये तो भक्तजन प्रात और साय उनके कमरे के खुले दरवाजे के सामने से पक्ति बनाकर गुजर जाते थे। एक दिन श्रीभगवान् की स्थिति चिन्ताजनक हो गयी और उनके दर्शन बन्द कर दिये गये। जैसे ही उन्हे इस बात का पता चला उन्होने नाराजगी जाहिर की और दशन जारी रखने का आदेश दिया।

भक्तजन प्रतिदिन उनके स्वास्थ्य लाभ के लिए प्रार्थनाएँ करते और

भक्ति-गीत गाते थे। जब इनकी सार्थकता के सम्बन्ध मे उनसे पूछा गया तो उन्होने हँसते हुए उत्तर दिया, "अच्छे कार्यो मे लगे रहना निश्चित ही वाछनीय है, उन्ह अपना कार्यकलाप जारी रखने दें।"

घाव के ठीक ऊपर फिर रसौली निकल आयी। अब वह कन्धे के निकट निकली थी। इस प्रकार सारी प्रणाली विपाक्त हो गयी थी और शरीर मे भीपण रक्तालपता हो गयी थी। डाक्टरो का कहना था कि भगवान् को भयकर पीडा अनुभव हो रही होगी। वह कोई पौष्टिक भोजन पदार्थ नही ले सकते थे। कभी-कभी वह नीद मे कराहते परन्तु इसके अतिरिक्त पीडा का अन्य काई चिह्न दृष्टिगोचर नही होता था। समय-समय पर उन्ह देखने के लिए मद्रास से डाक्टर आते रहते थे। वह सदा की तरह उनके साथ सौजन्य का व्यवहार करते और उनका यथोचित अतिथि-सत्कार करते। उनका सबसे पहला प्रश्न यह होता था कि क्या उन्होंने भोजन कर लिया है, क्या उनकी देखभाल ठीक ढग से की जा रही है।

उनकी विनोदी प्रकृति पहले जैसी थी। वह रसौली के बारे मे मजाक किया करते थे मानो यह कोई ऐसी वस्तु थी जिसका उनसे कोई सम्बन्ध नही था। एक महिला ने भगवान् की पीडा से व्यथित होकर, कमरे के निकट स्तम्भ पर अपना सिर पीट लिया और वह इस घटना को साश्चर्य देखते हुए कहने लगे, "ओह! मैंने सोचा वह नारियल तोडने की कोशिश कर रही है।"

अपने सेवको तथा अपने परम भक्त डाक्टर टी० एन० कृष्णमाचारी से उन्होंने कहा, "मानव-शरीर केले के पत्ते के समान है, जिस पर सभी प्रकार के स्वादिष्ट भोजन परोसे जाते हैं। क्या भोजन कर चुकने के बाद हम इस पत्ते को सँभाल कर रखते हैं? इसका प्रयोजन पूरा होने के बाद क्या हम इसे फेंक नहीं देते?"

एक अन्य अवसर पर उन्होने अपने भक्तो से कहा, "इस शरीर का जिसे हर बात मे सहायता की आवश्यकता होती है, बोझ कौन उठा सकता है? क्या आप मुझसे आशा करते हैं कि मैं उस शरीर का बोझ उठाऊँगा जिसे उठाने के लिए चार आदमियो की जरूरत पडती है?"

उन्होने और कुछ भक्तो से कहा, "कल्पना करो आप एक लकडी के डिपो पर जाते हैं और लकडियो का एक गट्ठा खरीदते हैं तथा इसे अपने घर तक पहुँचाने के लिए एक कुली करते हैं। जैसे आप कुली के साथ-साथ चलते हैं, आप देखेंगे कि वह अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के लिए अत्यन्त आतुर है ताकि वह बोझ फेंक कर राहत की साँस ले सके। इसी प्रकार ज्ञानी भी अपने भौतिक शरीर का भार उतार फेंकने के लिए चिन्तित होता है।" फिर उन्होंने इस व्याख्या को ठीक करते हुए कहा "जहाँ तक चरितार्थ हो सकती है, यह

व्याख्या ठीक है, परन्तु यह विलकुल ठीक फिर भी नही है। ज्ञानी अपने शरीर के भार से मुक्त होने के लिए चिंतित नही होता, वह शरीर की सत्ता या असत्ता के प्रति एक-सा उदासीन होता है, वह तो इससे परिचित ही नही होता।"

एक वार उन्होंने अपने एक भक्त से मोक्ष की व्याख्या करते हुए कहा था, "क्या आप जानते है कि मोक्ष क्या है ? अस्तित्व शून्य दुःख से छुटकारा पाना और सदा विराजमान परमानन्द की प्राप्ति, यही मोक्ष है।"

अब भी आशा की एक किरण मौजूद थी कि डाक्टरो की असफलता के वावजूद, भगवान् अगर चाहे तो अपनी वीमारी को दूर कर सकते हैं। एक भक्त ने उनसे प्रार्थना की कि वह एक वार अच्छा होने का विचार कर लें क्योंकि यही पर्याप्त है, परन्तु उन्होंने घृणा से उत्तर दिया "कौन ऐसा विचार कर सकता है ?"

उन व्यक्तियो से जिन्होंने उन्हे स्वास्थ्य-कामना के लिए कहा, उनका कहना था, "यह इच्छा कौन करेगा ?" वह 'अन्य' व्यक्ति जो इस विधि-विधान का विरोध कर सकता था, उसका अस्तित्व अब उनमे नही था, यह तो 'अस्तित्व-शून्य पीडा' थी जिससे उन्होंने छुटकारा पा लिया था।

कुछ भक्तो ने उनसे कहा कि वह अपने नही तो उनके ही कल्याण के लिए स्वास्थ्य-लाभ की इच्छा करें। "भगवान के विना हमारा क्या होगा ? हम अपनी देख-भाल स्वय करने के योग्य नही हैं, हम प्रत्येक वस्तु के लिए उनकी अनुकम्पा पर निभर करते हैं।" और उन्होंने उत्तर दिया, "आप इस शरीर को वहुत अधिक महत्त्व देते है।" इससे उनका स्पष्ट अभिप्राय यह था कि इस शरीर के अन्त से उनकी अनुकम्पा और मार्ग दर्शन म कोई व्याघात उपस्थित नही होगा।

उसी स्वर मे उन्होने कहा, "वह कहते हैं कि मैं मर रहा हूँ, परन्तु मैं कही नही जा रहा। मैं जा भी कहाँ सकता हूँ ? मैं यहाँ हूँ।"

एक पारसी भक्त महिला श्रीमती तालेयार खान ने उनसे प्रार्थना की, "भगवन् ! आप यह अपनी वीमारी मुझे दे दें। मैं इसे सहन करूँगी।" उन्होने उत्तर दिया, "और मुझे यह वीमारी किसने दी ?"

तव किसने यह वीमारी उन्हे दी ? क्या यह हमारे कर्म का विप नही था ?

एक स्वीडिश साधु ने स्वप्न मे देखा कि उनकी पीडित वाहु खुल गयी है और वहाँ उसे एक महिला का सिर दिखायी दिया जिसके सफेद वाल विखरे हुए थे। भक्तो ने इस स्वप्न की यह व्याख्या की कि यह उनकी माता का कर्म था जिसे उन्होंने माता को मोक्ष देते समय अपने पर आरोपित कर लिया

था। परन्तु दूसरो का कहना था कि यह महिला सारी मानव-जाति या स्वय माया का प्रतीक है।

१३ अप्रैल वृहस्पतिवार को एक डाक्टर श्रीभगवान् के लिए एक शामक औषधि लाये ताकि फेफडो मे जो रक्त जमा हो गया था, वह ठीक से प्रवाहित होने लगे, परन्तु उन्होने इन्कार कर दिया। "यह आवश्यक नही है? दो दिन मे सब कुछ ठीक हो जायेगा।"

उस रात उन्होंने अपने भक्त सेवको से कहा कि वह जाकर सो रहे या चिन्तन करें और उन्हें अकेला छोड दें।

शुक्रवार को डाक्टरो और सेवको को यह पता चल गया कि आज अन्तिम दिन है। प्रातःकाल फिर भगवान् ने उनसे जाने और चिंतन करने के लिए कहा। दोपहर के समय, जब उनके लिए तरल खाद्य पदार्थ लाया गया उन्होंने सदा की भाँति समय पूछा, और इसके साथ ही कहा, "परन्तु अब से समय का कोई अभिप्राय नही है।"

दीघकालीन सेवाओ के लिए सेवको के प्रति आभार प्रकट करते हुए उन्होने कहा, "अंग्रेज लोग 'थैंक्स' शब्द का प्रयोग करते हैं परन्तु हम केवल सतोषम् ही कहते हैं।"

प्रातःकाल शोक और आशका से मौन दर्शनार्थियो की लम्बी कतार मुक्त द्वार के सामने से गुजरती रही। इस प्रकार सायकाल के पाँच बज गये। भगवान् का रोग-जजरित शरीर मुरझा गया था, पसलियाँ बाहर निकल आयी थी, त्वचा काली पड गयी थी। पीडा का यह दयनीय सकेत था। परन्तु इन अन्तिम कुछ दिनो मे, उन्होने प्रत्येक भक्त को अत्यन्त भावभरी आत्मीयता की दृष्टि से देखा और उसने ऐसा अनुभव किया कि यह भगवान् का विदायी का प्रसाद है।

उस सायकाल दर्शन के बाद भक्तजन अपने घरो मे नही गये। आशका के कारण वह वही रहे। लगभग सूर्यास्त के समय श्रीभगवान् ने सेवको से कहा कि वह उन्हें सीधा बैठा दें। वह यह जानते थे कि भगवान् का प्रत्येक आन्दोलन, प्रत्येक स्पर्श पीडामय था, परन्तु उन्होने उनसे कह दिया था कि वह इसकी तनिक भी चिन्ता न करें। वह बैठ गये और एक सेवक उनके सिर को सहारा दिये रहा। एक डाक्टर ने उन्हे आक्सीजन देना शुरू किया, परन्तु अपने दाहिने हाथ के इशारे से उन्होंने उसे दूर हटा दिया। उस छोटे से कमरे मे डाक्टर और सेवक सब मिला कर लगभग एक दजन व्यक्ति थे।

दो सेवक भगवान् को पखा कर रहे थे और बाहर खडे भक्तजन खिडकी मे हिलते हुए पखो को निर्निमेष नेत्रो से देख रहे थे। यह इस बात का सकेत था कि अब भी भगवान् मे प्राण शेष हैं। एक प्रसिद्ध अमरीकी पत्रिका का

एक रिपोर्टर अशान्त भाव से इधर-उधर चल रहा था, और अत्यन्त प्रयास करने के बावजूद वह अपने को अत्यन्त बेचैन अनुभव कर रहा था। उसने यह निश्चय किया कि जब तक वह तिरुवन्नामलाई से परे, सामान्य परिस्थितियो मे नही पहुँच जायेगा, वह अपनी कहानी नही लिखेगा। उसके साथ एक फ्रासीसी प्रेस-फोटोग्राफर था।

अप्रत्याशित रूप से, सभा-भवन के बाहर, बरामदे पर बैठे हुए भक्तो के एक दल ने 'अरुणाचल शिव' गाना शुरू किया। इसे सुनते ही श्रीभगवान् की आँखे खुली और उनमे चमक आयी। अवर्णनीय माधुर्य मिश्रित हास्य उनके मुखमण्डल पर फैल गया। उनके नेत्रो मे आनन्दाश्रु बहने लगे। उन्होंने एक गहरा श्वास लिया, उसके बाद फिर श्वास नही आया। कोई संघर्ष नही था, कोई अंग-सकोच नही था, मृत्यु का अन्य कोई संकेत नही था। केवल अगला श्वास नही आया।

कुछ क्षणो तक लोग स्तब्ध खडे देखते रहे। भजन जारी रहे। फ्रासीसी प्रेस फोटोग्राफर मेरे पास आया और उसने मुझ से श्रीभगवान् की मृत्यु का बिलकुल ठीक-ठीक समय बताने के लिए कहा। इसे सम्पादकीय निर्दयता समझते हुए मैंने अशिष्टता से उत्तर दिया कि मैं नही जानता। फिर एकाएक मुझे श्रीभगवान की अक्षय शिष्टता का स्मरण हो आया और मैंने उससे कहा कि उस समय ८-४७ बजे थे। प्रेस फोटोग्राफर ने अत्यन्त आवेश के साथ कहा "मैं बाहर सडक पर चल रहा था और उसी समय एक बडा तारा धीरे-धीरे आसमान से टूटता हुआ मुझे दिखायी दिया था। सुदूर मद्रास तक, बहुत से लोगो ने इस तारे को देखा था और उनके मन मे यह भाव उठा था कि यह किसी अनिष्ट का सूचक है। यह तारा अरुणाचल के शिखर की ओर उत्तर-पूर्व मे चला गया था।"

इस प्रथम स्तब्धता के उपरान्त शोक-समुद्र फूट पडा। भगवान् के शरीर को बैठी हुई मुद्रा मे बरामदे मे लाया गया। भगवान् के दर्शनो के लिए महिलाएँ और पुरुष बरामदे के कटहरे के पास आ गये। एक महिला मूर्च्छित हो गयी। दूसरे लोग सिसकियाँ भर रहे थे।

मालाओ से आवृत शरीर को सभा-भवन मे एक तख्त पर रख दिया गया और भक्तजन इसके चारो ओर बैठ गये। लोगो को आशा थी कि भगवान का चेहरा समाधि मे प्रस्तर सदृश होगा, परन्तु इस पर वेदना की रेखाएँ अंकित थी और इसे देख कर हृदय सहसा द्रवित हो उठता था। रात को धीरे-धीरे इस पर रहस्यात्मकता का आवरण चढता गया।

रात भर भक्तजन विशाल सभा-मण्डप मे बैठे रहे और नगर-निवासीजन भय तथा सम्मान-मिश्रित मौन मे वहाँ से गुजरते रहे। 'अरुणाचल शिव' का

गान करते हुए जलूस नगर से आते और जाते रहे। सभा-भवन में कुछ भक्तजन प्रशस्ति और दुःख के गीत गाते रहे, दूसरे मौन भाव से बैठे रहे। सर्वाधिक विचारणीय मनुष्यों का शोक नहीं अपितु इसके अन्तर्हित शान्ति थी। ये ऐसे पुरुष और महिलाएँ थीं जो उस महापुरुष को खो बैठे थे जिसकी अनुकम्पा ही उनके जीवन का एक मात्र अवलम्ब थी। उस प्रथम रात्रि को और उसके बाद के दिनों में यह सर्वथा स्पष्ट हो गया था कि भगवान् के शब्द कितने प्रेरणाप्रद थे "मैं दूर नहीं जा रहा हूँ। मैं जा ही कहाँ सकता हूँ? मैं यहाँ हूँ।" 'यहाँ' शब्द में कोई सीमा अभिप्रेत नहीं है बल्कि इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा है, वह अमर है, अपरिवर्तनशील है, विश्वव्यापी है। जैसे-जैसे भक्तों ने भगवान् की अपने हृदय में तथा तिरुवन्नामलाई में निरन्तर, दिव्य उपस्थिति को अनुभव किया उन्होंने इसे भगवान् के प्रेम और भावनामय वचन की पूर्ति समझा।

उस जागरण-रात्रि को भगवान् के अन्तिम संस्कार के सम्बन्ध में निर्णय किया गया। कई लोगों का विचार था कि शरीर नये भवन में दफना दिया जाये, परन्तु बहुत से भक्तों ने इस विचार का विरोध किया। उन्होंने ऐसा अनुभव किया कि सभा-भवन मन्दिर का ही भाग था, इससे श्रीभगवान् का स्मारक माता के स्मारक में गौण हो जायेगा। अगले दिन, सर्वसम्मति से एक गढा खोदा गया और शरीर को पुराने सभा-भवन तथा मन्दिर के मध्यवर्ती स्थान में दफना दिया गया। मौन शोक सागर में निमग्न जन-समूह ने यह सब अपनी आँखों से देखा। अब वह प्यारा चेहरा दिखाई नहीं देगा, अब भगवान् की वह मधुर आवाज सुनाई नहीं देगी। स्मारक पर शिव का प्रतीक रूप चिकने कृष्ण वर्ण पत्थर का लिंग बाह्य चिह्न के रूप में विद्यमान था और हृदय में उनके चरण-चिह्न थे।

अठारहवाँ अध्याय

सतत उपस्थिति

भीड छँट गयी और आश्रम वीरान लगने लगा जैसे किसी अँगीठी की आग बुझ गयी हो। परन्तु आश्रम मे शोक और निराशा का भाव नही था जैसा कि प्राय पृथ्वी से आध्यात्मिक शिक्षक के प्रयाण के उपरान्त होता है। आश्रम का वातावरण अब भी सामान्य था। यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगा कि श्रीभगवान् ने किस दत्तचित्तता और दया से अपने भक्तो को इसके लिए तैयार किया था तथापि विछोह उन के प्रारम्भिक दिनो मे किसी ने भी तिरुवण्णामलाई मे न रहना चाहा और जिन्हे वहाँ रहना चाहिए था वे भी वहाँ नही रहे।

कई कर्मशील भक्तो ने आश्रम के प्रवन्ध के लिए एक समिति बना ली। निरजनानन्द स्वामी ने उनके साथ काय करना स्वीकार कर लिया और उन्होंने भी उन्हे समिति का स्थायी सभापति बनाना मान लिया। अन्य भक्तो ने अपने नगरो मे सभाएँ बना ली और वह नियमित बैठकें करने लगे।

दुर्भाग्यवश, कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जिन्होंने गडबडी पैदा की या प्रसिद्धि प्राप्त करने की कोशिश की, जब कोई आध्यात्मिक शिक्षक इस ससार मे विदा होता है तब सदा ऐसा होता है। परन्तु ऐसे लोगो की सख्या बहुत कम थी। अधिकाश भक्त सयत रहे।

बहुत साल पहले एक वसीयतनामा तैयार किया गया था। इसमे यह लिखा गया था कि भगवान् के देहावसान के बाद आश्रम का प्रबन्ध किस प्रकार चलाया जायेगा। कुछ भक्त इस वसीयतनामे को श्रीभगवान् के पास ले गये थे। उन्होने इस सारे वसीयतनामे को ध्यान मे पढा था और अपनी स्वीकृति दी थी। इसके बाद उन सब भक्तो ने इस पर साक्षी के रूप मे हस्ताक्षर किये थे। सक्षेपत इसमे यह लिखा था कि भगवान् तथा माता के स्मारक पर प्रतिदिन पूजा की जायेगी। निरजनानन्द स्वामी के पुत्र के परिवार को आर्थिक सहायता दी जायेगी और तिरुवण्णामलाई आध्यात्मिक केन्द्र बना रहेगा। बाद मे इसमे कई लोगो ने दूसरा वसीयतनामा बनाने के प्रयत्न किये परन्तु श्रीभगवान् ने इस पर कभी विचार नहीं किया।

तीसरी चीज है श्रीभगवान् की महान् थाती और दायित्व। भक्तजन अपनी प्रकृति और योग्यता के अनुरूप इसमे योगदान कर रहे है। कई भक्त ऐसे है जो अब मौन चिन्तन मे बैठने के अतिरिक्त कुछ नही करते या जो सात्वना प्राप्त करने और अपने हृदय की भक्ति तथा अनुराग प्रकट करने के लिए आश्रम आते हैं। वह उस शिक्षक के शिष्य हैं जिसने कहा था, "भाषणो से व्यक्तियो का मनोरजन हो सकता है सुधार तो नही। दूसरी ओर मौन स्थायी होता है और समस्त मानव जाति को लाभ पहुँचाता है। यद्यपि उनका चिन्तन भगवान् के महान् आध्यात्मिक मौन के समकक्ष नही था, तथापि यह न केवल उनकी अनुकम्पा को ग्रहण करता है बल्कि उसका प्रसार करता है और इसका प्रभाव अवश्य होगा। अगर कई व्यक्ति मिल कर पूजा करते हैं या चिन्तन करते है तो उसका प्रभाव सामूहिक होता है।

दूसरे लोग भाषण या लेखन द्वारा ऐसी दिलचस्पी पैदा करना चाहते है जो प्रज्ञा मे पुष्पित हो सकती है। बाह्य गतिविधियों मे दिलचस्पी प्रदर्शित करने वाले व्यक्तियो पर सगठन का दायित्व है। यह भी एक साधना है और भगवान् को यह तभी स्वीकार है जब इसे साधना रूप मे किया जाये। वह एक चिन्तन भवन का निर्माण करना चाहते हैं। इस समय मन्दिर और पुराने सभा-भवन के बीच एक प्रस्तर का स्मारक है, जिस पर लिंग का चिह्न है। इसके ऊपर ताड के पत्तो की छत बनी हुई है।

सर्वत्र श्रीभगवान् की उपस्थिति को लोग अनुभव करते हैं, परन्तु फिर भी वातावरण पहले से भिन्न है। पहले की तरह स्मारक के समक्ष प्रात और साय वेदमन्त्रो का पाठ होता है। जब भक्तजन वहाँ चिन्तन मे बैठते हैं तब वैसा ही वातावरण होता है जैसा कि सभा-भवन मे भगवान् के सम्मुख बैठने पर होता था। वही शक्ति है और वही भगवान् का सूक्ष्म मार्ग दर्शन है। वेदमन्त्रो के पाठ के समय स्मारक पर पूजा की जाती है और भगवान् के १०८ नामो का पाठ किया जाता है। परन्तु पुराने सभा-भवन मे इससे मृदुलतर वातावरण है, ऐसा लगता है यह भगवान् के चिर निवास के सानिध्य से अनुप्राणित है। महासमाधि के कुछ महीने बाद, इस सभा-भवन को आग से क्षति पहुँची थी परन्तु सौभाग्यवश इसका विनाश नही हुआ था।

वह छोटा कक्ष भी विद्यमान है जहाँ श्रीभगवान् के अन्तिम दिन गुजरे थे। उस कक्ष मे एक बडा चित्र टगा हुआ है। ऐसा लगता है जैसे यह जीवित चित्र हो और भक्तो की भक्ति भावना का प्रत्युत्तर दे रहा हो। यहाँ वे विभिन्न वस्तुएँ रखी गयी हैं जिनका श्रीभगवान् ने प्रयोग या स्पर्श किया— उनका दण्ड और कमण्डलु, मोर के पंख का पखा, घूमने वाली पुस्तकों की अलमारी तथा अन्य बहुत-सी छोटी-छोटी वस्तुएँ। नम्र अब सदा के लिए

रिक्त पडा है। कक्ष मे कोई ऐसी चीज है जो अत्यन्त हृदय-स्पर्शी है और अकथनीय रूप से अनुकम्पामय है।

नये सभा-भवन मे श्रीभगवान् की एक मूर्ति प्रतिष्ठापित की गयी। वसीयतनामे की एक शत यह भी थी भगवान् की मूर्ति की स्थापना की जायेगी परन्तु अभी तक कोई भी मूर्तिकार भगवान् की पूर्ण मूर्ति नही बना पाया। उसे श्रीभगवान् की रहस्यमयी शक्ति का अनुभव करना होगा और उससे प्रेरणा प्राप्त करनी होगी। यह मानवीय अगो को रूप प्रदान करने का नही अपितु उनमे दीप्तिमान दिव्य शक्ति और सौन्दय को मूर्त रूप देने का प्रश्न है।

न केवल आश्रम के भवन वल्कि चारो ओर का प्रतिवेश पवित्र है। वहाँ सवत्र शान्ति का साम्राज्य है। यह निष्क्रिय शान्ति नही है वल्कि एक तरगित आनन्द-भावना है। समस्त वायुमण्डल भगवान् की उपस्थिति से अनुप्राणित है।

यह सत्य है कि श्रीभगवान् की उपस्थिति तिरुवन्नामलाई तक ही सीमित नही है। ऐसा कभी था भी नही। भक्तजन जहाँ भी हो, वहाँ उन्हे भगवान् की अनुकम्पा और सहायता, तथा उनकी आन्तरिक उपस्थिति उपलब्ध है, यह पहले से भी अधिक प्रभावशालिनी है। पहले की तरह अव भी तिरुवन्नामलाई की यात्रा से भक्तो को अनुपम शान्ति मिलती है। इसका सौन्दय वर्णनातीत है।

पृथ्वी पर ऐसे सन्त हुए ह जिन्होने अपने भक्तो के पुन पुन मागदर्शन के लिए अनेक जन्म धारण करने का वचन दिया है। परन्तु श्रीभगवान् पूर्ण ज्ञानी थे, उनमे अह का लेशमात्र भी नही जो पुनजन्म का सकेत करे। भक्त-जन इसे समझते थे। उनका वचन तो विलकुल भिन्न था। "मैं जा नही रहा हूँ। मैं जा भी कहाँ सकता हूँ ? मैं यही हूँ।" उन्होने यह नही कहा कि "मैं यहाँ रहूँगा।" वल्कि "मैं यहाँ हूँ।" ज्ञानी के लिए कोई परिवर्तन नही होता, कोई समय नही होता, भूत और भविष्य का कोई अन्तर नही होता, कोई गमन नही होता, केवल शाश्वत 'अव' होता है जिसमे समस्त समय विद्यमान है—विश्वव्यापी अवकाशशून्य 'यहाँ'। श्रीभगवान् सदा अपनी सतत निर्वाध उपस्थिति और निरन्तर माग-दर्शन पर वल देते थे। वहुत पहले उन्होंने शिव प्रकाशम् पिल्लई से कहा था, "जिसने गुरु की अनुकम्पा प्राप्त कर ली निश्चय ही गुरु उसकी रक्षा करेंगे और कभी भी उसका परित्याग नहीं करेंगे।" भगवान् की अन्तिम वीमारी के दौरान मे जव भक्तो ने उनसे कहा कि ऐसा लगता है कि वे उन्ह छोडकर जा रहे ह और उन्होने अपनी दुवलता अभिव्यक्त की तथा भगवान् की निरन्तर उपस्थिति की आवश्यकता वतलाई,

तब उन्होंने व्यग्य करते हुए कहा, "आप शरीर को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं।" भक्तो को शीघ्र ही ज्ञात हो गया कि भगवान् के उपरोक्त कथन मे सचाई है। वे हमारे पहले की अपेक्षा कही अधिक आन्तरिक गुरु बन चुके हैं। जो लोग उन पर निर्भर करते थे, वे उनके मार्गदर्शन को अब अधिक सक्रिय और अधिक प्रभावशाली रूप मे अनुभव करते है। उनके विचार उन पर अधिक स्थिरता से केंद्रित हैं। आन्तरिक गुरु की ओर ले जाने वाला विचार सरलतर और अधिक ग्रहणीय हो गया है। चिन्तन मे तत्काल ही अनुकम्पा का स्रोत प्रवाहित होता है। अच्छे और बुरे कार्यों का अप्रत्यक्ष प्रभाव अधिक तीक्ष्ण और प्रबल होता है।

विछोह के प्रथम आघात के उपरान्त भक्तजन फिर तिरुवन्नामलाई की ओर आकर्षित होने लगे। केवल अन्तर्मुखी प्रकृति के व्यक्ति ही भगवान् की निरन्तर उपस्थिति अनुभव नही करते। भगवान् के एक भक्त डा० टी० एन० कृष्णस्वामी का ऐसा विश्वास था कि वे केवल वैयक्तिक प्रेम और भक्ति के कारण ही उनके प्रति अनुरक्त हैं। उन्होने महासमाधि के बाद शोकातुर स्वर मे कहा था, "मुझ जैसे लोगो का तो मानो सर्वस्व ही लुट गया।" कुछ महीने बाद तिरुवन्नामलाई की यात्रा से वापस आने के बाद उन्होंने कहा था, "पहले दिनो मे भी वहाँ कभी इतनी शान्ति और सौन्दर्य नही था जितना आज है।" केवल अन्तर्मुखी प्रकृति के व्यक्ति ही उनके निरन्तर आन्तरिक मार्गदर्शन को अनुभव नही करते, यह भक्ति के प्रति तात्कालिक प्रतिक्रिया है।

अरुणाचल पहाडी का रहस्य भी अब अधिक अभिगम्य हो गया है। पहले बहुत से व्यक्ति ऐसे थे जो इसकी शक्ति को लेशमात्र भी अनुभव नही करते थे, उनके लिए यह किसी अन्य पहाडी के समान ही पत्थर, मिट्टी और झाडियों की पहाडी थी। एक बार का जिक्र है श्रीमती तालेयार खान जो भगवान् की भक्त थी और जिनका पहले अध्याय मे वर्णन किया गया है, अपने एक अतिथि के साथ पहाडी पर बैठी हुई श्रीभगवान् के सम्बन्ध मे बातें कर रही थी। उन्होंने कहा, "भगवान् जीवित जाग्रत प्रभु है और वे हमारी सब प्रार्थनाओ का उत्तर देते हैं। मेरा यह निजी अनुभव है। भगवान् कहते हैं कि यह पहाडी स्वय भगवान् है। मैं यह सब नही समझ सकती परन्तु भगवान् ऐसा कहते हैं। इसलिए मैं इस पर विश्वास करती हूँ।" उनके मुस्लिम मित्र ने जिन पर अब भी फारसी संस्कृति की परम्पराओ की छाप शेष थी, उत्तर दिया, "अगर हमारे फारसी विश्वासो के अनुसार अभी वर्षा हो गयी तो मैं इसे सत्य मान लूँगा।" थोडी देर बाद ही वर्षा होने लगी और वे यह कहानी बताने के लिए भीगते हुए पहाडी से नीचे आये।

परन्तु उस समय से जब भगवान् की आत्मा ने देह छोडा और एक चमकीला तारा टूटता हुआ पहाडी की ओर गया, भक्तो ने प्रत्यक्षत यह अनुभव किया है कि यह पवित्र भूमि है, उन्होने इसमे भगवान् के रहस्य को अनुभव किया है।

प्राचीन परम्परा के अनुसार अरुणाचल पहाडी भक्तो की कामनाओ की पूर्ति करने वाली है और शताब्दियो से तीर्थयात्री मनोकामनाओ की पूर्ति के लिए इसकी शरण मे गये है। परन्तु जो लोग इसकी शान्ति को अधिक गहराई से अनुभव करते है, वे कोई कामना नही करते क्योकि अरुणाचल का मार्ग भगवान् का मार्ग है, जो व्यक्ति को कामनामुक्त कर देता है और यही सबसे बडी उपलब्धि है।

> "जब मैं तुझे साकार समझ कर तेरे निकट आता हू, तू पृथ्वी पर पहाडी के रूप मे विराजमान रहती है। जो व्यक्ति तेरे रूप को निराकार रूप मे खोजता है, उस व्यक्ति के समान है जो इस पृथ्वी पर निराकार आकाश की खोज मे यात्रा कर रहा है। तेरी प्रकृति पर विचारशून्य होकर ध्यान केन्द्रित करना अपने को उस खांड की गुडिया के समान विस्मृत कर देना है जो समुद्र मे डुबोए जाने पर इसमे विलीन हो जाती है। जब मुझे यह ज्ञान हो जाता है कि मैं कौन हूँ, तेरे सिवा और कौन मुझमे हो सकता है। ओह! तू अरुणाचल पहाडी के रूप मे विद्यमान है।
>
> **(एट स्टैंजाज ऑन श्री अरुणाचल मे)**

केवल वही व्यक्ति ही नही, जो पहले यहाँ आये है और जिन्होने श्रीभगवान् के सौन्दर्य को शारीरिक रूप मे देखा है उनके आकर्षण को अनुभव करते है। उनका सौभाग्य तो अकल्पनीय है, परन्तु अन्य व्यक्ति भी उनकी ओर, अरुणाचल की ओर आकर्षित होते है।

और भक्तजन भी आयेंगे। उत्तर भारत की एक विख्यात महिला सन्त आनन्दमयी माँ भगवान् के स्मारक पर आयी। अपने लिए विशेष रूप से तैयार किये गये प्रतिष्ठित स्थान पर बैठने से इन्कार करते हुए वे कहने लगी, "यह सब आडम्बर क्यो? मैं अपने पिता के प्रति श्रद्धाजलि अर्पित करने आई हूँ, मैं भी दूसरो के साथ भूमि पर बैठूंगी।" श्रीमती तालेयारखान ने जब एक दक्षिण भारतीय महिला सन्त से अपने तथा अन्य जीवित भक्तो के सम्बन्ध मे पूछा तो उन्होने उत्तर दिया, "वे सूर्य थे और हम उसकी किरणे है।" ईसा की कहानी तो क्रास पर खत्म हो गयी थी, परन्तु यह कहानी समाप्त नही हुई। वस्तुत यह कोई नवीन धर्म नही है, जिसका उदघाटन श्रीभगवान् ने इस पृथ्वी पर किया। प्रत्येक देश और धर्म के लोगो के लिए जो इस

आध्यात्मिक अन्धकार के युग मे ऊँचे उठना चाहते ह, यह एक नयी आशा है, नया मार्ग है। यह केवल उनके जीवन-काल तक ही सीमित नही था। जो लोग यह आशका प्रकट करते थे कि उनकी मृत्यु के साथ उनका मार्गदर्शन समाप्त हो जायगा, उनसे उन्होंने व्यग्यपूर्वक कहा था, "आप इस शरीर को बहुत महत्त्व देते हैं।" पहले की तरह अब भी भगवान् उसका मार्गदर्शन करते हैं जो उनके निकट पहुँचता है और जो कोई उनके प्रति समर्पण करता है, वे उसकी सहायता करते हैं। उन सब व्यक्तियो के लिए जो खोज कर रहे हैं, वे यही विराजमान हैं।